UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182269

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81 M167M

Accession No. P.G.H 6511

Author चन्द्र आचार्य दुर्गा शंकर

Title मैथिली शरण गुप्त और द्विवेद

This book should be returned on or before the date last marked below.

थिलीशरण गुप्त और द्वापर

आलोचनात्मक अध्ययन

•

लेखक
डॉ० आचार्य दुर्गाशंकर मिश्र
एम० ए०, पी-एच० डी०

•

५७२

नवीन संशोधित संस्करण

•

प्रकाशन केन्द्र, न्यू बिल्डिंग्स, अमीनाबाद, लखनऊ

"मैथिलीशरण जी हिन्दी के इस युग के पहले कवि हैं जिन्होंने कविता को ज्योति समय, समाज और आत्मा के भीतर देखी है, जिन्होंने नयी काव्य-धारा की अबाध गति से हिन्दी समाज को अभिसिंचित किया है।"

—नन्ददुलारे बाजपेयी

- प्रकाशक : प्रकाशन केन्द्र, न्यू बिल्डिंग्स, अमीनाबाद, लखनऊ
- मूल्य : दस रुपये पचास पैसे (रु० १०.५०) मात्र

भूमिका

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त प्रणीत 'द्वापर' हिन्दी का बहुचर्चित काव्य है। यद्यपि गुप्त जी ने श्रीमद्भागवत को इसका मुख्य आधार बनाया है किन्तु उन्होंने उसमें मौलिकता का पुट देकर उसे श्रेष्ठ काव्य की पंक्ति में ला बैठाया है।

'द्वापर' की पृष्ठभूमि में कृष्ण-कथा की सतत् प्रवहमान काव्य-धारा रही है और बिना गहन चिन्तन एवं मनन के वह सहज बुद्धि बोध्य नहीं; अतएव प्रस्तुत कृति की रचना करनी पड़ी है। ग्रन्थ-प्रणयन के समय संस्कृत एवं हिन्दी की कृष्ण-कथा को भी तुलनात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रश्नोत्तर शैली में की गयी इस प्रकार की विषद आलोचना विद्यार्थियों को लाभप्रद सिद्ध होगी। साथ ही विषाद साथ ही व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की गयी है कि विद्यार्थियों का 'द्वापर' मर्म समझने में कोई कठिनाई न हो।

पंण्डित पद्मधर मालवीय, संचालक प्रकाशन केन्द्र, अमीनाबाद, लखनऊ का आभार किन शब्दों में व्यक्त करूँ क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रेरणा तो वे ही हैं।

—लेखक

प्रश्न-सूची

क्रम		पृष्ठ संख्या
१.	राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की काव्यकला की विशेषताओं का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिये।	१-२३
२.	खड़ी बोली हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त के योगदान पर प्रकाश डालते हुए आधुनिक काव्य-क्षेत्र में उनका स्थान निर्धारित कीजिए।	१-२३
३.	"श्री गुप्त का काव्य परिणाम और विविधता दोनों में ही अतिशय दीर्घ और व्यापक है।" इस कथन की सार्थकता प्रमाणित करते हुए श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्य-कृतित्व का सामान्य परिचय दीजिये।	१-२३
४.	"परन्तु जिस परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गई है वह लेखक के जीवन में बहुत ही संकल्प-विकल्पपूर्ण रही। क्या जाने इसी कारण से·····यह भी द्वापर—संदेह की ही बात है।" गुप्तजी के इस कथन के आधार पर द्वापर काव्य की सृजन-प्रेरणा और मूल स्रोत का उल्लेख कीजिए।	२३-३१
५.	द्वापर काव्य के लिखने में कवि का क्या उद्देश्य है।	२३-३१
६.	द्वापर काव्य की प्रेरणा और विषय-वस्तु के मूल स्रोत पर प्रकाश डालिए।	२३-३१
७.	नामकरण और शीर्षक की उपयुक्तता की दृष्टि से द्वापर की समीक्षा कीजिए।	३१-३८
८.	"जिस परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गई है वह लेखक के जीवन में बहुत ही संकल्प-विकल्पपूर्ण रही। क्या जाने इसी कारण से यह नाम आ गया अथवा अन्य किसी कारण से। यह भी द्वापर—संदेह की ही बात है।" श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के इस कथन को ध्यान में रखते हुए 'द्वापर' काव्य के नामकरण और शीर्षक की उपयुक्तता पर विचार कीजिए।	३१-३८

९. 'द्वापर का कथानक और उसकी विशेषताएँ' शीर्षक एक संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित निबन्ध लिखिए। ३८-५२

१०. संक्षेप में द्वापर की कथावस्तु देकर उसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। ३८-५२

११. आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं कि "द्वापर के कथानक निर्माण में कवि ने समय और साधना से काम लिया है।" ३८-५२

१२. "कथानक की दृष्टि से इस काव्य का कोई विशेष महत्व नहीं है।" द्वापर को ध्यान में रखते हुए इस कथन का खंडन अथवा मंडन कीजिए। ३८-५२

१३. इस कथन का सोदाहरण विवेचन कीजिए कि "द्वापर में कथा की एकसूत्रता के स्थान पर अनेक मनोभावों का विविध रूप में वर्णन मिलता है।" ३८-५२

१४. पात्र और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से द्वापर काव्य का मूल्यांकन कीजिए। ५२-५७

१५. द्वापर के चरित्र-चित्रण की विशेषताओं का सोदाहरण विवेचन कीजिए। ५२-५७

१६. इस कथन का खंडन अथवा मंडन कीजिए कि "द्वापर का कवि चरित्र-चित्रण में सफल नहीं रहा।" ५२-५७

१७. "द्वापर में पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय कवि ने मनोवैज्ञानिकता पर भी ध्यान रखा है।" उदाहरण-सहित इस कथन की सार्थकता प्रमाणित कीजिए। ५२-५७

१८. द्वापर के आधार पर कृष्ण का चरित्र-चित्रण कीजिए। ५७-६६

१९. आपकी दृष्टि में द्वापर काव्य का नायक कौन है। अपने मत की पुष्टि में उदाहरण दीजिए। ५७-६६

२०. द्वापर के कवि की कृष्ण-भावना पर प्रकाश डालिए। ५७-६६

२१. कृष्ण-चरित्र का विकास दिखाते हुए द्वापर के श्रीकृष्ण की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। ५७-६६

२२. इस कथन की सार्थकता प्रमाणित कीजिए कि "द्वापर के केन्द्रवर्ती चरित्र कृष्ण ही हैं।" ५७-६६
२३. द्वापर के आधार पर राधा का चरित्र-चित्रण कीजिए। ६६-७२
२४. "विद्यापति की राधा उन्मादमयी विलासवती प्रगल्भा है सूर की राधा ग्वालिनी भी है, व्रजरानी भी, किन्तु द्वापर की राधा कृष्ण की मुग्धा बनी हुई अपने को भूलकर कृष्णमग्न हो रही है।" इस कथन को ध्यान में रखते हुए द्वापर के आधार पर राधा के चरित्र की विशेषताएँ बताइए। ६६-७२
२५. इस कथन का सोदाहरण विवेचन कीजिए कि "राधा के रूप में प्रेमाभक्ति को जीवित प्रतिमा द्वापर में प्रस्तुत की गई है।" ६६-७२
२६. द्वापर के आधार पर यशोदा का चरित्र-चित्रण कीजिए। ७३-७६
२७. इस कथन का सोदाहरण विवेचन कीजिए कि "द्वापर की यशोदा उल्लास और आनंद से तृप्त ईश्वर के आशीर्वाद के समान है।" ७३-७६
२८. इस कथन की तर्क-संगत समीक्षा कीजिये कि "द्वापर में विधृता एक विशिष्ट चरित्र है।" ७६-८४
२९. गुप्तजी के काव्य में नारी-चित्रण पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए द्वापर का विधृता का चरित्र-चित्रण कीजिए। ७६-८४
३०. "द्वापर की नारी कवि की उपेक्षिता नहीं, पुरुष के द्वारा निरादृता है, परित्यक्ता है और परपीड़िता है। नारी के इसी रूप का गुप्तजी ने द्वापर में स्थान दिया है।" गुप्तजी के काव्य में नारी के महत्व का प्रतिपादन करते हुए उक्त कथन के आधार पर विधृता के चरित्र का वर्णन कीजिए? ७६-८४
३१. "द्वापर में विधृता के रूप में नारी को दयनीय मूर्ति उपस्थित हुई है।" इस कथन का सोदाहरण विवेचन कीजिए? ७७-८४
३२. "गुप्तजी ने द्वापर में—
(१) हाय वधू ने क्या वर विषयक एक वासना पाई।

(२) कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या अर्द्धांगिनी तुम्हारी, आदि नारी मनोविज्ञान (Sex Psychology) के प्रश्नों का समाधान किया है ।" इस कथन को तर्कसंगत विवेचना कीजिए । ७७-८४

३३. द्वापर के आधार पर बलराम का चरित्र-चित्रण करते हुए सिद्ध कीजिए कि कवि ने उन्हें आधुनिक नेता के रूप में प्रस्तुत किया है । ८४-८८

३४. "द्वापर में प्राचीन भावों के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए कवि ने आर्य धर्म को मानने व नवयुग की सृष्टि का परामर्श दिया है ।" इस कथन को ध्यान में रखते हुए 'द्वापर' के एक उल्लेखनीय पात्र बलराम की चारित्रिक विशिष्टताओं का सोदाहरण विवेचन कीजिए । ८४-८८

३५. द्वापर के आधार पर ग्वाल-बाल का चरित्र-चित्रण कीजिए । ८८-८९

३६. इस कथन की सोदाहरण समीक्षा कीजिए कि "ग्वाल-बाल कृष्ण को अपने त्राता के रूप में स्मरण करते हुए आंनदोल्लास से भर जाते हैं ।" ८८-८९

३७. द्वापर के आधार पर नारद का चरित्र-चित्रण करते हुए सिद्ध कीजिए कि वह क्रांति के उपासक और शांति के विरोधी हैं । ८९-९५

३८. द्वापर के आधार पर देवकी का चरित्र-चित्रण कीजिए । ८९-९५

३९. द्वापर के आधार पर उग्रसेन का चरित्र-चित्रण कीजिए । ९५-९८

४०. इस कथन की सोदाहरण समीक्षा कीजिए कि "द्वापर के उग्रसेन पुत्र कंस के कार्यों से दुखी होकर भी क्षमा, उदारता और वात्सल्य से पूर्ण हैं ।" ९५-९८

४१. द्वापर के आधार पर कंस का चरित्र-चित्रण कीजिए । ९८-१०१

४२. कंस के चरित्र का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट कीजिए कि द्वापर में उसका चरित्र साम्राज्यवाद का प्रतीक है । ९८-१०१

४३. द्वापर के आधार पर अक्रूर का चरित्र-चित्रण कीजिए । १०१-१०३

४४. द्वापर के आधार पर नंद की चारित्रिक विशिष्टताओं का परिचय दीजिए । १०३-१०६

४५. इस कथन की विवेचना उदाहरण सहित कीजिए "गुप्तजी ने द्वापर में कुब्जा का चरित्र अभिनव रूप में उपस्थित किया है । कृष्ण-काव्य में परम्परा से चले आते हुए कुब्जा के प्रसंग में सौतिया भाव की छाया भी नहीं है । कुब्जा में प्रणय का पावन समर्पण है ।" १०६-११०

४६. द्वापर के आधार पर कुब्जा की चारित्रिक विशेषताओं का सोदाहरण उल्लेख कीजिए । १०६-११०

४७. द्वापर के आधार पर उद्धव का चरित्र-चित्रण कीजिए । ११०-११२

४८. द्वापर के गोपी-प्रसंग की विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए स्पष्ट कीजिए कि उसमें गोपियों की कौन-कौन सी चारित्रिक विशेषताओं का चित्रण हुआ है । ११२-११६

४९. इस कथन की तर्कसंगत विवेचना कीजिए "द्वापर के गोपी-प्रसंग में अन्य कवियों की भाँति ही निर्गुण-निराकार, आत्म-ज्ञान और योग की चर्चा उठाई गई है, किन्तु द्वापर की गोपी न तो सूरदास की गोपियों की भाँति भोली ही है, और न नंददास की गोपियों की भाँति तार्किक ही अपितु वह तो ज्ञान-विज्ञान को विस्मृत किये ज्ञानमय है तथा उन पर भक्ति का हल्का सा बौद्धिक आवरण भी है ।" ११२-११६

५०. द्वापर के गोपी-प्रसंग में गुप्तजी ने योग और निर्गुण निराकार के स्थान पर सगुण साकार कृष्ण की प्रेमाभक्ति का कुशलता-पूर्वक निरूपण किया है ।" इस कथन की सोदाहरण समीक्षा कीजिए । ११३-११६

५१. द्वापर के आधार पर सुदामा का चरित्र-चित्रण कीजिए । ११६-११९

५२. भाव और रस-व्यंजना की दृष्टि से द्वापर का मूल्यांकन कीजिए । ११९-१२८

५३. द्वापर में रस-योजना पर उदाहरण सहित विचार कीजिए। ११६-१२८
५४. द्वापर का भावपक्ष शीर्षक एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए। ११६-१२८
५५. द्वापर काव्य-कृति के प्रकृति-चित्रण की सोदाहरण समीक्षा कीजिए। १२८-१३१
५६. 'द्वापर में प्रकृति चित्रण' शीर्षक एक संक्षिप्त निबंध लिखिए। १२८-१३१
५७. इस कथन की तर्कसंगत विवेचना कीजिए कि "गुप्तजी ने द्वापर में पौराणिक कथानक को लेकर अपनी उर्वरा कल्पना से आधुनिकता का समावेश कर दिया है।" १३१-१४८
५८. "द्वापर में गुप्तजो ने सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक बहुमुखी क्रांति की भूमिका प्रस्तुत को है।" इस कथन का प्रोत्साहन विवेचन कीजिए ? १३१-१४८
५९. इस कथन की समीक्षा कीजिए कि "गुप्तजी ने द्वापर में जन-जीवन में प्रेरणा के लिए बहुमुखो संदेश प्रस्तुत किया है। १३१-१४८
६०. द्वापर के उद्देश्य का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि कवि ने उसमें कौन-कौन सी आधुनिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है। १३१-१४८
६१. 'द्वापर में समसामयिकता और आधुनिकता' शीर्षक एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए। १३१-१४८
६२. "गुप्तजी ने प्राचीनता की पृष्ठभूमि में द्वापर के अंतर्गत आधुनिक समस्याओं का हल खोजकर आशामय भविष्य की कल्पना की है।" उक्त कथन की पूर्ण विवेचना कीजिए ?
६३. द्वापर में कौन-कौन-सी नैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक व राजनीतिक समस्याओं का विवेचन किया गया है। उदाहरण सहित अपने कथन की पुष्टि कीजिए। १३१-१४८
६४. काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से द्वापर का मूल्यांकन कीजिए। १४८-१६०
६५. "भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से द्वापर एक

उत्कृष्ट कोटि का काव्य है।" उक्त कथन की तर्कसंगत विवेचना करते हुए द्वापर के काव्य-सौन्दर्य पर प्रकाश डालिए। १४८-१६०

६६. काव्य-कला की दृष्टि से द्वापर की समीक्षा कीजिए। १४८-१६०

६७. इस कथन की विवेचना उदाहरण सहित कीजिए कि "द्वापर में भावपक्ष और कलापक्ष का मणिकांचन समन्वय है।" १४८-१६०

अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न

६८. आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं कि "विधृता द्वापर में महत्वपूर्ण चरित्र अवश्य है लेकिन वह द्वापर की उत्पत्ति का मूल कारण नहीं है अपितु कुछ पारिवारिक परिस्थितियाँ ही द्वापर के लिखने मे कारण बनी है।" २८-३१

६९. स्पष्ट कीजिए कि द्वापर के सृजन में कवि की पारिवारिक परिस्थितियाँ किस रूप में मूल कारण रही हैं। २८-३१

७०. "द्वापर में शृंगार रस की ही प्रधानता है। अन्य रस सहायक बन कर उपस्थित हुए हैं।" इस कथन की तर्कपूर्ण समीक्षा कीजिए। १२१-१२३

७१. आपकी दृष्टि में द्वापर में मुख्यतः किस रस की प्रधानता है। अपने उत्तर की पुष्टि में उदाहरण भी दोजिए? १२१-१२३

७२. 'द्वापर की शृंगार भावना' शीर्षक एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए। १२१-१२३

७३. इस कथन की तर्कसंगत विवेचना कीजिए कि "द्वापर विप्रलंभ शृंगार का वियोग वारीश है जिसमें राधा, गोपियों और कुब्जा के आँसू वेगवती सरिताओं के रूप में मिले हैं।" १२३-१२८

७४. द्वापर में विरह-वर्णन शीर्षक एक संक्षिप्त निबंध लिखिए। १२३-१२८

७५. द्वापर में विप्रलंभ शृंगार की सोदाहरण विवेचना कीजिए। १२३-१२८

७६. द्वापर के आधार पर कवि का धार्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए। १३४-१४०

७७. 'द्वापर में भक्ति-भाव' शीर्षक एक संक्षिप्त निबंध लिखिए। १३४-१४०

७८. द्वापर पर गुप्तजी की वैष्णवता का प्रभाव कहाँ तक पड़ा है। १३४-१४०
७९. नारी-भावना का जो प्रदर्शन गुप्तजी ने द्वापर में किया है, उसका वर्णन उदाहरण सहित कीजिए। १४०-१४३
८०. आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं कि "द्वापर में गुप्तजी ने नारी जीवन को विस्तृत भूमिका प्रस्तुत की है।" १४०-१४३
८१. इस कथन की विवेचना उदाहरण सहित कीजिए कि "अपने अन्य काव्यों की भाँति गुप्तजी ने द्वापर में भी भारतीय संस्कृति को महत्व प्रदान किया है।" १४३-१५१
८२. "गुप्तजी का सामाजिक व राजनीतिक दृष्टिकोण बहुत कुछ अंशों में महात्मा गाँधी से प्रभावित है।" द्वापर के आधार पर इस कथन की पुष्टि कीजिए। १४३-१५१
८३. भाषा-शैली की दृष्टि से द्वापर का मूल्यांकन कीजिए। १५१-१५२
८४. द्वापर का कला-पक्ष शीर्षक एक संक्षिप्त निबंध लिखिए। १५१-१५२
८५. "प्रबंधात्मक काव्य के क्षेत्र में द्वापर न तो महाकाव्य है और न खंडकाव्य ही। पात्र जैसा, जो कुछ भी देखते हैं और समझते है, उसे ही आत्मोद्गार के रूप में अभिव्यक्त करते हैं अतः द्वापर आत्मोद्गार शैली में लिखा हुआ प्रगीतात्मक मुक्तक काव्य है।" उक्त कथन की सोदाहरण विवेचना कीजिए। १५३-१५६
८६. काव्य-विधान की दृष्टि से द्वापर किस प्रकार की रचना है; पूर्णरूप से समझाइए। १५३-१५६
८७. शास्त्रीय दृष्टि से द्वापर किस प्रकार का काव्य है। तर्कपूर्वक उत्तर दीजिए। १५३-१५६
८८. गीतिकाव्य की दृष्टि से द्वापर की समीक्षा कीजिए। १५६-१५८
८९. द्वापर का संदेश शीर्षक एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए। १५८-१६०
९०. इस कथन को स्पष्ट कीजिये कि "द्वापर का संदेश तो सर्वतोमुखी क्रांति का आवाहन लेकर हमारे सामने प्रस्तुत हुआ है।" १५८-१६०
व्याख्या १६१-२५८

प्रथम खंड

आलोचनात्मक अध्ययन

गुप्त जी का काव्य कृतित्व

प्रश्न १—राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त की काव्यकला की विशेषताओं का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिये।

प्रश्न २—खड़ी बोली हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त के योगदान पर प्रकाश डालते हुए आधुनिक काव्य-क्षेत्र में उनका स्थान निर्धारित कीजिये।

प्रश्न ३—'श्री गुप्त का काव्य परिमाण और विविधता, दोनों में ही अतिशय दीर्घ और व्यापक है।' इस कथन की सार्थकता प्रमाणित करते हुए श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्य-कृतित्व का सामान्य परिचय दीजिये।

उत्तर—राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने वर्धा से प्रकाशित होने वाले 'खादी जगत्, नामक मासिक पत्र के अक्टूबर १९४१ के अंक में एक प्रसंग में श्री मैथिलीशरण गुप्त को सुप्रसिद्ध कवि माना था और इसी प्रकार श्री शांतिप्रिय द्विवेदी का भी कहना है 'किसी माला में प्रथम मणि, उपवन में प्रथम पुष्प, गगन में प्रथम नक्षत्र का जो महत्वपूर्ण स्थान हो सकता है वह वर्तमान कविता में गुप्त जी का है। अतएव खड़ीबोली की वर्तमान कविता के प्रधान और प्रथम प्रतिनिधि कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त ही हैं। 'हम इस कथा' से पूर्णतः सहमत हैं और श्री गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' के कथनानुसार एक बात तो सब तरह के विचार और तर्क से परे हैं—"गुप्त जो वर्तमान काल के सबसे अधिक लोकप्रिय कवि हैं। वर्तमान काल में जो अनेक शैलियाँ साहित्य सृजन के क्षेत्र में प्रचलित हैं, प्रायः उन सभी में उन्होंने साहित्यिक प्रयोग किये हैं। प्राचीन विचार के साहित्य-सेवी

उनकी रचनाओं में मंगलाचरण आदि के समावेश के रूप में अपनी प्रिय वस्तु पा जाते हैं, द्विवेदी स्कूल के कवि उन्हें प्रायः अपने नेता के रूप में ग्रहण करते हैं; छायावादी कवि भी उनमें अपने अनुकूल कुछ विशेषताएँ और पद्धतियाँ ढूँढ़ लेते हैं। इस प्रकार वर्तमान समय के सभी दलों को, अत्यधिक मात्रा में उनसे संतोष प्राप्त हो जाता है। साहित्य-सेवियों की मंडली को छोड़कर अगर पाठकों की मंडली की ओर चलें तो यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि पाठकों की जितनी बड़ी संख्या उन्हें प्राप्त है उतनी बड़ी संख्या प्राप्त करने का सौभाग्य अन्य किसी भी जीवित हिन्दी कवि को उपलब्ध नहीं है।"

वस्तुतः राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी साहित्य के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं और अपने शोधप्रबन्ध 'मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता' में डॉ० उमाकांत ने कहा भी है, "हिन्दी काव्य में गुप्त जी का स्थान निर्धारित करने के लिये जब सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्राचीन कवियों में तो तुलसी के अतिरिक्त और कोई उनसे श्रेष्ठ नहीं है। जायसी के विषय में मतभेद हो सकता है, सूर की बात दूसरी है, उनका क्षेत्र ही पृथक् है। आधुनिक कवियों में भी प्रस्तुत कवि बात दूसरी है, उनका क्षेत्र ही पृथक् है। आधुनिक कवियों में भी प्रस्तुत कवि का स्थान अन्यतम है। यद्यपि प्रसाद का दर्शन-गांभीर्य, निराला की विराट् कल्पना, पंत का सौन्दर्य-बोध तथा महादेवी की अश्रु सिक्त प्रगीत-भावना मैथिलीशरण गुप्त में नहीं है, फिर भी वे जीवन के विविध रूपों के—मानव के रागात्मक सम्बन्धों के कवि हैं। अपने विपुल परिमाण साहित्य, अद्भुत प्रबन्ध-कौशल, भाषा के निर्माण और विकास तथा जीवन की समग्रता में—विश्व की विषम विसदृशताओं को एकरस होकर—ग्रहण करने की क्षमता के कारण, उत्तर-भारत की जनता की तीन पीढ़ियों की युगचेतना को प्रभावित करने वाला भारतीय संस्कृति का अनन्य प्रणेता यह कवि निस्संदेह ही महाकवि है।" इस प्रकार आधुनिक हिन्दी काव्य-धारा में गुप्त जी का महत्वपूर्ण स्थान है और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो आधुनिक हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक काव्य-रचनाओं के प्रणेता श्री मैथिलीशरण जी गुप्त ही हैं। उनकी समग्र काव्य-कृतियों की तालिका डॉ०

कमलाकांत पाठक ने अपने शोध-प्रबन्ध 'मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य' में इस प्रकार दी है—

क्रम संख्या	नाम	प्रकाशन संवत् (विक्रमीय)	काव्य-रूप
१	रंग में भंग	१९६६	ऐतिहासिक खंडकाव्य
२	जयद्रथ-वध	१९६७	महाभारतीय खंडकाव्य
३	पद्य-प्रबंध	१९६९	संग्रह : आख्यानक तथा निराख्यानक कविताएँ
४	भारत-भारती	१९६९	उद्‌बोधनात्मक पद्य
५	शकुंतला	१९७१	अभिज्ञान शाकुंतल पर आधारित खंडकाव्य
६	तिलोत्तमा	१९७२	पौराणिक नाटक
७	चन्द्रहास	१९७३	पौराणिक नाटक
८	पत्रावली	१९७३	पत्र-गीत-संग्रह
९	वैतालिक	१९७३	उद्‌बोधन-गीति
१०	किसान	१९७३	सामाजिक-राजनीतिक खंडकाव्य
११	अनघ	१९८२	बौद्धकालीन पद्य-नाटच
१२	पंचवटी	१९८२	रामायणीय खंडकाव्य
१३	स्वदेशी संगीत	१९८२	राष्ट्रवादी गीति-संग्रह
१४	हिन्दू	१९८४	उद्‌बोधनात्मक पद्य-निबंध
१५	सैरेन्ध्री	१९८४	महाभारतीय खंडकाव्य
१६	बक-संहार	१९८४	महाभारतीय खंडकाव्य
१७	वन-वैभव	१९८४	महाभारतीय खंडकाव्य
१८	शक्ति	१९८४	पौराणिक खंडकाव्य
१९	विकट भट	१९८५	ऐतिहासिक आख्यान काव्य

२०	गुरुकुल	१९८५	ऐतिहासिक आख्यान-काव्य
२१	झंकार	१९८६	रहस्यवादी गीति-संग्रह
२२	साकेत	१९८८	रामायणीय महाकाव्य
२३	यशोधरा	१९८९	बुद्धकालीन चंपू, खंड-काव्यात्मक स्वरूप
२४	सिद्धराज	१९९३	ऐतिहासिक खंडकाव्य
२५	द्वापर	१९९३	आत्म-संलापात्मक गीति-काव्य
२६	मंगलघट	१९९४	संग्रह : गीतिबद्ध, आख्यानक तथा निराख्यानक कविताएँ
२७	आस्वाद	१९९५ वि० / १९३८ ई०	वैविध्यपूर्ण कविता संग्रह
२८	नहुष	१९९७	महाभारतीय खंडकाव्य
२९	कुणाल गीत	१९९८	बुद्धकालीन गीति-काव्य
३०	अर्जन और विसर्जन	१९९९	दो ऐतिहासिक आख्यान काव्य
३१	विश्व-वेदना	१९९९	महायुद्ध से प्रेरित सांस्कृतिक गीति
३२	काबा और कर्बला	१९९९	सांस्कृतिक खंड-काव्य का स्वरूप
३३	अजित	२००३	सामाजिक राजनीतिक खंड काव्य
३४	हिडिंबा	२००७	महाभारतीय खंडकाव्य
३५	प्रदक्षिणा	२००७	रामायणीय आख्यान-संकलन
३६	युद्ध	२००७	महाभारतीय आख्यान-काव्य
३७	अंजलि और अर्घ्य	२००७	शोक-गीति
३८	पृथिवीपुत्र (दवोदास, जयिनी, पृथिवीपुत्र)	२००७	काव्य-रूपक-संग्रह

३९	जय-भारत	२००९	महाभारतीय प्रबंध-संकलन
४०	भूमि-भाग	२०१०	सामयिक गीति-संग्रह
४१	कवि श्री	२०१२	पौराणिक स्त्री पात्रों के विषय की ग्यारह रचनाओं के संग्रह
४२	राजा-प्रजा	२०१३	निराख्यानक निबंध-काव्य
४३	विष्णुप्रिया	२०१४	मध्यकालीन खंडकाव्य

अनूदित कृतियाँ

४४	विरहिणी व्रजांगना (बँगला)	१९७१	वियोग-गीति, माइकेल मधुसूदन दत्त कृत
४५	पलासो का युद्ध (बँगला)	१९७१	कथा-काव्य, नवीन चन्द्रसेन कृत
४६	स्वप्न वासवदत्ता (बँगला)	१९७१	भास-रचित नाटक
४७	गीतामृत (संस्कृत)	१९८२	व्यास रचित श्रीमद्भगवद्गीता का द्वितीय अध्याय
४८	वीरांगना (बँगला)	१९८४	एकादश पौराणिक पत्र-गीतियाँ माइकेल मधुसूदन दत्त रचित
४९	मेघनाथ-वध (बँगला)	१९८४	महाकाव्य, माइकेल मधुसूदन दत्त कृत
५०	रूबाइयत उमर ख़य्याम (फारसी)	१९८८	मुक्तक-काव्य, अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर
५१	गृहस्थ-गीता (हिन्दी गद्य)	१९४४	श्रीप्रकाशजी के सच्चे नागरिकता विषयक लेखों का पद्य रूपांतर
५२	दूत-घटोत्कच	२०१२	भास-रचित एकांकी

कवि-श्री-पुस्तक-माला

उपर्युक्त बावन काव्य-कृतियों के साथ-साथ आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के संपादकत्व में इंडियन प्रेस, प्रयाग से फरवरी १९०९ में प्रकाशित कविता-

कलाप भी उल्लेखनीय है क्योंकि इसमें संकलित राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', श्री नाथूराम शर्मा 'शंकर', श्री कामता प्रसाद गुरु, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और श्री मैथिलीशरण गुप्त की कुल ४६ कविताओं में से अकेले गुप्त जी की सत्ताइस कविताएँ हैं तथा शेष अन्य चारों कवियों की। इस प्रकार कविता-कलाप के पाँचों कवियों में से गुप्त जी की काव्य-रचनाएँ ही उस कृति में संख्या में अधिक हैं और प्रकाशन-तिथि की दृष्टि से यह कविता-कलाप ही उनकी प्रथम कृति है। साथ ही पौराणिक विषयों की चित्रोपम-वर्णन-शैली का प्रारम्भ भी सर्वप्रथम इसी कृति द्वारा हुआ है अतः इस कृति का भी उल्लेखनीय स्थान माना जाना चाहिए।

यहाँ साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी से सवत् २०१० वि० में प्रकाशित पुष्करिणी और कवि भारती का भी नामोल्लेख अत्यन्त आवश्यक है। इनमें से 'पुष्करिणी' का संपादन हिन्दी के सुपरिचित साहित्यकार अज्ञेय ने किया है और उसमे आधुनिक काव्य को पहिली बार सांस्कृतिक चेतना का काव्य तथा छायावादी अथवा अंतर्भावना का काव्य नामक दो समानान्तर धाराओं में विभक्त कर दोनों का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है। संपादक ने प्रथम कोटि में सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त और दिनकर को रखा है तथा द्वितीय कोटि मे प्रसाद, निराला, पंत व महादेवी को। साथ ही पुष्करिणी में इन सभी कवियों की प्रतिनिधि रचनाएँ भी संकलित की गयी हैं और प्रत्येक का सामान्य परिचय भी दिया गया है। इस काव्य-रचना—पुष्करिणा मे प्रारंभिक पैंतीस पृष्ठों में गुप्त जी की सोलह रचनाएँ संकलित हैं।

इसी प्रकार संवत् २०१० में ही श्री सुमित्रानंदन पंत, श्री बालकृष्ण राव और डॉ० नगेन्द्र के सम्पादकत्व में कवि-भारती नामक एक वृहत् काव्य-संकलन प्रकाशित हुआ है जो कि निर्विवाद रूप से आधुनिक हिन्दी काव्य का सबसे बड़ा व सर्वाधिक महत्वपूर्ण संकलन है। कवि-भारती रूप, रंग और रेखा नामक तीन खंडों में विभक्त है तथा लगभग सात सौ पृष्ठों में सतहत्तर कवियों की रचनाओं का संग्रह हुआ है और गुप्त जी को वस्तुगत रूपाधार अर्थात् द्विवेदी युग के अंत-

गंत रखते हुए पचास पृष्ठों में उनके पाँच काव्य-ग्रंथों से चौदह रचनाएँ संकलित की गई हैं।

उक्त पचपन काव्य रचनाओं के अतिरिक्त अभी गुप्त जी द्वारा लिखित कुछ कृतियाँ प्रकाशित भी नहीं हुई हैं और इनमें से कुछ तो विविध विषयक काव्य रचनाएँ हैं जो पुस्तकाकार नहीं प्रकाशित हुईं तथा कुछ अप्रकाशित काव्य पुस्तकें भी हैं। अपने शोध-प्रबंध 'मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और कवि' में डॉ० कमलाकांत पाठक ने लगभग एक सौ तैंतीस काव्य रचनाओं का—जो कि पुस्तकाकार नहीं छपी हैं—उल्लेख करने के साथ-साथ निम्नांकित अप्रकाशित काव्य-पुस्तकों की सूत्री भी प्रस्तुत की है—

मौलिक रचनाएँ

१. दुर्दशा-निवेदन : षट्ऋतु वर्णन के द्वारा भारतवासियों की दुर्दशा का निरूपण। रचना तिथि सं० १९६२। भारतीय-कला-भवन, काशी में उपलब्ध। मंगलाचरण तथा मुख-पृष्ठ के 'धन विदेशिन्ह ने सब ही हरौ' के अतिरिक्त एक सौ आठ पद्य। मुक्तक काव्य। कवि 'षट्ऋतु बिहार' की रचना में कालिदास कृत 'ऋतु-संहार' का अनुसरण कर रहा था, पर बूंदी के लज्जाराम शर्मा के परामर्श के अनुसार उसने ऋतु वर्णन को देशवासियों की दुर्दशा के निवेदन के रूप में रचा। द्रुत विलम्बित, बसंत तिलका, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्र वज्रा, मालिनी आदि वर्णवृत्तों में इसकी रचना हुई।

२. उर्मिला : खंडकाव्य : संवत् १९६५-६६, अपूर्ण, उपजातिवृत्त के १६४ पद्य, ढाई सर्ग।

३. लीला : पद्यनाट्य : संवत् १९६६, संशोधित प्रति सं० १९७६। विशेष—इसमे नौ दृश्य हैं और उनमें सीता-स्वयम्बर की कथा वर्णित है। रामलीलाओं से प्रभावित होकर ही कवि ने इसे रचा था।

४. अन्योक्ति मौलिक तथा अनूदित, मुक्तक पद्य-रचना तथा संस्कृत

पुष्पावली : पद्यों के अनुवाद, अनुमति रचना-तिथि संवत् १९६१ से १९७१ तक।

५. नल-दमयन्ती : आख्यानक रचना : अनुपलब्ध, अनुमति रचना-तिथि, संवत् १९६७-६८।

६. उद्धार नाटक : हम्मीरकृत चित्तौड़-उद्धार विषयक नाटक। अनुमति रचना-तिथि सवत् १९७१। वैतालिक के मुख-पृष्ठ का गीत 'ऊषा ने आँगन लीप दिया' उद्धार नाटक का अंश है। अनुपलब्ध।

७. सान्त्वना : शोक-गीति। व्यक्तिगत रचना, पुत्र शोक की अभिव्यक्ति। दिवंगत पुत्र सुदर्शन को अर्पित। रचना-तिथि संवत् १९९२। रोला छंद, पद्य संख्या एक-सौ छप्पन।

अनुवाद

१. अविमारक : भास, नाट्यानुवाद, संपूर्ण, पृष्ठ १८८, हस्तलिखित, भारतीय कला-भवन।

२. उरुभंग : भास, नाट्यानुवाद, संपूर्ण, पृष्ठ ४२, हस्तलिखित भारतीय कला-भवन।

३. प्रतिमा नाटक : भास नाट्यानुवाद, संपूर्ण, पृष्ठ १५४, मुंशी अजमेरी कृत प्रतिलिपि।

४. अभिषेक : भास, नाट्यानुवाद, संपूर्ण, पृष्ठ ९५, मुंशी अजमेरी कृत प्रतिलिपि।

५. दूतवाक्यम् : भास, नाट्यानुवाद, संपूर्ण, पृष्ठ ३६, हस्तलिखित, भारतीय कला-भवन।

६. चारुदत्त : भास, नाट्यानुवाद, संपूर्ण, पृष्ठ ३६, हस्तलिखित, भारतीय कला-भवन।

७. प्रतिला यौगंधरायण : भास, नाट्यानुवाद, अपूर्ण, हस्तलिखित, भारतीय कला-भवन।

८. साधना : राय कृष्णदास, पच्चीस गद्य-गीतों का पद्य रूपान्तर अनुमति रचना-तिथि सं० १९७५।

इस प्रकार श्री मैथिलीशरण गुप्त की प्रकाशित-अप्रकाशित काव्य-रचनाओं की तालिका पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इतने अधिक परिमाण में अन्य किसी भी खड़ी बोली के कवि ने अपनी काव्य-रचनाएँ प्रस्तुत नहीं की हैं और श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने तो (हिन्दी का सामयिक साहित्य में) कहा भी है, "हिन्दी की वर्तमान काव्य-धारा के प्रत्येक मोड़ पर यदि कोई कवि दिखाई पड़ा तो गुप्त जी ही।·····तात्पर्य यह है कि चाहे भाषा की दृष्टि से, चाहे नूतन काव्य-विधान की दृष्टि से, गुप्त जी की रचना सर्वत्र विविधता, सरसता, व्यापकता, बहुवस्तु-स्पर्शिता का ही प्रमाण प्रस्तुत करती सामने आती है।" अब हम यहाँ गुप्त जी के काव्य-कृतित्व का सैद्धांतिक व व्यावहारिक दृष्टि से संक्षेप में मूल्यांकन करेंगे।

गुप्त जी की काव्यकला पर विचार करते समय सर्वप्रथम हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट होता है कि किन तत्वों के आधार पर हम उनकी काव्यगत विशिष्टताओं का मूल्यांकन करें। डॉ० श्यामसुन्दरदास ने तो काव्य के चार उपकरण माने हैं—(१) सौंदर्य, (२) रमणीय अर्थ, (३) अलंकार और रस, (४) भाषा। इसी प्रकार अरस्तू (Aristotle) ने भी दुःखान्त नाटकों की चर्चा करते हुए काव्य के निम्नांकित छः विभागों का उल्लेख किया है : (१) कथावस्तु (Plot), (२) चरित्र (Character) (३) रचना-शैली (Diction), (४) भाव-विधान (Thought), (५) दृश्य-विधान (Spectacle) और (६) संगीत (Song)। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उक्त दोनों विभाजन काव्यालोचन के लिये पूर्ण उपयुक्त नहीं जान पड़ते और इनमें अव्याप्ति या अतिव्याप्ति के दोष स्पष्टतया विद्यमान हैं। अतः डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी के शब्दों में आलोच्य कवि-विशेष की काव्य-कला की परख के विशिष्ट ध्येय को ध्यान में रखते हुए हम निम्नलिखित बिन्दुओं में अपनी आलोचना प्रस्तुत करेंगे—

(१) कथावस्तु अथवा काव्यवस्तु।
(२) भाव-विन्यास।
(३) भाषा-सौष्ठव।
(४) रचना-शैली।

कथावस्तु अथवा काव्यवस्तु

जैसा कि स्वयं ब्रह्मचारी जी ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है "इस प्रसंग में कथावस्तु का प्रयोग एक अर्थ विशेष में किया गया है। साधारणतः कथा-वस्तु किसी काव्य-विशेष की ओर ही संकेत करती है, यथा साकेत की कथा-वस्तु, यशोधरा की कथावस्तु आदि। ऐसे स्थलों में कथावस्तु का मतलब किसी काव्य के आधारभूत कथानक अथवा प्लाट (Plot) से होता है.....।' जहाँ हमें गुप्त जी की सामूहिक रचनाओं पर दृष्टि दौड़ानी है वहाँ यह विचारना होगा कि गुप्त जी के काव्यों के कथानक किन-किन कोटियों में आते हैं, उनकी व्यापकता कैसी है, वे किन-किन आकारों से उद्भूत हैं और किन-किन दिशाओं में प्रेरित हुए हैं। इस दृष्टि से जब हम गुप्त जी की काव्यवस्तु पर विचार करना चाहते हैं तो हम देखते है कि डॉ० रामरतन भटनागर ने विषय के अनुसार गुप्त जी की रचनाओं के निम्नांकित वर्ग माने हैं : (१) पौराणिक काव्य, (२) खंड-काव्य और महाकाव्य, (३) अन्य कथा काव्य, (४) चंपू, (५) देशभक्ति-पूर्वक काव्य, (६) हिन्दू जातीयता, (७) मुक्तक, ८) अनुवाद। इसी प्रकार डॉ० सत्येन्द्र ने भी गुप्त जी की काव्यकृतियों की सामान्य समीक्षा करते हुए यही कहा है, "हमें गुप्तजी की कृतियों में छः मुख्य दिशाएँ दिखलाई पड़ती हैं—(१) राष्ट्रीय, (२) महाभारत सम्बन्धिनी, (३) रामचरित्र सम्बन्धिनी, (४) बौद्ध-कालीन, (५) सिक्ख तथा अन्य ऐतिहासिक घटना सम्बन्धिनी, (६) पौराणिक। इनके अतिरिक्त सामयिक प्रभाव के परिणामस्वरूप यद्यपि झंकार, हिन्दू आदि में फुटकर कवितायें प्राप्त हैं परन्तु इनकी प्रतिभा की अभिव्यक्ति किसी न किसी कथानक अथवा वर्णन के सहारे ही विकसित हुई है और वस्तुतः इसी ओर इन्हें विशेष सफलता भी प्राप्त हुई है। कथानक के सहारे ही कविता होने के कारण इनकी रचनायें अधिकांश या तो खंडकाव्य है या महाकाव्य।" डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्म-चारी ने अपनी कृति 'गुप्त जी के काव्य की कारुण्यधारा' में उक्त विषयों में कुछ सामान्य परिवर्तन कर निम्नांकित तालिका प्रस्तुत की है जो कि गुप्त जी की रचनाओं व उनके आधारभूत स्रोतों का श्रेणीगत परिचय सुगमतापूर्वक दे देती है—

संख्या	स्रोत-श्रेणी	रचनाएँ
(१)	राष्ट्रीय, जातीय एवं सामाजिक	स्वदेश संगीत, भारत-भारती वैतालिक, किसान
(२)	रामचरित मूलक	साकेत, पंचवटी
(३)	कृष्णचरित्र मूलक	द्वापर
(४)	बौद्ध संस्कृति मूलक	यशोधरा, अनघ
(५)	हिन्दू संस्कृति मूलक	हिन्दू, विकटभट, रंग में भंग, पत्रावली
(६)	सिक्ख संस्कृति मूलक	गुरुकुल
(७)	पुराण मूलक	चन्द्रहास, शकुन्तला, तिलोत्तमा, शक्ति
(८)	महाभारत मूलक	जयद्रथ-वध, सैरंध्री, वक-संहार, वनवैभव, नहुष
(९)	विविध (संग्रहात्मक)	मंगलघट, झंकार

यद्यपि इस तालिका मे गुप्त जी की बहुत सी रचनाएँ सम्मिलित होने न रह गई है लेकिन जहाँ तक स्रोत-श्रेणी का प्रश्न है यह विभाजन अत्यंत सुन्दर है और इससे हमे गुप्त जी की काव्यवस्तु का परिचय सहज ही मिल जाता है तथा उनकी प्रायः सभी काव्य-रचनाएं इस तालिका के आधार पर विभाजित की जा सकती है। अतः जैसा कि डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का कहना है, "गुप्त जी के काव्य-मानस की प्रेरणा और प्रवृत्ति का स्रोत चतुर्विध है। अतीत संस्कृति और कला का प्रेम उसका एक अंश है। वर्तमान युग के प्रति आस्था और राष्ट्रीयता उसका दूसरा चरण है। सक्षम जीवन और उसके साथ जुड़ा हुआ कर्ममय प्रवृत्तिमार्ग या कवि के शब्दों में कहें तो 'गेह गौरव' वाद उसका तीसरा अंश है। मानव की गरिमा या अनुभव या महिमा के प्रति आस्था और आशा एवं उसी आधार पर मानवतावाद या व्यष्टि का समष्टि मे पर्यवसान, या भागवती परिभाषा में नर-नारायण का समन्वय, यह दृष्टिकोण उसका चौथा अंश है। इन चारों का जहाँ सम्मेलन होता है वहीं गुप्त जी के काव्य का प्रतिष्ठा-विन्दु है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि किस प्रकार नये विचारों का उजाला गुप्त जी ने अपने काव्यों के प्राचीन ठाठ में भरा है। उन्होंने न केवल उदात्त

अतीत के गीत गाये हैं, वरन् वे आगे आने वाले और भी अधिक उदात्त जीवन का उत्कंठित आलिंगन करते हैं।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी की काव्य-रचनाओं का प्रतिपाद्य बहुत विस्तृत है और डॉ० देवर्षि सनाढ्य ने अपनी समीक्षात्मक कृति 'बीसवीं शती से हिन्दी काव्य : प्रतिनिधि कवि' में कहा भी है "इन ग्रन्थों के अध्ययन से इस निष्कर्ष पर सहज ही में पहुँचा जा सकता है।

(१) कवि राष्ट्र चेतना के प्रति जागरूक है।

(२) कवि में साहित्यिक प्रतिभा असीम है।

(३) कवि रहस्यवादी भी है, पर रहस्यवाद उसका स्वाभाविक स्वर नहीं, वह केवल युगधर्म के रूप में स्वीकृत हुआ। रवीन्द्रनाथ की रहस्यवादी रचनाओं ने समूचे भारत की—समग्र भाषाओं के कवियों को—जिस आकर्षण में खींचा था, उसी गुरुत्वाकर्षण मे कवि गुप्त भी खिचा है।

(४) जातीयता को उभारने मे कवि सदा सचेष्ट है।

(५) इतिहास तथा इतिहास-रस का वह पारखी है।

(६) उसकी दृष्टि साम्प्रदायिक नहीं है।

विषय की दृष्टि से गुप्त जी की ये रचनायें अत्यन्त व्यापक हैं। उनकी राष्ट्रीय रचनाओं में समाज और राजनीति दोनों रूप प्राप्त होते हैं। सामाजिक रूप में उनकी दृष्टि भले ही हिन्दू धर्म से प्रभावित है, पर राजनीतिक दृष्टि से वे हिन्दू-मुसलमान दोनों को एक समान मानते हैं।"

भाव-विन्यास

यद्यपि डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने 'भाव-विन्यास की दृष्टि से गुप्त जी के कवि-कर्म की समीक्षा करते हुए अपनी आलोचना को निम्नलिखित बिन्दुओं पर केन्द्रित किया है—१. रसों का परिपाक, २. चरित्र-चित्रण : भावों की मनोवैज्ञानिकता; ३. भावस्थितियों की चित्रवत्ता (picturesque and graphic scriptions of situation) और ४. कल्पना के उत्कर्ष पर हम चरित्र-चित्रण व भाव-व्यंजना नामक दो विभागों के आधार पर ही इस उपशीर्षक के अंतर्गत अपने विचार प्रकट करेंगे। हमारी दृष्टि में रसों का परिपाक, भावस्थितियों की चित्रवत्ता और कल्पना के उत्कर्ष को भाव-व्यंजना के ही अंतर्गत होना चाहिए तथा

उन्हें पृथक्-पृथक् रखना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि सामान्यतया उन तीनों का सम्बंध कवि की भावाभिव्यक्ति से ही होता है। हाँ, चरित्र-चित्रण को पृथक् रखा जा सकता है और इसीलिए हमने चरित्र-चित्रण व भाव-व्यंजना नामक दो विभाग करना ही उचित समझा है।

यों तो कुछ समीक्षकों ने गुप्त जी को प्रबन्धकार मानते हुए उनके चरित्र-चित्रण की न्यूनताओं का कहीं-कहीं उल्लेख भी किया है पर हमारी दृष्टि में एक कुशल प्रबन्ध-काव्यकार के साथ-साथ वह—मैथिलीशरण गुप्त—चरित्र-चित्रण में भी पूर्ण सफल रहे हैं और उनके काव्यगत चरित्र-चित्रण की विशिष्टताओं को श्री राजेन्द्र सिंह गौड़ ने 'आधुनिक कवियों की काव्य-साधना' में विस्तारपूर्वक बड़ी कुशलता के साथ स्पष्ट भी किया तथा उनके इन विचारों में विशदता होते हुए भी पाठकों की सुविधा की दृष्टि से हम उन्हें यहाँ उद्धृत कर रहे हैं। देखिए—"गुप्त जी की रचनाओं में तीन प्रकार के चरित्र हैं—(१) देव, (२) दानव और (३) मानव। देव-चरित्रों में राम और कृष्ण, दानव-चरित्रों में शूर्पणखा और मेघनाद तथा मानव-चरित्रों में लक्ष्मण, भरत, यशोधरा आदि के चित्र मिलते हैं। स्वभाव तथा कार्य-कलाप की दृष्टि से यही चरित्र दो प्रकार के हो सकते हैं—(१) उत्कृष्ट और दूसरा निकृष्ट। गुप्त जी ने दोनों का चरित्र-चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के भक्त होने के कारण उनकी मर्यादा-भावना ने सभी पात्रों पर एक प्रकार का नियंत्रण रखा है। उन्होंने पात्र-विशेष की व्यक्तिगत वासना और उनकी स्वार्थमयी वृत्ति को इतना प्रबल नहीं होने दिया है कि वह अमर्यादित होकर कथावस्तु की गम्भीरता को नष्ट कर दे। दूसरी बात, जो उनके चरित्र पर प्रकाश डालती है, यह है कि उन्होंने राम के ईश्वरत्व को तो स्वीकार किया है, पर उनके पारिवारिक व्यक्तियों को साधारण मनुष्य के रूप में ही अंकित किया है। 'साकेत' के जिन पात्रों में हमें सद्गुणों की प्रचुरता दिखाई देती है वे भी इसी पार्थिव जगत् के हमारे जैसे प्राणी है और उनके लिए सुख-दुःख, हर्ष-शोक, निन्दा-प्रशंसा, गुण-अवगुण, विरह-मिलन का वही मूल्य है जो हमारे लिये है। गुप्त जी के पात्रों के सम्बन्ध में तीसरी उल्लेखनीय बात है, उन पर सामयिक स्थिति और समस्याओं का

प्रभाव । अनघ के पश्चात् उन्होंने जितने पात्रों को अपने प्रबन्ध-काव्यों में स्थान दिया है उन सब पर किसी न किसी रूप में समय का प्रभाव पड़ा है । राम-वन-गमन के समय अयोध्यावासियों का विनम्र सत्याग्रह और माता सीता का कोल-भील बालाओं को चर्खा चलाने एवं कातने और बुनने का उपदेश देना किसी सीमा तक स्वाभाविक होते हुए भी अधिक प्रभाव से रहित नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार अनघ में हमें मघ के रूप में विश्व-बन्धु बापू का दिव्य-दर्शन प्राप्त होता है । नवजागरण के इस युग में हमारी देवियों ने जागकर लोक-सेवा के जिस पावन आदर्श में अपने सुख-सुहाग को एक कर दिया है उसकी झलक हमें मघ की भावी पत्नी सुरभि मे मिलती है । राम-कोप का भाजन बनकर जब मघ सुरभि को सुखी रहने का आशीर्वाद देता है तब सुरभि कहती है :—

विश्व-वेदना विकल करे मुझको सदा,
रक्खे सजग सजीव आर्त्ति या आपदा ।
मेरा रोदन एक गूंजता गीत हो,
जीवन ज्वलित कृशानु समान पुनीत हो ।।

नारी-हृदय से प्रसूत इन पुनीत भावों मे वर्तमान युग बोलता हुआ सुनायी पड़ता है । गुप्त जी का यही स्तर उनके कई प्रबन्ध-काव्यों में अंकित हुआ है । प्राचीन चरित्रों को वर्तमान युग के निकट लाने मे उनका एक उद्देश्य है । अपने प्राचीन आख्यानों द्वारा वह अपने काव्यों में जिन चरित्रों की अवतारणा करते हैं उनका सामंजस्य वह वर्त्तमान जीवन के अनुरूप इसीलिए करते हैं कि हम उन्हें पौराणिक युगों की ही गाथा मानकर आज भी ग्रहण कर सकें । यही कारण है कि उनके काव्यगत प्राचीन आख्यानों में हमें वर्त्तमान युग की राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याएँ देखने को मिल जाती हैं ।

गुप्त जी के चरित्र-चित्रण की चौथी विशेषता है उनकी मौलिकता । देशिक और सामाजिक जीवन की भावनाओं का प्राचीन युग के वातावरण में साँस लेने वाले पात्रों की भावधारा के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिये उन्होंने कथा-नकों में जो उलट-फेर किया है उससे उनके पात्रों में नवीनता आ गई है और उन मूक पात्रों को वाणी मिल गई है जो अब तक उपेक्षित रहे हैं । इस कथन से

हमारा तात्पर्य उर्मिला और यशोधरा से है। उर्मिला और यशोधरा गुप्त जी के हाथों में पड़कर माता सीता की अपेक्षा अधिक उज्ज्वल रूप में हमारे सामने आयी है। इसी प्रकार रामायण की चिरलांछित कैकेयी से साकेत की तुलना हो सकती है। साकेत की कैकेयी में जो आत्म-सम्मान, आत्म-गौरव और स्वाभिमान है वह रामचरित मानस की कैकेयी में हमें नहीं मिलता। कैकेयी को साकेतकार ने मानवी सहानुभूति ही नहीं प्रदान की है, अपितु उसे राजरानी का गौरवपूर्ण मस्तक प्रदान किया है जो कहीं भी नत होना जानता—न अयोध्या के राजप्रासाद में, न चित्रकूट की भरी सभा में। जब अपराध करने में ही उसका मस्तक नहीं झुका, तब उसके प्रायश्चित्त में ही वह क्यों नीचे झुकेगा। इस प्रकार साकेतकार ने कैकेयी के राजरानीत्व की पूरी रक्षा की है।

गुप्त जी के पात्रों की पाँचवीं विशेषता है उनका दुःख में हँसते रहना। अपने पात्रों में इस प्रवृत्ति का आरोप करने के कारण उन्हें अपने आख्यानों को सजाने-सँवारने और जीवन का उल्लासमय चित्र प्रस्तुत करने मे बड़ी सहायता मिली है। इस प्रकार की उद्भावना से उनके चरित्र-चित्रण में सजीवता आ गयी है। वर्तमान युग की पीड़ित मानवता के लिये इसमे एक संदेश भी है। इसी संदेश के बल पर उनके सभी पात्र क्रियाशील और आशावादी हैं।

गुप्त जी के चरित्र-चित्रण की छठी विशेषता है उनकी मनोवैज्ञानिकता। वह मनोविज्ञान के शास्त्री हैं। यद्यपि विकासहीन पात्रों में चरित्र-चित्रण की गुंजायश नही के समान होती है तथापि उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करके उनसे भाव-सबलता उत्पन्न करना चरित्राध्ययन और सूक्ष्म निरीक्षण को प्रवृत्ति का ही द्योतक है। अपने इसी चरित्राध्ययन के बल पर उन्होंने मानव-हृदय के यथार्थ अन्तर्द्वन्द्व को चित्रित किया है। उनके कथोपकथन भी इसीलिए सजीव, सुव्यवस्थित और आकर्षक है। कथोपकथन की समीचीनता के लिए उन्होंने वाग्वैदग्ध्य, वक्रोक्ति, छन्दवृत्ति, तर्कशैली तथा कथन की लघुता एवं सांकेतिकता का बड़ा ही सुन्दर उपयोग किया है।

सारांश यह कि गुप्त जी कथा और चरित्र की प्राचीन रूपरेखा को स्वाभाविकता और औचित्य की कसौटी पर कसने के पश्चात् कुशल कलाकार की

भाँत चरित्र-चित्रण के उन समस्त सुलभ उपकरणों और साधनों का प्रयोग करने में समर्थ रहे हैं, जिनकी उन्हें अवसरानुकूल आवश्यकता पड़ी है। इसलिए उनके चरित्र-चित्रण में हम मानव हृदय की उल्लासमयी भावनाओं और उदात्त प्रवृत्तियों का परिचय पाते हैं और उन पर मुग्ध हो जाते हैं। गुप्त जी चरित्र-चित्रण के श्रेष्ठ कलाकार हैं। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी है और मानव-स्वभाव सम्बन्धी उनका अध्ययन गंभीर है। इसलिए चरित्र की बारीकियों का महत्त्व वे भली-भाँति समझते हैं और बड़ी सावधानी के साथ उनका चित्रण करते हैं। वह अपने चरित्र-चित्रण में अवसर, पात्र और देशकाल का बराबर ध्यान रखते हैं। चरित्र-चित्रण में उनकी सफलता का यह रहस्य है।"

कविवर मैथिलीशरण गुप्त के भावपक्ष पर विचार करते समय हम देखते हैं कि डॉ० उमाकांत ने इस सम्बन्ध में यही कहा है कि उनका भाव-क्षेत्र अत्यंत विस्तृत और व्यापक है। उनके काव्य में जीवन में संभव सभी भावनाएँ और भावनाओं के विभिन्न स्तर गृहीत हैं। प्रधान मनोविकारों का चित्रण तो साधारण कवियों में भी मिल जाता है—किन्तु आलोच्य कवि की रचनाओं में सभी संचारी भी सहज प्राप्य हैं।—और शास्त्र-बाह्य संचारी तो मानव-जीवन में उसकी गहरी पैठ के परिचायक हैं। आलम्बनों और उद्दीपनों में भी अपार वैविध्य है तथा परिस्थिति योजना में तो इस कवि को कमाल ही है। उधर आलम्बन और उद्दीपन का अकृत्रिम सामंजस्य भी दर्शनीय है।

विस्तार और वैविध्य के साथ ही मैथिलीशरण जी अदम्य प्राबल्य है। यद्यपि सूक्ष्मता अधिक नहीं है—किन्तु उसका सर्वथा अभाव भी नहीं। नवीन अर्थात् शास्त्र में अनुल्लिखित संचारी अन्तर्प्रवेशिनी सूक्ष्म दृष्टि के ही तो प्रमाण हैं। फिर भी उनकी भावना को संवेद्य बनाने वाला सबसे बड़ा तत्त्व तीव्र प्रबलता ही है—भाव की प्रबल अनुभूति के कारण ही वे बिम्ब ग्रहण कराने में समर्थ हो सके हैं, और मार्मिक प्रसंगों को पहचानने की तो इस कवि में अद्भुत क्षमता है। मर्मस्थलों का सन्धान और चयन ही तो प्रबन्ध कवि की गौरव-कसौटी है।.....यहीं पर यह भी उल्लेख्य है कि इनमें भावुक क्षणों और प्रसंगों के चयन की ही नहीं सृजन की भी प्रतिभा है जिसके आधार पर उनकी गणना

स्रष्टा कलाकारों में की जा सकती है। चयन-सृजन-सक्षम इस सघन भावुकता को कल्पना ने और भी दीप्ति एवं औज्ज्वल्य प्रदान किया है। यद्यपि कल्पना की विस्मयकारी उड़ान और रंगीन विलासिता इस कवि मे नहीं मिलेगी पर उसकी विशदता एवं विराटता निश्चित रूप से प्रशंसनीय है। इसके अतिरिक्त भाव के भोग की अपेक्षा उन्नयन के आग्रह ने उसे उसकी भावुकता को श्रेयस्कर, शिवत्व की महिमा से मंडित भी कर दिया है।

सब मिलाकर मैथिलीशरण जी का भाव-पक्ष काफी समृद्ध है। उनके भाव-क्षेत्र का अपरिमित विस्तार, भावना का अनियंत्रित प्रावल्य, मार्मिक प्रसंगों के चयन और सृजन की अमोघ-शक्ति, कल्पना की अनुपम विराटता तथा भाव के आदर्शीकरण की अभिनंदनीय प्रवृत्ति इन्हें विश्व के अग्रणी कवियों में स्थान दिलाता है। यदि हिन्दी के कवियों में प्रस्तुत कवि का स्थान निर्धारित करना हो तो केवल दो तुलसी और प्रसाद--ही उसके समक्ष रखे जा सकते है और यदि केवल विस्तार वैविध्य की ही दृष्टि से देखा जाए (यह भी गौरव और महत्त्व की एक मान्य और विश्वसनीय कसौटी है) तब तो शायद उक्त दोनों कवि भी पीछे रह जायेंगे।"

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी की भाव-व्यंजना निखरी हुई है और साथ ही कल्पना का उत्कर्ष भी उनकी काव्य-कृतियों में यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है तथा उनकी उत्कृष्ट कल्पना के सुन्दर भावग्राही चित्र भी दीख पड़ते है, जैसे—

विहग समान यदि अम्ब, पंख पाता मै,
एक ही उड़ान में तो ऊँचे चढ़ जाता मै।
मंडल बनाकर मै घूमता गगन में,
और देख लेता पिता बैठे किस वन में।
\+ + +
किन्तु बिना पंखों के विचार सब रीते हैं
हाय ! पक्षियों से भी मनुष्य गये-बीते हैं।
हम थलवासी जल में तो तैर जाते है

किन्तु पक्षियों की भाँति उड़ नहीं पाते हैं।
मानवों को पंख क्यों विधाता ने नहीं दिये?

साथ ही रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से भी गुप्त जी सफल कलाकार हैं और यों तो डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने गुप्त जी की रचनाओं में क्रमशः करुण, वीर व शृंगार की ही प्रधानता देखी है। पर हमारी दृष्टि में चूँकि गुप्त जी अत्यंत व्यापक दृष्टि सम्पन्न कवि हैं अतः जीवन में जितनी भी विभिन्न स्थितियाँ व परिस्थितियाँ संभव हो सकती हैं उनमें से अधिकांश को उन्होंने अपनी काव्य-कृतियों का विषय बनाया है। यों भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है, "पूर्ण भावुक वे ही है जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द-शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें।" इस प्रकार गुप्तजी भी पूर्ण भावुक की कोटि में आते है, क्योंकि उनकी भाव-परिधि निर्विवाद रूप से अत्यधिक व्यापक है। इसीलिए जब हम रस-परिपाक की दृष्टि से विचार करते हैं तो यही देखते हैं कि "उनके काव्य में सभी रसों का समावेश है। रति भाव अथवा शृंगार रस की व्यंजना के लिए रंग में भंग, शकुन्तला, साकेत (विशेषतः प्रथम, नवम और दशम सर्ग), यशोधरा के 'यशोधरा' शीर्षक खंड, सिद्धराज, हिडिम्बा और जयभारत के कुछ अध्याय देखे जा सकते हैं। रंग मे भंग, बक-संहार, विकट-भट, सिद्धराज तथा साकेत जय-भारत और भारत-भारती के कुछ अंशों में उत्साह (वीर) का उद्भास है निम्नलिखित पुस्तकों और स्थलों पर करुण की धारा देखी जा सकती है—भारत भारती, जयद्रथ-वध, कुणाल गीत, किसान, साकेत (दशरथ मरण प्रसंग,) काबा और कर्बला, विश्ववेदना, अंजलि और अर्घ्य तथा जय-भारत के कुछ खंड शांत का प्रसार देखना हो तो झंकार और प्रदक्षिणा का अवलोकन कीजिए जयद्रथ-वध, शक्ति, विकट-भट, साकेत के (तृतीय सर्ग में लक्ष्मण), जय-भारत (युद्ध तथा हत्या खंड) आदि में रौद्र, जयद्रथ-वध (अर्जुन की प्रतिज्ञा के पश्चात् जयद्रथ की घबराहट), शक्ति आदि में भयानक, जयद्रथ-वध और जय-भारत (युद्ध खंड) में वीभत्स, शक्ति और साकेत में अद्भुत तथा पंचवटी (सीता-लक्ष्मण

संवाद), सिद्धराज (काचनदे-मोलनदे संवाद), साकेत आदि में हास्य भी सहज उपलब्ध है।" इस प्रकार गुप्तजी का भाव-विन्यास भी उत्कृष्टतम् ही है।

भाषा-सौष्ठव

जैसा कि डॉ० सत्येन्द्र का कहना है, "गुप्तजी खड़ीबोली के उन्नायकों में से हैं। उपाध्यायजी तथा गुप्तजी ने खड़ीबोली को महाकाव्य देकर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई है। उपाध्यायजी ने प्रिय-प्रवास में संस्कृत छन्दों को अपनाया और उसके अनुकूल-उनकी भाषा अधिक संस्कृत-गर्भित और कहीं-कहीं तो संस्कृतप्राय हो गई है। उनके और ग्रंथों में बोलचाल की भी भाषा है किन्तु गुप्त जी ने हिन्दी छन्दों को अपनाया है। उनकी भाषा में तत्समता की प्रवृत्ति होते हुए भी वह बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है। गुप्तजी पर संस्कृत का काफी प्रभाव है और यथास्थान उसकी झलक मिल जाती है—जैसे "**करुणा, कंजारण्य रवे ! गुण रत्नाकर आदि कवे ! पाकर यह आनन्द-सम्मिलन, लीनता, आभरणावरण-युक्त विभूति-विहारिणी**" आदि-आदि। कहीं-कहीं तुक के आग्रह से भी '**स्वेद, कल्प, आज्य, जिष्णु, आस्य**' आदि अप्रचलित शब्द आ गए हैं। कहीं-कहीं प्रान्तीय भाषाओं के भी शब्द-जैसे '**छीमना, छोंटना, सफर, घड़ाम**' आदि का भी प्रयोग हुआ है। इतना होते हुए भी काव्य का अधिकांश भाग जन-साधारण के बोधगम्य बना रहा है। गुप्तजी ने कहीं-कहीं लोकोक्तियों की ओर संकेत कर पर्याप्त सजीवता उत्पन्न कर दी है—जैसे, '**दिन बारह वर्षों में घूरे के भी सुने गए हैं फिरते।**' गुप्त जी ने शब्द-शक्तियों से पूरा लाभ उठाया है—लक्षणा व्यंजना के सुन्दर प्रयोग मिलते हैं। वैसे तो प्रायः सभी रूपक और मुहाविरे लक्षणा के सहारे अर्थवान् होते हैं फिर भी साकेत में बहुत से लक्षणा के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं—**यह रजनी तो जम बैठी विषम पाले से**—पाले के द्वारा रात्रि के जम जाने और स्थिर हो जाने में विशेष चमत्कार आ गया है। साथ ही गुप्त जी ने भाषा में चमत्कार व सजीवता लाने के उद्देश्य से प्रायः सभी साधनों का अपनाया है, अतः 'प्रायः सभी प्रधान शब्दालंकारों के व अर्थालंकारों के उदाहरण उनकी काव्य रचनाओं में सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं और उन्होंने परम्परायुक्त अलंकारों को अपनाते हुए भी उन्हें सर्वथा नवीन ढंग से प्रस्तुत किया

है। डॉ० सत्येन्द्र के कथनानुसार कवि ने अलंकारों का प्रयोग विभिन्न शैलियों में किया है। प्राचीन परिपाटी को नवीन रूप दिया गया है और नवीन प्रणाली के आभास को संयत कर दिया गया है। वास्तव में यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो प्रचलित अलंकारों के साथ-साथ गुप्त जी ने मानवीकरण व विशेषण विपर्यय जैसे पाश्चात्य अलंकारों को भी अपनाया है और हम देखते हैं कि गुप्तजी की आरम्भिक काव्य-रचनाओं में भी मानवीकरण का सौन्दर्य दीख पड़ता है। उदाहरणार्थ : चंद्रहास को इस उक्ति में कवि ने मन—जो कि एक अगोचर इंद्रिय है—पर मानवता का आरोपण कर उसे शारीरिक रूप प्रदान किया है और उसके कान पकड़ कर खीचने की बात कही है—

कान पकड़ कर मन को प्रिय का गुणजाल खींच झट लेता है।

साथ ही जिस प्रकार श्री सुमित्रानन्दन पंत ने छाया को मानव रूप मे प्रस्तुत करते हुए कहा है—

कहो कौन हो दमयंती सी
तुम तरु के नीचे सोई

उसी प्रकार गुप्तजी ने अपनी काव्य-कृति साकेत में छाया का मानवीकरण कुशलतापूर्वक किया है—

कहीं सहज तरु तले कुसुम-शय्या बनी,
ऊँघ रही है पड़ी जहां छाया घनी।
घुस धीरे से किरण लोल दलपुंज में,
जगा रही है उसे हिला कर कुंज में।
किन्तु वहां से उठा चाहती वह नहीं,
कुछ करवट-सी पलट लेटती है वहीं।

इसी प्रकार विशेषण-विपर्यय के भी कुछ सुन्दर उदाहरण उनकी रचनाओं में दीख पड़ते हैं, जैसे—

मैं अपने लिए अधीर नहीं,
स्वार्थी यह लोचन-नीर नहीं।

अतः इससे यह स्पष्ठ हो जाता है कि गुप्त जी अलंकार-व्यंजना में भी

सफल रहे हैं और अलंकारों की सहायता से उन्होंने अपनी काव्य-भाषा के सौन्दर्य में अभिवृद्धि ही की है।

रचना-शैली

भाव-व्यंजना की ही भाँति गुप्त जी की काव्य-रचनाओं में रचना-शैली की दृष्टि से भी वैविध्यता विद्यमान है और डॉ० देवर्षि सनाढ्य के शब्दों में "सामान्यतः उनकी काव्य-शैली को ६ रूपों में देखा जा सकता है—

(१) प्रबन्धात्मक इतिवृत्ति शैली—यह गुप्त जी की प्रधान शैली है। उनके काव्यों का अधिकांश भाग इसी शैली में लिखा गया है। जयद्रथ-वध, नहुष, सिद्धराज, साकेत आदि इसी शैली के काव्य हैं। प्रबन्ध के दो मुख्य भेदों—खंड-काव्य और महाकाव्य—में कवि ने खंड-काव्य ही अधिक लिखे हैं। महाकाव्य तो कठिनता से दो ही हैं, साकेत और जय-भारत।

(२) विवरण शैली—कवि ने जागरण अथवा उद्‌बोधन के लिए इस शैली का प्रयोग किया है। भारत-भारती तथा हिन्दू इसी शैली की रचनाएँ हैं।

(३) गीत-नाट्य शैली—इस शैली का श्रेष्ठ उदाहरण 'अनघ' है। इस शैली में कथोपकथनात्मक पद्य ही है, जिससे नाटकीयता का समावेश हो गया है।

(४) गीत शैली—झंकार इसी शैली की रचना है। कवि को सबसे अधिक असफलता गीत-शैली में ही मिली है।

(५) आत्मोद्‌गार शैली—आत्मकथन के रूप में काव्य का प्रत्येक पात्र इस शैली की रचनाओं में अपनी-अपनी बात कह जाता है। द्वापर इसी श्रेणी की रचना है।

(६) मिश्र शैली—यशोधरा इसी शैली की रचना है, जिसमें सब मिश्रित कर दिया गया है—गद्य, पद्य, नाटक, प्रबन्ध, गीत। सम्भवतः हिन्दी में गुप्त जी ही इस शैली के जनक हैं।"

रचना-शैली के अन्तर्गत ही छन्द-विधान पर भी विचार किया जाता है और हम देखते हैं कि गुप्त जी की कविता जो जन-साधारण के भीतर इतना प्रवेश कर सकी उसकी भाषा के अतिरिक्त एक कारण उनका छंद-निर्वाचन भी जान पड़ता है। उन्होंने छन्दों की पसन्दगी में अपने पाठकों की रुचि का भी ख्याल

किया है, और ऐसा करके भी बहुत समय से अप्रयुक्त अनेक पुराने छन्दों को नवीन सौन्दर्य प्रदान करते हुए उन्हें नया मूल्य प्रदान किया है। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो गुप्त जी ने मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है तथा पीयूष वर्ष, शृङ्गार, सुमेरु, महाकुलक, सोरठा, घनाक्षरी, सवैया, आर्या, गीतिका, शार्दूल विक्रीडित, शिखरिणी, मालिनी, द्रुतविलम्बित आदि छन्द अपनाए गए हैं। इतना अवश्य है कि गुप्तजी ने वर्णिक छन्दों की अपेक्षा मात्रिक छन्दों को ही अधिक संख्या में अपनाया है।

अन्त में काव्य के विविध उपकरणों को ध्यान में रखते हुए जब हम हिन्दी साहित्य में गुप्त जी का स्थान निर्धारित करना चाहते हैं तो हम देखते हैं कि विविध दृष्टियों से उनका मूल्यांकन करते हुए डॉ० विमलकुमार जैन ने उचित ही कहा है, भारतेन्दु जी के पश्चात् द्विवेदी-काल की इतिवृत्तात्मक शैली के वे अनुसर्त्ता रहे हैं। प्रबन्धात्मक में उनकी अभिरुचि विशेष रूप से संलग्न रही है। पिंगल पटुता और सहज अलंकारिकता तो उनकी प्रतिभा के देदीप्यमान गुण हैं। इस विषय में निश्चय ही इतनी प्रखर प्रतिभावाला कवि आधुनिक काल में भारतेन्दु जी के पश्चात् और दूसरा नहीं हुआ। गुप्तजी के समान दूसरे किसी कवि ने इतने प्रबन्ध-काव्यों का सृजन नहीं किया। यद्यपि उनमें अतीत का गौरव चित्रित है परन्तु साथ ही वर्तमान के निर्माण-विधान का सन्देश भी है। इस दृष्टि से वे इस काल के प्रतिनिधि कवि हैं। राष्ट्रीयता का गान तो उन्होंने इतना नहीं किया परन्तु उन्हें देश अत्यन्त प्रिय है, देश का गौरव रुचिकर है, देश की अवनति दुखप्रद है और भेद-भाव हीन देश की उन्नति सर्वाधिक इष्ट है अतः वे राष्ट्रीय कवि भी कहे जा सकते हैं। उनका उक्ति-वैचित्र्य अपना ही है। उनकी काव्यशैली, प्रबन्ध-पटुता, विषय-बाहुलता और उसमें वचन-रचना का चातुर्य आदि गुणों ने उन्हें अन्य सभी आधुनिक कवियों से अधिक लोकप्रिय बना दिया है। उनकी रचनाओं मे राष्ट्रवाद, समाजवाद, गाँधीवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद यहाँ तक कि छायावाद और रहस्यवाद सभी न्यूनाधिक रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। हिन्दुत्व के भक्त एवं परम वैष्णव होते हुए भी उनमें सुधार की तीव्र भावना, कुप्रथाओं के प्रति घृणा, सर्वधर्मप्रियता और समन्वयवादिता आदि

ऐसी विशेषताएँ हैं जो उन्हें सहज ही उच्चासन पर समासीन कर देती हैं। इन सभी गुणों और विशेषताओं से वे आधुनिक काल के कवि-शिरोमणि हैं।"

द्वापर : सृजन-प्रेरणा

प्रश्न ४—"परन्तु जिस परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गई है वह लेखक के जीवन में बहुत ही संकल्प-विकल्पपूर्ण रही। कम जाने इसी कारण.....यह भी द्वापर—संदेह की ही बात है।" गुप्तजी के इस कथन के आधार पर द्वापर काव्य की सृजन-प्रेरणा और मूल-स्रोत का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न ५—द्वापर काव्य के लिखने में कवि का क्या उद्देश्य है?

प्रश्न ६—द्वापर काव्य की प्रेरणा और विषयवस्तु के मूल-स्रोत पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—डॉ० नगेन्द्र के कथनानुसार "कवि ने कोई काव्य क्यों लिखा? उसको कहाँ से प्रेरणा मिली? साधारणतया यह जानना सहज नहीं होता। आलोचक के लिए वह 'प्रागैतिहासिक' काल की बात है।" परन्तु यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण जी गुप्त की अधिकांश कृतियों के पीछे एक निश्चित सुन्दर पृष्ठभूमि अवश्य विद्यमान है तथा भारत-भारती, साकेत और यशोधरा आदि कृतियों के अध्येता जानते ही हैं कि उनका निर्माण किन परिस्थितियों और किन कारणों से हुआ लेकिन द्वापर के लिखने में भी कवि का निश्चित उद्देश्य अवश्य था। यों तो गुप्त जी काव्य-रचना की समाज-सापेक्ष उपयोगिता को स्वीकार करते हुए काव्य-सृजन को सोद्देश्य ही मानते हैं और उन्होंने एक प्रसंग में कहा भी है "कला की उपासना आनन्द के लिए होती है, परन्तु कला का ही यह काम है कि वह हमें इस आनन्दोपभोग के योग्य बनावे। लोकोत्तरानन्द पाने के लिए हमारा वातावरण भी निष्कलुष होना चाहिए। इसके लिए हमें साधारण स्तर को ऊँचा करने में जो कला हमारी सहायता नहीं करती, वह स्वयं विकला है।"

उक्त कथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सोद्देश्य लिखी गयी किसी भी काव्य-कृति के रचयिता का उद्देश्य हम कवि की भावना, संस्कार, चिंतन और उसके

विचारों पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव आदि से जान पाते हैं परन्तु इन बातों पर कुछ भी विचार करने के पूर्व हमारे लिए स्वयं कवि की धारणा से भी विज्ञ होना आवश्यक है। 'द्वापर' में कवि ने 'हिन्दू' की भाँति लम्बी-चौड़ी भूमिका नहीं दी है और निवेदन में भी उसने केवल यही कहा है, "श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के तेईसवें अध्याय में एक कथा है। श्रीकृष्ण अपनी मंडली के साथ वन में दूर निकल गये थे। वहाँ उनके बंधुओं को भूख लगी। निकट ही एक स्थान पर यज्ञ हो रहा था। उन्होंने भोजन की प्राप्ति के लिए, उन्हें वहीं भेजा। परन्तु याज्ञिक ब्राह्मणों ने उन्हें दुत्कार दिया। भगवान् ने उन्हें यज्ञशाला में भेजा। परन्तु इस बार पुरुषों के नहीं, स्त्रियों के निकट। वहाँ उनकी अभिलाषा पूरी हो गई। स्त्रियों ने विविध व्यंजन लाकर भगवान् को भी भोग अर्पण किया। इसी कथा के अन्तर्गत एक कथा और है। एक ही श्लोक में कही गई है। एक ब्राह्मण ने बलपूर्वक अपनी वनिता को रोक लिया। नैवेद्य समर्पण तो दूर, वह भगवान् के दर्शन भी न पा सकी। इस दुःख से उसने शरीर छोड़ दिया। शुकदेव जी ने लिखा है—

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्
हृदोपगुह्य विजहौ देह कर्मानुबन्धनम्।

इस सम्बन्ध में इतना ही है। खेद है इस 'विधृता' का नाम नहीं मिला।"

गुप्तजी के उक्त उद्गारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसी 'विधृता' को लेकर द्वापर की रचना की गयी है और डॉ० सत्येन्द्र ने लिखा भी है, "कृष्ण के चरित्र का उल्लेख करते हुए इस द्वापर मे उन्होंने 'विधृता' को स्थान दिया है—उर्मिला भी उपेक्षिता थी, यशोधरा भी उपेक्षिता—इनके पतियों की इतनी यश-प्रशस्ति हो और इनके लिए दो शब्द भी लेखनी से द्रवित न हों—कविकुल पर यह कलंक था जिसका परिहार गुप्तजी ने किया। पर 'नारी' को यों उपेक्षित पाकर उनकी कल्पना और आगे मचल उठी—और वे कवि की अहृदयता पर ही क्षुब्ध होकर नहीं रुके। मानव के नारी के प्रति ऐतिहासिक अत्याचार और उत्पीड़न के विरुद्ध उनकी करुणा उत्कंठित हो उठी और 'विधता' बन आयी। जो कथा भागवत में किसी कोने पर बिखरी पड़ी थी

वह गुप्तजी की दृष्टि में नाच उठी—और उसके सहारे नारी का एक और रूप द्वापर में हमारे समक्ष आ गया। यह नारी कवि से उपेक्षिता नहीं, पुरुष के द्वारा निरादृता है, परित्यक्ता नहीं, परपीड़िता है। इन नारी को कवि ने उर्मिला तथा यशोधरा की भाँति अकेले गौरवपूर्ण स्थान तो नहीं दिया पर द्वापर में वह इसे प्रमुख स्थान पर ले आया है और यह कहा जा सकता है कि इसी 'विधृता' ने इन्हें द्वापर—संदेह में फाँसा है, इसी ने इन्हें कृष्ण के पास पहुँचाया है और तब कृष्ण के साथ इनका विशेष परिकर आया है....।" इसी प्रकार डॉ० विमल कुमार जैन भी यही कहते हैं, "साकेत और यशोधरा का निर्माण उपेक्षिता नारियों की सहानुभूति और उनके हृदय में विद्यमान वियोगजन्य भावों के प्रकाशन के लिये हुआ था, जिसकी उपेक्षा सदैव से कवि-लोक ने की, परन्तु नारी केवल उपेक्षिता ही नहीं, पुरुष द्वारा अपमानित और पीड़ित भी होती रही है। यह एक काल्पनिक बात नहीं, ऐतिहासिक तथ्य है। गुप्तजी की दृष्टि ऐसी ही एक प्रपीड़िता और निरादृता नारी पर पड़ी और वह थी,'विधृता', जिसके ब्राह्मण पति ने उसे भगवान कृष्ण के पास, जिनका गान वेद स्वयं करते हैं, जाने से रोका था।"

इन विचारकों और स्वयं कवि के स्वकथन से यही स्पष्ट होता है कि उपेक्षिता विधृता का उद्धार करना ही द्वापर के रचयिता का उद्देश्य था और कवि के इस उद्देश्य के पीछे एक निश्चित् पृष्ठभूमि भी थी जिसका उल्लेख इन पंक्तियों का लेखक अपनी समीक्षात्मक कृति 'यशोधरा का काव्य-सौन्दर्य' में कर चुका है। जैसा कि मैंने संकेत किया है, उन्नीसवीं शताब्दी भारत में व्यक्तिवाद का लेकर आयी जिसमें कि व्यक्तिगत जीवन के इतिहास और मानव के एकांतिक सुख-दुःखों को वंश-गौरव एवम् समाज-सापेक्ष सांस्कृतिक गौरव का प्रतिनिधित्व करने वाले जीवन चरितांशों से भी अधिक महत्व दिया और यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो यह अनुपयुक्त भी न था, कारण कि बुद्धिवाद की तीव्र लहर सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति की विचारधारा में परिवर्तन ला देती है। व्यक्तिवाद की इस प्रबलता का अर्थ यह न समझा जाए कि व्यक्ति को समाज की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाने लगा अपितु इसका सामान्यतः अर्थ यही है कि साहित्य-जगत् में अब हमारी दृष्टि उन अछूते विषयों पर भी गयी जो कि वर्षों से उपेक्षित पड़े थे और यही

कारण है कि नवीन युग की कविता उत्तरोत्तर नये रूप-विधानों और भावों से परिपुष्ट होती गयी। चूंकि रवीन्द्रनाथ और उनका साहित्य इसी युग की सृष्टि है अतः स्वाभाविक ही उन्होंने एक मननशील विचारक होने के कारण प्राचीन साहित्य को व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से देखा-समझा और उसके सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए। उनके विचार 'प्राचीन-साहित्य' नामक पुस्तक में संगृहीत है जिसका कि हिन्दी रूपान्तर हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर, बम्बई से प्रकाशित हो चुका है। 'प्राचीन-साहित्य' के एक निबन्ध 'काव्य रे उपेक्षिता' में रवीन्द्र ने काव्य की कतिपय उपेक्षिताओं का उल्लेख किया है और कालान्तर में इसी का आधार लेकर सरस्वती में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'भुजंग भूषण भट्टाचार्य' नाम से 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' नामक निबन्ध लिखा जो कि उनके 'रसज्ञ-रंजन' नामक निबन्ध-संग्रह में संगृहीत भी है। चूंकि मैथिलीशरण जी आचार्य द्विवेदी द्वारा प्रोत्साहित होकर ही कविता-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे और उनकी कृपा-वारि से सींचो जाने पर ही उनकी काव्य-चेतना विकसित हुई थी, अतः उन्होंने चिर-उपेक्षिता उर्मिला का चरित्र प्रथम बार 'साकेत' शीर्षक महा-काव्य मे प्रस्तुत किया और उन्हें इस कार्य में आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई। साकेत के सृजनकाल में ही कवि का ध्यान काव्य की एक अन्य उपेक्षिता यशोधरा की ओर भी गया जिस पर न तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ही दृष्टि गयी थी और न आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य की उपेक्षिताओं को अपनी लेखनी का विषय बनाना भी कवि का एक प्रमुख लक्ष्य रहा है और उसने उपेक्षिता विधृता का चित्रण करने के उद्देश्य से द्वापर की रचना की है पर इसके अतिरिक्त द्वापर की सृजन प्रेरणा के कुछ अन्य कारण भी अनुमानित किए जाते हैं।

एक समीक्षक ने गुप्त जी की तुलसी का अवतार माना है और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें समन्वयवादी कवि मानते हुए कहा भी है, "गुप्त जी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि हैं; प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने वाले मद में झूमने (या झींमने) वाले कवि नहीं। सब प्रकार की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है। प्राचीन के प्रति पूज्य-भाव और नवीन के प्रति उत्साह दोनों इनमें

हैं।" इस प्रकार कहा जाता है कि समन्वयवादी कवि होने के कारण ही राम-भक्त होते हुए भी उन्होंने कृष्ण-चरित्र का वर्णन करने की दृष्टि से द्वापर लिखा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि गुप्तजी राम-भक्त ही हैं और साकेत में तो उन्होंने राम की कथा लिखी है पर नहुष व यशोधरा के मंगलाचरण में भी उनकी राम-भक्ति दर्शनीय है। यशोधरा के मंगलाचरण में कवि ने लिखा भी है—

राम तुम्हारे इसी धाम में, नाम-रूप गुण-लीला-लाभ,
इसी देश में हमें जन्म दो, लो प्रणाम, हे नीरज नाभ!
धन्य हमारी भूमि-भार भी जिससे तुम अवतार धरो,
भुक्ति मुक्ति माँगें क्या तुमसे, हमें भक्ति दो, हे अमिताभ!

इतना ही नहीं कृष्ण-चरित्र का गान होते हुए भी द्वापर उन्होंने रामभक्त होकर ही लिखा है और वह स्वयं कहते हैं—

धनुर्बाण वा वेणु लो श्याम-रूप के संग,
मुझ पर चढ़ने से रहा राम! दूसरा रंग।

कहा जाता है कि तुलसी ने भी एक बार कृष्ण की मूर्ति देखकर इसी प्रकार कहा था—

कहा कहौं छवि आज की भले बने हौ नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बान लो हाथ॥

इसीलिए समीक्षक यह अनुमान करते हैं कि जिस प्रकार तुलसी ने राम-भक्त होते हुए कृष्ण गीतावली की रचना की है उसी प्रकार साकेतकार ने भी द्वापर की रचना कृष्ण-चरित्र का वर्णन करने के उद्देश्य से ही की और यह कृति उनके समन्वयवादी दृष्टिकोण का ही परिचय देती है। हमारी दृष्टि में यह द्वापर की सृजन-प्रेरणा का मूल कारण तो नहीं; पर गौण कारण अवश्य हो सकता है क्योंकि द्वापर में श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र की कृष्णायन की भाँति कृष्ण-चरित्र का सम्पूर्ण वर्णन नहीं है तथा 'विधृता' का उल्लेख विधृता शीर्षक खंड में ही नहीं अपितु बलराम और ग्वालबालों के कथन में भी मिलता है; अतः द्वापर में विधृता पर ही कवि की अधिक दृष्टि रही है और डॉ० इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में "द्वापर की विधृता तो उनके द्वारा ही खोज कर निकाली गई है जो

जा सकती थी। संतति-वियोग-जन्य दीनता की समस्या थी। इस समस्या को व्यक्त करने के लिए अभागिनी देवकी और संशय-पीड़ित कंस की ओर कवि का ध्यान जाता है और तब स्वभावतः वहाँ कृष्ण का अवतार होता है। कृष्ण के आते ही अनेक अन्य आगन्तुक अपने आप चले आते हैं, क्योंकि कृष्ण के स्वरूप को स्पष्ट करना है, ठीक तौर से व्यक्त करना है, उसकी व्याख्या करना है।

कवि का व्यक्तिगत सुख-दुःख केवल उसकी वस्तु नहीं है। उसमें समाज का सम्पूर्ण जीवन झलकता चलता है। उसकी वेदना से, उसके प्राप्त प्रकाश से हम सब उपकृत होते चलते हैं। कवि की अन्तर्दृष्टि ने भारत-जननी की भी वही स्थिति देखी, उसे भी तो एक अमर लाल की आवश्यकता थी जो उसके दैन्य का अन्त कर दे। 'द्वापर' में चित्रित श्राकृष्ण इसी रूप म हमारे सम्मुख प्रस्तुत किये गये है.....।" इस प्रकार गिरीश जो के कथनानुसार पारिवारिक वेदनापूर्ण परिस्थितियो के कारण गुप्त जी द्वापर के सृजन को ओर प्रवृत्त हुए और इस सम्बन्ध मे कुछ भी लिखत समय हमे यह न भूलना चाहिए कि द्वापर के रचना-काल क अन्तर्गत ही कवि ने सात्वना नामक एक शोक-गीति की भी रचना की है और डा० कमलाकांत पाठक के शब्दो म "सांत्वना का समाधान द्वापर है।"

'सात्वना' का रचना कवि ने पुत्र-निधन पर को थी और उसका परिचय देते हुए डॉ० पाठक ने लिखा है, "यह रचना अप्रकाशित है और वैयक्तिक भी। संवत् १९९२ को जन्माष्टमी को 'सांत्वना' की रचना सम्पूर्ण हुई। इसे 'द्वापर' रचनाकाल के अन्तर्गत ह। लिखा गया। एक सौ छप्पन रोला छंदों में कवि ने अपने आहत वात्सल्य की करुण भावाभिव्यंजना की है। कवि ने अपने पुत्रों को बारी-बारी से खोया है। श्रीहर्ष को मृत्यु हुई और और सुदर्शन का आगमन। सुदर्शन का अनुज सुमंत्र चेचक में चल बसा और जलोदर से पीड़ित सुदर्शन भी एक मास के भीतर ही दिवंगत हुआ। कवि की वेदना चीत्कार कर उठी। उसने पारिवारिक वातावरण की सृष्टि की और अपनी ही नहीं, अपनी धर्मपत्नी की पीडा का भी मार्मिक आख्यान किया। उसने विलाप और संलाप शैलियों की नियोजना की तथा भावोद्दीपक प्रकृति-चित्रों की सृष्टि। इस लोक-गीति को वस्तु-व्ययंजक एवं नाटकीय पद्धति में कवि ने रचा है। पुत्र की अंतिम बेला के चित्रण

से काव्यारंभ होता है, जिसमें माता की निराशा और पिता की न्याकुलता व्यक्त हुई है। छोटा पुत्र इसी बीच चल बसा और दंपति कराह उठे। थोड़े समय में दूसरे पुत्र का भी निधन हुआ और दंपति के शोक का बार-पार न रहा। पिता उसकी बाल-क्रीड़ा का स्मरण करके रोने लगा। पर इस विलाप में भी उसकी जीवन-निष्ठा अडिग रही और उसकी उक्तियों में दार्शनिकता का समावेश हुआ। माता के क्षोभ को भी पिता ने निवारित किया और अपूर्व धैर्य एवं का परिचय दिया :

अपने यम को यही, हमारा उत्तर होगा,
जो अपना था वही, जगत में हमने भोगा।
अब जो तुझसे प्राप्य, वही लेने आए हैं,
जो निज प्रभु को देय, उसे देने आए हैं।

अंत में वह अपने शोक पर विजत लाभ करता है, क्योंकि जीवन का अर्थ ज्ञान-कर्म की शक्तियों के द्वारा स्वधर्म की साधना में ही स्पष्ट होता है और सुख-दुःख तो दोनों ही आते-जाते रहते हैं। कवि दम्पति-जीवन को कृष्णार्पित अनुभव करता है और कामना करता है चाहे 'दिन उल्टे हों, किन्तु चलें हम सीधी गति से।'

संपूर्ण काव्य का भावानुबंध उत्कृष्ट है। उसमें शोक का उदय, विकार और उदात्तीकरण अभिव्यंजित हुआ है।" डॉ० पाठक ने इसी 'सांत्वना' काव्य कृति का समाधान 'द्वापर, को कहा है और सांत्वना के इस परिचयात्मक विश्लेषण का अनुशीलन करने से सहज ही यह अनुमान होता है कि द्वापर के रचनाकाल के समय कवि का हृदय पारिवारिक वेदनाओं से ग्रस्त था और उसके हृदय में करुणा-मन्दाकिनी तरंगित हो रही थी अतः द्वापर के सृजन में पारिवारिक परिस्थितियाँ कारण अवश्य हो सकती हैं पर हम उन्हें मूल कारण न मान कर 'विधृता' का उद्धार ही मूल कारण मानते हैं। इस सम्बन्ध में एक सीधा-सादा तर्क तो केवल यही हो सकता है कि यदि कवि केवल पारिवारिक परिस्थितियों के कारण ही द्वापर के सृजन की ओर प्रवृत्त हुआ था तो फिर वह सम्पूर्ण कृष्ण-कथा का गुण-गान करता और विधृता को खोज निकालने की उसे कोई आव-

श्यकता नहीं थी। यदि विधृता का कृष्ण-कथा से कोई सम्बन्ध था तो उसका नामोल्लेख भर पर्याप्त था और उस पर चौदह पृष्ठों का एक पूरा खंड लिखना अनिवार्य न था। इतना ही नहीं कवि ने अन्य पात्रों द्वारा भी विधृता का उल्लेख कहीं-कहीं करवाया है और स्वयं भी अपने लेखनीय निवेदन में उसका उल्लेख किया है। अतः इससे तो यही माना जाना चाहिए कि उर्मिला और यशोधरा की भाँति उपेक्षिता विधृता का चित्रण ही द्वापर के सृजन का मूल कारण है।

यहाँ यह भी न भूलना चाहिये कि नारी जाति की महत्ता का प्रतिपादन करने की ओर गुप्तजी ने हमेशा ध्यान दिया है और सुपरिचित कवि 'दिनकर' ने अपने निबंध 'पुनरुत्थान के कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त' में कहा भी है, "पुनरुत्थान का इन सबमें कहीं गंभीर प्रभाव वह है जो मैथिलीशरण जी की, नारियों को देखने की, दृष्टि में लक्षित होता है।..... गुप्त जी की नारी-भावना की पूरी अभिव्यक्ति.....साकेत, यशोधरा, द्वापर और विष्णुप्रिया में हुई है।.... प्रत्येक काव्य की मूल प्रेरणा ही किसी न किसी नारी के प्रति कवि की एकान्त भक्ति थी।" इस कथन से भी यही स्पष्ट होता है कि कवि का लक्ष्य प्रपीड़िता और निरादृता नारियों का चरित्रांकन ही रहा है। अतः द्वापर के सृजन में भी उसका मूल उद्देश्य विधृता का चरित्रांकन ही था और पारिवारिक परिस्थितियों के कारण उसकी कृति में सजीवता भले ही आ गयी हो पर इन्हें 'गौण कारण' ही मानना उचित है क्योंकि यदि हम इन्हें मूल कारण मानते हैं तो यह गुप्तजी के प्रति अन्याय ही होगा क्योंकि गुप्तजी व्यक्तिवादी कवि नहीं हैं और वह तो व्यक्ति व समाज को अभिन्न ही समझते हैं। अतः द्वापर की सृजन-प्रेरणा पर विचार करते समय भी हमें यही दृष्टिकोण रखना होगा तभी हम निश्चित लक्ष्य तक पहुँच सकेंगे।

द्वापर का नामकरण और शीर्षक की सार्थकता

प्रश्न ७—नामकरण और शीर्षक की उपयुक्तता की दृष्टि से द्वापर की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न ८—जिस परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गई है वह लेखक के जीवन में बहुत ही संकल्प-विकल्पपूर्ण रही। क्या जाने इसी कारण

से यह नाम आ गया अथवा अन्य किसी कारण से। यह भी द्वापर —संदेह की ही बात है। श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के इस कथन को ध्यान में रखते हुए 'द्वापर' काव्य के नामकरण और शीर्षक की उपयुक्तता पर विचार कीजिए।

उत्तर—वस्तुतः किसी भी कृति के सम्बन्ध में विचार करते समय हम सर्वप्रथम उसके नामकरण एवं शीर्षक की सार्थकता पर ही विचार करते हैं और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो शीर्षक देखकर ही बहुत से व्यक्ति उसकी सुन्दरता का अनुमान लगा लेते हैं। यों तो Charles Barret का यह कथन कि A good title is apt, specific, attractive, new and short कहानियों के प्रति ही कहा गया है लेकिन यह तो साहित्य के किसी भी अंग के प्रति लागू हो सकता है और यदि हम यह कहें कि शीर्षक ही प्रत्येक कृति का आत्म-परिचय पाठकों को देता है तो कोई अत्युक्ति न होगी। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत के सुप्रसिद्ध आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य-दर्पण' के षष्ठ परिच्छेद में महाकाव्य के तत्वों पर विचार करते समय कहा है कि महाकाव्य का नामकरण कवि अथवा कथानक या चरितनायक के नाम पर होना चाहिए परन्तु कालान्तर में तो यह बन्धन सभी महाकवियों को मान्य नही रहा तथा देश, काल, भाव आदि के नाम पर भी महाकाव्यों का नामकरण किया जाता रहा, परन्तु न जाने क्यों समीक्षकों ने शीर्षक के सम्बन्ध मे सामान्य लक्षण निर्धारित नही किए।

यों तो शीर्षक का सुन्दर, मोहक और आकर्षक होना आवश्यक माना गया है तथा उसके सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि उसमें न केवल कृति-विशेष का ही कोई उद्देश्य साधन हो अपितु साथ ही विशिष्टया भी अपेक्षित है और जिस प्रकार किसी बड़ी दूकान में वातायनों तक को सजाना पड़ता है उसी प्रकार शीर्षक का भी आकर्षक होना आवश्यक है। शीर्षक के सम्बन्ध में ऐसा कोई नियम नहीं है कि वह कितने शब्दों का हो। साथ ही वह किसी भी कृति के मुख्य पात्र के नाम पर प्रधान विषय, भाव या रस के आधार पर अथवा प्रधान घटना या मुख्य वस्तु अथवा दृश्यावली के अनुसार रखा जा सकता है। केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि शीर्षक आकर्षक, रोचक और कौतूहलप्रद हो अपितु उसका

कृति की कथावस्तु या विषयवस्तु के साथ सामंजस्य भी अपेक्षित है अर्थात् शीर्षक एवम् कहानी का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध आवश्यक है। इस प्रकार किसी भी काव्य-कृति की कथावस्तु के अनुरूप ही शीर्षक रहना चाहिए और शीर्षक के अनुसार ही विषयवस्तु का प्रसार भी हो। साथ ही शीर्षक ऐसा हो कि उसका सहज अवलोकन करते ही पुस्तक पढ़ने की उत्सुकता पाठक के हृदय में उत्पन्न हो लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कभी भी किसी कृति का नामकरण भ्रामक हो अन्यथा परिणाम विपरीत भी हो सकता है और वह पाठकों को प्रभावित करने की अपेक्षा उनके मन पर अभीष्ट रूप से प्रभाव डालने में असफल ही रहता है अतः शीर्षक के चयन मे अत्यधिक सावधानी अपेक्षित है। नामकरण व शीर्षक की उपयुक्तता की दृष्टि से 'द्वापर' पर विचार करते समय हमारा ध्यान सर्व-प्रथम इस ओर आकृष्ट होता है कि स्वयं कवि ने अपने 'निवेदन' में प्रारम्भ में ही स्वीकार कर लिया है कि "द्वापर में चित्रण के लिए जिस विशाल पट की आवश्यकता है, उनकी पूर्ति इन परिमित पृष्ठों से क्या हो सकती है। परन्तु जिस परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गयी है, वह लेखक के जीवन में बहुत ही संकल्प-विकल्पपूर्ण रही। क्या जानें, इसी कारण से यह नाम आ गया अथवा अन्य किसी कारण से। यह भी द्वापर—संदेह की बात है।" इससे यह स्पष्ट है कि कवि स्वयं द्वापर शब्द का अर्थ संशय या संदेह ही ग्रहण करता है और उसने कहा भी है :—

युग हो यह द्वापर संशय का।

साथ ही डॉ० कमलाकान्त पाठक का भी यही मत है—"इसका 'द्वापर' नाम कृष्णचरित का काव्य होने के कारण ही नहीं रखा गया, वरन् कवि को अव्यवस्थित मानसिक स्थिति के कारण तथा प्रतिष्ठित समाज-व्यवस्था में संशय करके सामाजिक क्रांति का समारंभ करने के कारण भी द्वापर अर्थात् सन्देह को चरितार्थ किया गया।"

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि 'द्वापर' के चतुर्थ संस्करण की भूमिका में कवि ने लिखा है कि "द्वापर का आरम्भ सुदामा को लेकर हुआ था। परन्तु पुस्तक में उसे इस कारण नहीं दिया गया था कि लिखते-लिखते उसे तीन खण्डों में समाप्त

करने का विचार किया गया था। पहला खण्ड 'गोपाल', दूसरा 'द्वारकाधीश' और तीसरा 'योगिराज'। परन्तु अनेक कारणों से अब तक कुछ न हो सका। आगे भी कोई बड़ी आशा नहीं। अस्तु इस बार पुस्तक के अन्त में वह आरम्भ का अंश भी जोड़ दिया गया है।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि द्वापर में संपूर्ण कृष्ण-चरित्र अंकित करना चाहता था, लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी इच्छा द्वापर युग के विस्तृत कथानक को पद्यबद्ध करने की थी। यों तो कालांतर में कवि ने 'जय भारत' में द्वापर युग के एक विस्तृत अंश का ही चित्रण किया है, परन्तु द्वापर में भी कवि उद्देश्य द्वापर-युग के चित्र का चित्रण करना ही था, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। हाँ, जहाँ तक द्वापर का प्रश्न है उसमें द्वापर युग के अवतार कृष्ण—जिन्हें कि हमारे धर्मग्रन्थों में पूर्णावतार की संज्ञा दी गयी है—ही केन्द्रवर्ती चरित्र हैं और डॉ० पाठक के शब्दों में, "उनके क्रांतिकारी प्रेमी और मानवीय स्वरूप का चित्रण ही द्वापर में सर्वप्रधान है। पर सोलह चरित्रों को, कृष्ण की सोलह कलाओं को, उपस्थित करके कवि ने सभी पात्रों का भावोच्छ्वास भी व्यक्त किया है।" इस प्रकार द्वापर के सभी खंड कृष्ण से ही सम्बन्ध रखते हैं अतः इससे भी यही आभास होता है कि द्वापर में कृष्ण की कथा है पर यहाँ यह प्रश्न उठता है कि आखिर द्वापर से कवि ने संदेह का अर्थ क्यों ग्रहण किया है ?

कुछ समीक्षकों ने द्वापर की कथा को त्रुटिपूर्ण मानते हुए उसमें प्रबन्ध निर्वाह के साथ-साथ पात्रों के क्रम में ऐतिहासिक तारतम्यता का अभाव भी देखा है और उनकी दृष्टि में द्वापर नाम पूर्णतः सार्थक नहीं है पर हमारी दृष्टि में इस प्रकार के मत युक्तिसंगत नहीं हैं। वस्तुतः किसी भी कृति के सम्बन्ध में कुछ भी विचार करते समय हमें कवि के दृष्टिकोण के साथ-साथ कृति के अन्तरंग व बाह्य सौन्दर्य को भी पूर्णतः हृदयंगम करना चाहिए। हम यह मानते हैं कि कवि ने द्वापर में देवकी व यशोदा के पूर्व राधा को रखा है और सर्वप्रथम राधा का स्वगत कथन अंकित कर तदुपरांत यशोदा, विधृता, बलराम, ग्वाल-बाल, नारद, देवकी, उग्रसेन, कंस, अक्रूर, नंद, कुब्जा आदि के स्वगत कथन रखे हैं अतः इससे पात्रों के क्रम में ऐतिहासिक तारतम्यता का अभाव-सा है। परन्तु

द्वापर प्रबन्धकाव्य या खंडकाव्य नहीं है, अपितु वह तो आत्मोद्गार प्रणाली में लिखा गया गीतिकाव्य ही है। अतः उसके सम्बन्ध में कुछ भी विचार व्यक्त करते समय हमें रचनाशिल्प की इस नूतन विशिष्टता का ध्यान रखना होगा अन्यथा हमारा मत एकांगी और अनुचित ही माना जायगा। एक समीक्षक का कहना है कि "पात्र कृष्ण के सम्बन्ध में—सब कुछ कह अवश्य जाते हैं और उससे कृष्ण के व्यक्तित्व पर अवश्य प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिये राधा व गोपियों के स्वगत कथन द्वारा कृष्ण का प्रेमी रूप, माता के द्वारा बालरूप, विधृता द्वारा यज्ञ विरोधी रूप, बाल रूप द्वारा लोकहित प्रेरक रूप, नारद, देवकी, उग्रसेन, कंस, अक्रूर द्वारा मथुरा से सम्बन्धित रूप, कृष्ण द्वारा कंस-वध-कर्त्ता रूप तथा सुदामा द्वारा कृष्ण के दीनदयालु रूप पर प्रकाश पड़ता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित घटनाएँ विभिन्न पात्रों के स्वगत कथन के माध्यम से अंकित कर दी है और उसका उद्देश्य द्वापर युग के महान् पात्र कृष्ण की कथा कहना ही रहा है अतः उसने द्वापर नाम ही अपनी कृति का रखा है। पर उक्त समीक्षक तो 'द्वापर' नाम किसी भी भाँति उपयुक्त नहीं मानते और यही कहते हैं "कृष्ण के पराक्रम से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन कवि को इष्ट नहीं है, वह केवल पात्रों के मुख से यत्र-तत्र उसे कहलवा देता है—यदि यह मान लिया जाय कि जैसे अनेक प्रकाश किरणें एक ही स्थान पर पड़कर, उस स्थान पर स्थिर वस्तु को जगमगा देती है, वैसे ही अनेक पात्रों द्वारा कृष्ण का गौरव गायन ही इस काव्य का उद्देश्य है, परन्तु तब इस काव्य का शीर्षक द्वापर न होकर कृष्ण, भगवान, जन-नायक, जनता-जनार्दन, मथुरापति, द्वारकाधीश या कुछ और होना चाहिए था। जैसा कि स्वयं कवि की पूर्व योजना से भी पुष्ट होता है। चतुर्थ आवृत्ति की भूमिका में कवि ने कहा है कि द्वापर का आरम्भ सुदामा को लेकर हुआ था। इसके तीन खंडों में प्रथम को गोपाल, दूसरे खण्ड को द्वारकाधीश तथा तीसरे खण्ड को योगिराज शीर्षक दिये जाने का विचार था। यह अधिक उपयुक्त भी होता और तब द्वापर शीर्षक की कुछ सार्थकता हो सकती थी, यद्यपि तब भी द्वापर नाम पूर्णतः सार्थक न होता।" इस प्रकार इन समीक्षक महोदय ने द्वापर

के शीर्षक को अनुपयुक्त ही माना है और वह तो यह भी कहते हैं कि कवि यदि अपनी पूर्व योजना के अनुसार अपनी कृति प्रस्तुत करता तब भी यह शीर्षक उचित न होता।

वस्तुतः इन समीक्षक महोदय का दृष्टिकोण एकांगी ही जान पड़ता है और उनके विचार को पढ़कर सहज ही यह पता चल जाता है कि उनका उद्देश्य द्वापर की कटु टीका करना ही रहा है तथा वह तो किसी भी प्रकार कृति के सौन्दर्य का हृदयंगम करने के पक्ष में नही है और हर बात में विरोध ही प्रकट करते हैं। सम्भवतः इसी प्रकार के समीक्षकों को लक्ष्य कर राजशेखर ने काव्य-मीमांसा मे कहा है :—

'किञ्च सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारिणी। तथाहि व्युत्पित्सोः कौतुकिनः सर्वस्य सर्वत्र प्रथम सा। प्रतिभाविवेकविकलता हि न गुणागुणयोर्विभागसूत्रं पातयति। ततो बहु त्यजति बहु च गृह्णाति। विवेकानुसारेण हि बुद्धयो मधु निष्यन्दन्ते। परिणामे तु यथार्थदर्शी स्यात्। विभ्रमभ्रंशश्च निःश्रेयसं सन्निधत्ते।'

अर्थात् सतृणाभ्यवहारिता सर्वसाधारण है। जैसे आलोचक या भावक नये होते हैं और कुतूहलवश सर्वत्र सभी रचनाओं पर—कुछ कह बैठते हैं। विवेक रहित प्रतिभा, गुणों और दोषों का विभाजन नहीं कर सकती। ऐसे आलोचक रचना में से बहुत कुछ ले लेते हैं और बहुत कुछ छोड़ देते है। बुद्धि अपने विकास के अनुसार ही मधु-संग्रह करती है। परिणाम में वास्तविकता को देखना चाहिए। अविवेक का भ्रंश (नष्ट) होना ही कल्याणकारी होता है। इसीलिये हमारी दृष्टि में 'द्वापर' के नामकरण व शीर्षक के सम्बन्ध में विचार करते समय सतृणाभ्यवहारिता न रखकर विवेकपूर्ण दृष्टिकोण ही अपनाना चाहिए।

वस्तुतः द्वापर का नामकरण कवि ने देश-काल को ध्यान मे रखकर किया है और द्वापर नाम पर दृष्टि जाते ही यह अनुमान हो जाता है कि कवि का मूल लक्ष्य द्वापर युग का चित्रण करना ही रहा है तथा कवि ने जो अपने निवेदन में संदेह की बात कही है उसका साधारण अर्थ यह है कि "इसकी कुछ कथाओं में संशय को आधार बनाकर घटनाओं का निरूपण हुआ है।" चूंकि कवि

ने स्वयं ही यह मान लिया है कि उसकी काव्य-कृति की खंड-कथाओं का आधार श्रीमद्भागवत है अतः इससे भी यही स्पष्ट होता है कि वह द्वापर युग के महान् अवतारी पुरुष श्रीकृष्ण की ही कथा अंकित करना चाहता था और इसीलिए उसने अपनी कृति का नामकरण द्वापर रखा है। यों तो 'साकेत' के नामकरण की अनुपयुक्तता सिद्ध करने वाले कुछ समीक्षक भी हिन्दी साहित्य में हैं और उनकी दृष्टि में सका नाम उर्मिला-उत्ताप या विरहिणी उर्मिला अधिक उचित होता, परन्तु जिस प्रकार अधिकांश समीक्षकों ने साकेत नाम ही उपयुक्त माना है उसी प्रकार द्वापर नाम भी इस काव्य-कृति का उपयुक्त ही है।

वस्तुतः किसी भी कृति के नाम को लेकर यह मत प्रकट करना कि उस कृति में तद्युगीन कथा का पूर्णतः चित्रण होना चाहिए भ्रमपूर्ण कथन का प्रचार करना ही है क्योंकि कभी यह आवश्यक नहीं समझा गया कि शीर्षक के अनुसार युग या काल की संपूर्णता आवश्यक समझी जाय। यदि इस कसौटी पर हम विश्व की किसी भी भाषा की कृतियों को परख करने बैठेंगे तो अधिकांश कृतियाँ दोष-युक्त प्रतीत होंगी, अतः द्वापर के प्रति यह सब अपनाना अन्याय ही होगा। वह तो युग विशेष की कथा का चित्रण तो करता ही है और उसमें नाटकीय ढंग से कृष्ण की कथा के सभी प्रमुख अंश भी कहला दिये गये हैं तथा तद्युगीन भावनाओं का समावेश भी है; अतः हम 'द्वापर' शीर्षक को उपयुक्त ही समझते हैं। साथ ही वह आकर्षक, मोहक और विषयवस्तु से सम्बद्ध भी है तथा कवि ने लेखकीय निवेदन में जो यह कहा है "क्या जाने इसी कारण से यह नाम आ गया अथवा अन्य किसी कारण से। यह भी द्वापर—संदेह की ही बात है।" उसमें कवि की विनम्रता ही झलकती है और यह विनम्रता प्रायः प्रत्येक सत्कवि में दृष्टिगोचर होती है। 'रामचरितमानस' के प्रायः सभी पाठक जानते हैं कि तुलसी ने अपनी विनम्रता प्रकट करते हुए यही कहा है **'कवि न होउँ नहिं चतुर कहाऊँ। मति अनुरूप राम गुन गाऊँ।'** और संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि कालिदास ने भी 'रघुवंश' में अपनी निरभिमानिता इन शब्दों में व्यक्त की है—

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्राशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥

भी हो और उसे चाहे प्रबन्ध माना जाय या मुक्तक पर उसमें एक निश्चित कथा अवश्य है। शैलीगत विशिष्टताओं व रचनाशिल्प की नवीनता की दृष्टि से द्वापर को खण्ड-काव्य, प्रबंध-काव्य, नाटकीय, गीति-काव्य, आत्मोद्गार प्रणाली में लिखा गया प्रगीति काव्य और स्वगतवार्त्तासंग्रह आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है; पर प्रायः सभी ने यह मान लिया है कि उसका एक कथानक भी है और भले ही वह किसी भी रूप में प्रस्तुत किया गया हो लेकिन कथा-संविधान की दृष्टि से उसकी कथावस्तु सर्वथा उपेक्षणीय भी नहीं है। अपने कथन की सार्थकता प्रमाणित करने के लिये यहाँ द्वापर की विषयवस्तु का सारांश प्रस्तुत करना आवश्यक है।

द्वापर के प्रारंभिक तीन संस्करणों में मंगलाचरण के अतिरिक्त श्रीकृष्ण, राधा, यशोदा, विधृता, बलराम, ग्वालबाल, नारद, देवकी, उग्रसेन, कंस, अक्रूर, नन्द, कुब्जा, उद्धव व गोपी नामक पन्द्रह खंड थे और चौथे संस्करण में कवि ने 'सुदामा' नामक एक खंड जोड़कर उनकी संख्या सोलह कर दी है तथा स्वयं ही 'चतुर्थावृत्ति' की भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि "द्वापर का आरम्भ सुदामा को लेकर हुआ था। परन्तु पुस्तक में उसे इस नहीं दिया गया था कि लिखते-लिखते उसे तीन खंडों में समाप्त करने का विचार किया गया था। पहला खंड 'गोपाल', दूसरा 'द्वारिकाधीश' और तीसरा 'योगिराज'। परन्तु अनेक कारणों से अब तक कुछ न हो सका। आगे भी कोई बड़ी आशा नहीं। अस्तु इस बार पुस्तक के अन्त में वह आरम्भ का अंश भी जोड़ दिया गया है।" इसीलिये कुछ समीक्षक सुदामा खंड को परिशिष्ट रूप में ग्रहण करते हैं और उनकी दृष्टि में यदि इसे द्वापर का अंश माना जाय तो इससे द्वापर का वस्तु-विधान विशृङ्खल हो सकता है—उसमें अतर्क्य दोषों और असंगतियों की संभावना है। डॉ० उमाकांत के शब्दों में "मेरे विचार में वह द्वापर के कथा का अंश नहीं है। क्योंकि कृष्ण के उस जीवन का—मथुरा से आगे के जीवन का—परिदर्शन कवि द्वापर में नहीं कराना चाहता।" इस विषय पर तो हम बाद में विचार करेंगे कि द्वापर की कथा-योजना त्रुटिपूर्ण है या सफल और सर्व-प्रथम तो हमें प्रत्येक खंड का

परिचयात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना होगा जिससे कि कथा-सौन्दर्य का परिचय मिल सके।

मंगलाचरण के उपरान्त द्वापर में पहला खंड श्रीकृष्ण नामक है और इसमें कोई संदेह नहीं कि कृष्ण ही द्वापर के केन्द्रवर्ती चरित्र हैं तथा आत्मोद्गार के रूप में प्रत्येक पात्र उन्हीं के गुणों व कार्यों का स्मरण करता है। स्वयं कृष्ण भी वेणु के भाव भरे स्वर सुनाकर समस्त प्राणियों को अपने शरण में ले उनके पापों को दूर करने की घोषणा करते हुए कहते हैं—

राम-भजन कर पांचजन्य ! तू, वेणु बजा लूँ आज अरे,
जो सुनना चाहे सो सुन ले, स्वर ये मेरे भाव भरे।
कोई हो सब धर्म छोड़ तू आ, बस मेरा शरण धरे,
डर मत, कौन पाप वह, जिससे मेरे हाथों तू न तरे ?

इसके उपरान्त अन्य सभी पात्रों की अपेक्षा राधा सबसे पहले उपस्थित होती हैं और वह मानों कृष्ण के कथन का उत्तर देते हुए कहती हैं—

शरण एक तेरे मैं आई, धरे रहें सब धर्म हरे !

और अपनी एकनिष्ठता व अनन्यता का प्रतिपादन करते हुए कहती हैं कि उन्होंने तो अपने आपको कृष्ण के चरणों में सौंप दिया है और प्रभु उसे स्वीकार करें या न करें पर वह तो अपने समस्त कर्म उन्हें ही समर्पित करती है—

तुझको—एक तुझी को—अर्पित, राधा के सब कर्म हरे !

यद्यपि राधा का वक्तव्य अत्यंत संक्षिप्त है और कवि ने उनसे बहुत ही कम उद्गार व्यक्त करवाये हैं पर उसके इस संक्षिप्त कथन में भी प्रेम-भक्ति का समुज्ज्वल रूप दीख पड़ता है और शायद कवि राधा की प्रेम-भावना का चित्रण कर इस खंड में मानस को प्रेम-पयोधि में मग्न रखने का संदेश देता है। कृष्ण-प्रेम में मतवाली राधा केवल यही कामना करती है—

रहा सहारा इस अंधी का, बस यह उन्नत अंस हरे !
मग्न अथाह प्रेम-सागर में, मेरा मानस-हंस हरे।

तीसरा खंड यशोदा नामक है और इसमें यशोदा कृष्ण-वियोग में अश्रुधारा बहाने वाली यशोदा नहीं है अपितु वह तो कृष्ण जैसा पुत्र पाकर सब कुछ पा

चुकी है अतः यही कामना करती है—

मेरे भीतर तू बैठा है, बाहर तेरी माया,
तेरा दिया राम सब पावें जैसा मैंने पाया।

कवि ने इस खंड में सुखी व सात्त्विक भावनाओं से पूर्ण गृहिणी का वह स्वर्गीय जीवन अंकित किया है जिसमें विश्व-कल्याण की भावना निहित है अतः यशोदा का आत्मतृप्त जीवन अंकित कर उसने यह दिखाना चाहा है कि वह नंद जैसा पति और कृष्ण जैसा पुत्र पाकर प्रसन्न है। सांकेतिक रूप में कवि ने इस खंड में बाल कृष्ण की कुछ क्रीड़ाओं का भी उल्लेख किया है और कृष्ण के माखन चुराने, कालियदमन तथा राधा-कृष्ण के शैशवकालीन स्नेह की झलक भी प्रस्तुत की है।

चौथे खंड में 'विधृता' के आत्मोद्गार लगभग चौदह पृष्ठों में अंकित हुए हैं और चूंकि कवि का उद्देश्य उपेक्षिता विधृता का सजीव चरित्रांकन रहा है अतः द्वापर का यह प्रसंग स्वाभाविक ही मार्मिक है। वस्तुतः विधृता के व्यक्तित्व में नारी जाति का व्यापक असंतोष ही विद्यमान है इसकी कथा श्रीमद्भागवत में वर्णित एक श्लोक के आधार पर पल्लवित हुई है। श्रीमद्भागवत के तेईसवें अध्याय की एक कथा में यह घटना है। श्रीकृष्ण अपने बालसखाओं के साथ वन में खेलते-कूदते दूर निकल गये। वहां उन्हें भूख लगी। पास में ब्राह्मणों का यज्ञ हो रहा था, वहीं कृष्ण ने सखाओं द्वारा भोजन माँगा। ब्राह्मणों ने उन्हें दुत्कार दिया। तब कृष्ण के संकेत से वे उनकी पत्नियों के पास गये। इन स्त्रियों ने उन्हें विविध व्यंजन भेंट किये। इन्हीं में एक को उनके पति द्वारा रोक लिया। वह भगवान् को भोग तो क्या ही लगा पाती, दर्शन तक न पा सकी। इसी दुःख में बेचारी विधृता—बजाय रोकी गयी और वह नारी मर गयी।

कवि ने इस घटना के आधार पर पुरुष के युग-युग से नारी पर किये गये अत्याचारों के विरुद्ध रोष प्रकट किया है। क्या नारी पुरुष की दासी मात्र है?, क्या उसे अपनी इच्छा से किसी को मुट्ठी भर अन्न देने का भी अधिकार नहीं? क्या पुरुष ने नारी गौरव के जो गीत गाये हैं, झूठे हैं? नारी पुरुष की अर्द्धांङ्गिनी कहाये जाने पर भी कुछ स्वत्व नहीं रखती—भूखे बालक

अतिथि के सत्कार में वह पापिनी हो जाती है ? पुरुषों का यज्ञों में बलि देते-देते शुष्क हृदय हो गया है ? क्या स्त्री और पुरुष का केवल इन्द्रिय सम्बन्ध ही है और कुछ नहीं ?

नारी जीवन से सम्बन्ध रखने वाली इन समस्याओं के अतिरिक्त बलि यज्ञों और कर्मकांडों के प्रति भी इसमें रोष प्रकट किया गया है तथा उनके ध्वंस की कामना की गई है। अंत में नारी के प्रति, उस नर का, जिसको वह जननी है, अविश्वास देखकर क्षोभ प्रकट करती विधृता आर्य नारी की अंतिम शरण मृत्यु को अपनाकर सिद्ध कर जाती है कि अन्याय के समक्ष मर मिटना अच्छा है, झुकना ठीक नहीं। सती ने भी यही किया था।

द्वापर का विधृता खंड इस संग्रह के सब प्रसंगों से अधिक मन को झकझोरने वाला, समस्यामूलक एवं प्रबन्ध योग्यता से पूर्ण है। कवि ने अपनी प्रधान भावना—नारी के अधिकार का समर्थन और संवेदना—को इसमें विचारणीय रूप दिया है। इस प्रकार द्वापर की विधृता के माध्यम से कवि ने नारी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है—

अधिकारों के दुरुपयोग का, कौन कहाँ अधिकारी ?
कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या अर्द्धांङ्गिनी तुम्हारी ?

\+ \+ \+

हाय ! वधू ने क्या वर-विषयक एक वासना पाई ?
नहीं और कोई क्या उसका पिता, पुत्र या भाई ?
नर के बाँटे क्या नारी की नग्न-मूर्ति ही आई ?
माँ, बेटी या बहिन हाय ! क्या संग नहीं वह लाई ?

विधृता के उपरांत पाँचवें खंड में बलराम ने ग्वाल-बालों को सम्बोधित कर उनकी महत्ता से उन्हें परिचित कराया है और उनकी वाणी से आधुनिकता के स्वर विद्यमान हैं। बलराम का कहना है कि हमें प्राचीन वैभव के साथ आधुनिक वैभव का समन्वय कर जीवन को पूर्णता प्राप्त करनी चाहिए और भले ही हमारा अतीत कितना ही गौरवमय क्यों न हो पर हमें अपने युग को कभी भी हीन न समझना चाहिए—

अपने युग को हीन समझना, आत्महीनता होगी;
सजग रहो, इससे दुर्बलता और दीनता होगी।
जिस युग में हम हुए, वही तो अपने लिए बड़ा है;
अहा! हमारे आगे कितना कर्मक्षेत्र पड़ा है।

इस प्रकार युग-धर्म पर आस्था रख बलराम ने यांत्रिक परिपाटी के समक्ष धरती की महत्ता प्रतिपादित की है और क्रांतिकारियों की भाँति वह भी ओज-पूर्ण वाणी में अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने के लिये तैयार रहने की प्रेरणा देते हैं—

न्याय-धर्म के लिए लड़ो तुम, ऋत-हित समझो-बूझो,
अभय राज, निर्दय समाज से निर्भय होकर जूझो।
राजा स्वयं नियोज्य तुम्हारा यदि तुम अटल प्रजा हो;
धात्री नहीं, किन्तु बलिदानी बस अन्यथा अजा हो।

\+ \+ \+

रही चुनौती आज हमारी अधिक क्या कहूँ, यम को;
नई सृष्टि के लिए प्रलय भी प्रेक्षणीय हो हमको!

छठवें खंड मे 'ग्वाल-बाल' कृष्ण की प्रशंसा करते हैं और उन्होने कृष्ण को अपना नेता मानते हुए मुरली, राधा आदि का उल्लेख किया है। साथ ही इसी खंड में विधृता प्रसंग, गोवर्धन धारण, बकासुर वध, अघासुर वध, कालियदमन व रासलीला आदि कृष्ण की ब्रज लीलाओं का सांकेतिक चित्रण कर अंत में गिरिधर गोपाल की जय से खंड समाप्त किया गया है—

घूमे भूमंडल भी गति से सम भर कर स्वर-ताल की।
बलिहारी, बलिहारी जय-जय गिरिधारी-गोपाल की॥

'ग्वाल-बाल' के उपरान्त नारद की भावनाएँ अंकित की गयी हैं पर कलह-प्रिय नारद प्रारम्भ मे ही यह स्पष्ट कर देते है—

लोक एक नाटक है प्रभु का, शोक रहे या हर्ष रहे;
जिसमें अपना स्वाँग सफल हो यहाँ एक संघर्ष रहे।

अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवि नारद के परम्परागत चित्रण के

स्थान पर जन-कल्याण के लिये संघर्ष उपस्थित करने वाले नारद का चित्रण करता है और इसीलिये इस खंड में पर्याप्त नवीनता व आधुनिकता है। नारद पापी कंस का नाश करवाने के लिये तत्पर है और वह कंस के अत्याचार को और भी अधिक बढ़ावा देते हैं, जिससे कि उसके पाप का घड़ा भर कर जल्दी फूट जाय तथा वह देवकी को भी चेतावनी-सी देने में भी नहीं चूकते—

देवि देवकी, एक बार फिर, तुझे कष्ट करना होगा;
वही क्रूर का कारागृह माँ, फिर तुझको भरना होगा।
वेणु और ब्रजबालाओं में तेरा नटनागर भूला;
मुझे क्षमा कर, जाता हूँ मैं कंस-निकट फूला-फूला।

आठवें खंड में कंस के कारागृह में बन्द देवकी के पीड़ित मन की व्यथा का मर्मग्राही चित्रण है और उसके उद्गारों में मातृत्व की करुणा का हृदय-स्पर्शी चीत्कार ही है—

मेरे बच्चे, जैसे आये चले गये वैसे ही,
क्यों आये, क्यों गये अरे, वे ऐसे के ऐसे ही?
न तो यहाँ देखा न सुना कुछ न कुछ कहा निज मुख से,
रहे अपरिचित ही अनीह वे इस भव के सुख-दुख से!

नवें खंड में उग्रसेन ने अपने उद्गार व्यक्त किये है और वह भी देवकी की भाँति अपने पुत्र कंस के क्रूर कृत्यों पर दुःखी हैं, लेकिन कवि ने उन्हें क्षमा व उदारता की प्रतिमा भी कहा है। इसीलिये पुत्र द्वारा बन्दी बनाये जाने पर भी वह अपने पुत्र की बुराई नहीं सोचते और उसके आत्मघाती कृत्यों पर केवल रुदन कर रह जाते हैं। वह उसके लिये भगवान से क्षमायाचना भी करते हैं और अन्त में वह यही कहते हैं कि यदि सत्ता से मतवाला हो वह अभी भी नहीं होश में आयेगा तो उसे इसका दंड भी स्वयं सहना होगा—

ओ सत्ता-मदमत्त! आज भी आँखें खोल अभागे;
वह साम्राज्य-स्वप्न जाने दे, जाग, सत्य यह आगे।
जो आतंक दिखाया तूने, देख उसी को अब तू;
और टूटने को प्रस्तुत रह, लच न सके हाँ जब तू।

दसवें खंड में कंस अपने अत्याचारों का समर्थन करता है और अपने आप को नियति का नियंता मानकर यही कहता है कि उसका विशाल साम्राज्य बलिदान व रक्त की धारा से ही निर्मित है और जो भी उसके पथ का काँटा बनेगा वह उसे अपने पैरों से कुचल देगा। वह कहता है—

फूंक-फूंक कर पैर धरोगे धरती पर तुम मूढ़ ?
तो फिर हटो, भाड़ में जाओ, पाओ निज गति गूढ़ ।
मै निश्चिन्त बढ़ूंगा आगे पहने पादत्राण;
बचें कीट कंटक, यदि उनको प्रिय हैं अपने प्राण ।
बनता नहीं ईंट-गारे से वह साम्राज्य विशाल;
सुनो, चुने जाते हैं उसमें रुधिराप्लुत कंकाल !
लिखो भले उसकी भीतों पर दया-धर्म के चित्र;
सदा भुलाते रहें जनों को जिनके चटुल चरित्र !

इस प्रकार कंस साम्राज्य-लोलुप, क्रूर, अत्याचारी, दंभी और पुण्य-पाप में तनिक भी आस्था न रख अपने पौरुष को ही सब कुछ समझता है, लेकिन इसी खंड के अंतिम अंश में वह भावी से भयभीत भी जान पड़ता है और कृष्ण को बुलाने के लिये अक्रूर को भेजता है।

ग्यारहवें खंड में अक्रूर ने अपने उद्‌गार प्रकट किये हैं और यह स्पष्ट ही है कि कृष्ण को व्रज से मथुरा लाने का कार्य उन्हें ही सौंपा गया है। वह व्रजभूमि पहुँच कर वहाँ की प्रकृति-सुषमा को देख मंत्रमुग्ध से हो जाते हैं और कंस के अत्याचारों का विवेचन कर उसे अविवेकी ही मानते हैं। उनका यही विश्वास है कि कंस कृष्ण की कुछ भी हानि नहीं कर सकता पर कृष्ण को व्रज से ले जाते समय उन्हें आन्तरिक पीड़ा भी होती है तथा वह कहते हैं—

कब लौटेगा ? कौन कहे यह, फिर भी यह प्रत्यय है;
उसके लिए नहीं भय कोई निश्चय जय ही जय है ।
अथवा लौटेगा तो तब वह जब जाने पावेगा ?
अब तक नयनों में था, पर अब मन में रम जावेगा ।

'नंद' नामक बारहवाँ खंड अत्यधिक कारुणिक और मर्मस्पर्शी है तथा इसमें कोई संदेह नहीं कि कृष्ण को मथुरा छोड़कर ब्रज लौट आने पर नंद का जैसा मनोविश्लेषणात्मक चित्रण गुप्त जी ने किया है वैसा किसी भी हिन्दी काव्य-ग्रंथ में नहीं दीख पड़ता। यों तो सामान्यतः नंद की वात्सल्य-पूर्ण भावनाएँ ही व्यक्त हुई हैं पर उनमें नवीनता और स्वाभाविकता है। यद्यपि उन्हें यह संतोष है कि वह वसुदेव देवकी को उनका पुत्र सौंप आये हैं पर अपने रोते हृदय को समझा नहीं पाते और उन्हें कृष्ण के बिना गोकुल रहने योग्य नहीं प्रतीत होता तथा चारों ओर शून्यता-सी दीख पड़ती है—

फिर भी मेरा गोकुल, मेरा वृन्दावन अब ऊना;
मेरा यमुना-तट, वंशीवट, दूर-निकट सब सूना।
मूक-स्तब्ध सजनता मेरी, कल-कल विकल विजनता;
एक तीसरा थल होता तो मेरा रहना बनता।

अंत में उनका रिक्त मन यही सोचकर संतोष धारण करता है—

मेरे आशा-कुंजन सूखो, उसे कहाँ लाऊँगा,
उसने मुझसे यही कहा है, मैं सत्वर आऊँगा।

तेरहवें खंड में 'कुब्जा' का चित्रण है, और कवि ने राजा कंस के लिये चंदन व फूल ले जाती कुब्जा के कूबड़ को मिटाकर उसे सुन्दरता प्रदान कर कृष्ण द्वारा स्नेह प्राप्त होने की कथा किंचित् मात्र परिवर्तन के साथ अंकित की है। द्वापर की कुब्जा के चित्रण में नवीनता है और वह कृष्ण-काव्यपरंपरा के अनुसार राधा की सपत्नी नहीं अपितु सेविका है अतः वह राधा से ईर्ष्या नहीं करती अपितु समर्पण की प्रतिज्ञा जान पड़ती है—

वह ब्रजनारी भी नारी है यह सरला भी नारी;
आत्म समर्पण के दोनों जन हम समान अधिकारी।
एक पुरुष से योषिता ने सहज किसे न मिलाया;
पर मेरा नारीत्व निहित था तूने आप जिलाया।

'उद्धव' नामक चौदहवाँ खंड दो भागों में विभक्त है और उसमें कृष्ण-काव्य का चिरवर्णित उद्धव-प्रसंग ही अंकित है। पहले भाग में उद्धव माता यशोदा को

समझाने का प्रयास करते हैं और अंतिम छंद में आत्म-दर्शन का सिद्धान्त प्रस्तुत कर कहते हैं कि यह वियोग ही है जिसमें ध्यान की सीमा बढ़ती है तथा आत्म-दर्शन की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। इसी खंड के दूसरे भाग में उद्धव गोपियों को सम्बोधित कर अपने उद्‌गार व्यक्त करते हैं पर उन्हें भ्रांत, स्मरणशीला गोपियाँ उस मृग के मृगी सदृश जान पड़ती हैं जो स्वयं तो ऊँचे से छलाँग लगा जाता है लेकिन वह—मृगी—नहीं जा पाती। गोपियों को परमात्मा से बिछुड़ी जीवात्मा की गति कहा गया है और उद्धव दृश्यमान को प्रपंच मानते हुए आत्म-प्राप्ति को ही सत्य निर्धारित करते हैं। अतः अन्य कृष्ण-काव्य में रचयिताओं की अपेक्षा गुप्त जी ने लम्बा-चौड़ा उद्धव-गोपी-संवाद प्रस्तुत नहीं किया और न उद्धव को गोपियों से पराजित ही दिखाया है अपितु वह तो केवल यही बतलाते हैं कि उद्धव पर गोपियों का प्रभाव पड़ा। अन्त में उन्होंने यही कहा है—

एक-एक तुम सब राधा हो, कहाँ तुम्हारी राधा ?
नहीं दीखती मुझे यहाँ यह हुई कौन सी बाधा ?
सच कहता हूँ मैंने अपना राम तुम्हीं में पाया,
किन्तु तुम्हारा कृष्ण कहाँ, मैं यही पूछने आया।

पन्द्रहवें खंड का नाम है गोपी और "इसमें परम्परा-प्रचलित उद्धव-निर्गुण-संदेश का खंडन है। यह चौदहवें खंड का जैसे उत्तर है, जिसमें प्रेम की महत्ता एवम् अनन्यता स्थापित की गयी है। एक गोपी राधा की तन्मयता का वर्णन करते-करते उसकी अनन्यता बताती है कि वह आज हरि बन गयी है। इसी बीच में भ्रमर प्रसंग भी है एक छंद में। इसमें भी राधा की तल्लीनता को बताकर शेष छंदों में ज्ञान की अपेक्षा प्रेम की महत्ता बताई गयी है तथा सगुण उपासना का पक्ष स्थिर किया गया है। कुछ नये शब्दों, नये उपमा-रूपकों और नयी भाषा में वे ही पुरानी बातें अपने ढंग से कह दी गयी हैं। अन्त के छंद में राधा 'सखी-सखी' चिल्लाती आती है, जिसके रूप में युगल छबि का दर्शन होता है—

एक मूर्त्ति, आधे में राधा, आधे में हरि पूरे।

यह खंड द्वापर का सबसे बड़ा प्रसंग है। कृष्ण-भक्त कवियों की भाँति गुप्त

जी ने भी सगुण उपासना तथा प्रेम-भक्ति की स्थापना में सबसे अधिक ध्यान दे, परम्परा निर्वाह में पूरा योग दिया है।"

अंतिम सोलहवें खंड में 'सुदामा' ने द्वारकाधीश कृष्ण का वर्णन किया है और इस खंड में सुदामा को केवल इतनी ही कथा आ पायी है कि पत्नी के आग्रह पर वह कृष्ण से भेंट करने जाना उचित नहीं समझते और यही सोचते हैं कि क्या चार चावल लेकर ही उनसे मिलने जाना उचित होगा।

किन्तु मिलूँगा कैसे उससे रिक्तपाणि, कल्याणी,
दे न सकेगी शुभाशीष भी मेरी गद्गद वाणी।
तदपि जानता है वह जी की बहुत चार चावल ही
मेरी भेंट आप क्या उसको पत्र पुष्प फल जल ही?

कथावस्तु संगठन की दृष्टि से द्वापर का मूल्यांकन करते समय हमारा ध्यान सर्वप्रथम डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के इस कथन की ओर जाता है, "गुप्त जी प्रबन्ध-पटु कवि हैं। अपनी समृद्ध कल्पना द्वारा वे प्राचीन वस्तु को जिस शैली से नवीन रूप देकर आकर्षक और सरस बनाते हैं उसका उदाहरण साकेत और यशोधरा के उन प्रसंगों में है जहाँ उर्मिला, कैकेयी, यशोधरा आदि नारी-पात्र परम्परा प्राप्त कथानक से भिन्न रूप में मार्मिक व्यंजना करके पाठक को मुग्ध कर लेते हैं। इतिहास की अनुश्रुति में पात्रों का जो चरित्र मिलता है उसे सर्वथा भुलाकर नवीन सृष्टि नहीं की जा सकती किन्तु युग के विवेक का ध्यान रखकर अति प्राकृत और अति मानव शक्ति पर आधृत घटनाओं को औचित्य के धरातल पर समन्वित किया जा सकता है। दूसरे युग-धर्म को दृष्टि में रखकर पुरातन घटनाओं का पुनराख्यान भी आवश्यक हो जाता है। कला की पूर्ण अभिव्यक्ति की दृष्टि से यह पुनः सृजन या पुनराख्यान इसलिये भी करना होता है कि पुरानी कथा के ज्यों की त्यों, न तो कहने की प्रवृत्ति होगी और न पाठक उसे पढ़कर रस ग्रहण करेगा। नवनिर्माण की अपेक्षा पुनर्निर्माण की यह पद्धति कठिन है, इसके लिये प्रबंध-क्षमता अनिवार्य है। जो कवि प्रबंधात्मक शैली की कल्पना से रहित हों उन्हें इस फेर में न पड़ना चाहिए। गुप्त जी प्रबंध-कल्पना के समर्थ कवि हैं अतः वे सनातन को नूतन कहने के लिये अनेक मार्मिक स्थल ढूंढ़ लेते

हैं।" इस दृष्टि से जब हम द्वापर की कथावस्तु पर विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि इसमें कवि की प्रबंध-पटुता ही दृष्टिगोचर होती है और कवि ने परंपरागत कथानक में भी मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। यों तो कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसने श्रीमद्भागवत का आधार ग्रहण किया है परन्तु द्वापर की कथा परंपरागत कृष्णकथा का अनुसरण नहीं करती और उसमें समसामयिकता व आधुनिकता के साथ-साथ नवीनताएँ भी हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि 'विधृता' गुप्तजी की मौलिक कल्पना की ही खोज है पर राधा, देवकी, यशोदा, कंस, उग्रसेन, उद्धव और सुदामा आदि पात्रों से सम्बन्धित कथा में भी पर्याप्त नवीनता है। इस प्रकार द्वापर की कथा में नूतन मौलिक प्रसंगों की उद्भावना कर कवि ने अपनी प्रबंध-पटुता का ही परिचय दिया है।

साथ ही कथानक में मार्मिक प्रसंगों का चयन भी कवि की कुशल प्रबंध कल्पना का परिचायक है और आचार्य शुक्ल के शब्दों में "जिसके प्रभाव से सारी कथा में रसात्मकता आ जाती है वे मनुष्य के मर्मस्पर्शी स्थल हैं जो कथा-प्रवाह के बीच-बीच में आते रहते हैं। यह समझिए कि काव्य में कथावस्तु की गति इन्हीं स्थलों तक पहुँचने के लिये होती है।" गुप्तजी ने भी द्वापर में कई मार्मिक प्रसंगों का बड़ी तत्परता व कुशलता से निवेषण किया है और यशोदा का वियुक्त वात्सल्य, विधृता का देहत्याग, वसुदेव देवकी का वात्सल्य-विक्षोभ, गोपी विरह आदि प्रसंग इसके सुन्दर उदाहरण हैं। इसी प्रकार कथा-सौन्दर्य की वृद्धि के लिये कवि मे कल्पनाशीलता भी आवश्यक मान लिया है और कहा जाता है कि कुशल भाव प्रवण कवि अपनी प्रतिभाशक्ति के बल पर कल्पना का अवलम्ब लेकर कथानक में चित्रात्मक व रसात्मकता का अनूठा समन्वय-सा कर देता है। चूंकि गुप्तजी कुशल प्रबंधकार हैं अतः उनमें यह प्रतिभा प्रभूत परिमाण में विद्यमान रही है और कल्पना द्वारा भावोत्कर्ष में उन्हें सफलता भी मिली है।

कथानक की इन विशिष्टताओं के साथ-साथ यह भी विचारणीय है कि कथावस्तु संघठन की दृष्टि से द्वापर सफल रहा है या असफल? इसमें कोई संदेह नहीं कि द्वापर के सोलहों खंड कृष्ण कथा से सम्बन्धित हैं और कृष्ण को केन्द्रवर्ती चरित्र मान कर उन्हें परस्पर एक में जोड़ा जा सकता है अन्यथा सभी

स्वतन्त्र भी हैं। यों पन्द्रह खंड तक की कथा तो कृष्ण के ब्रज जीवन से ही प्रायः सम्बन्धित रही है और वह कृष्ण के ब्रजजीवन की घटनाओं तथा मथुरा जाने से उद्धव-प्रसंग तक की एकसूत्रता का निर्वाह भी करते हैं अतः उनमें क्रम-वद्धंता भी है। अंतिम खंड में सुदामा अवश्य पृथक् हैं और उसमें कृष्ण को द्वारकाधीश कहा गया है अतः उन पन्द्रह खंडों से उसका सम्बन्ध निर्वाह स्पष्ट रूप में कुछ भी नहीं जान पड़ता पर इससे कथा संघटन को त्रुटिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस अंतिम खंड में भी कृष्ण के जीवन की ही कथा है और उससे यह तो आभास होता ही है कि कृष्ण अब मथुरा से द्वारका पहुँच गये हैं अतः भले ही सम्बन्ध निर्वाह न हो पर प्रवाह तो बना रहता है। साथ ही प्रबंधात्मकता की दृष्टि से द्वापर पर विचार करते समय एक प्रश्न यह भी उठता है कि क्या द्वापर प्रबन्ध-काव्य है या फिर उसे किस कोटि का काव्य माना जाय। यों तो प्रायः सभी समीक्षक उसे आत्मोद्गार प्रणाली में लिखा गया प्रगीति काव्य ही मानते हैं पर डॉ० उमाकांत ने उसमें प्रबन्धत्व का होना स्वीकार किया है और डॉ० देवर्षि सनाढ्य का भी यही मत है कि "द्वापर आत्मकथात्मक प्रणाली में लिखा गया प्रबन्धकाव्य है। इसकी विशेषता मनोवृत्तियों का पृथक्-पृथक् निरूपण है।"

वस्तुतः द्वपर में प्राचीन महाकाव्यों की इतिवृत्तात्मक शैली का अनुसरण नहीं किया गया और न साकेत की प्रणाली ही अपनायी गयी है, अपितु यशोधरा की भाँति कवि ने आत्मचरित्र प्रणाली को अपनाया है लेकिन यशोधरा में वर्णनात्मकता का भी योग था जबकि द्वापर में पूर्णतः आत्मचरित्र प्रणाली की ही प्रधानता है अतः हम द्वापर को भले ही गीतात्मक प्रबंध-काव्य मान लें पर कला की दृष्टि से द्वापर प्रबंध-काव्य नहीं माना जा सकता लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रबध-पटुता की दृष्टि से भी वह त्रुटिपूर्ण है। हमें यह न भूलना चाहिए कि गीतों के माध्यम से भी कथानक निर्माण हो सकता है और गुप्त जी का कुणाल गीत गीतपद्धति में ही लिखा गया है लेकिन उसमें भी कथावस्तु का सफल निर्वाह हुआ है। इसीलिए हम द्वापर को प्रबंध-काव्य न मानकर भी उसे कवि की प्रबंध-पटुता का परिचायक ग्रंथ कहते हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि

आत्मचरित्र प्रणाली को अपनाते हुए कथा-योजना की ओर सम्यक् ध्यान देना तथा कथा से सम्बन्धित अधिकांश महत्त्वपूर्ण प्रसंगों को पृथक्-पृथक् पात्रों के माध्यम से व्यक्त कर कथा में रोचकता बने रहने देना गुप्त जी द्वारा ही संभव हो सका है। इसीलिये हम द्वापर को पात्रों के स्वगत भाषणों का संग्रह मात्र मानने के पक्ष में नहीं हैं और हमारा तो यही निश्चित मत है कि द्वापर में कथा योजना की ओर कवि ने सम्यक् ध्यान दिया है और कथानक को सर्वथा नवीन, आकर्षक, प्रभावोत्पादक व मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है।

द्वापर में पात्र और चरित्र-चित्रण

प्रश्न १४—पात्र और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से द्वापर काव्य का मूल्यांकन कीजिए ?

प्रश्न १५—द्वापर के चरित्र-चित्रण की विशेषताओं का सोदाहरण विवेचना कीजिए।

प्रश्न १६—इस कथन का खंडन अथवा मंडन कीजिए कि "द्वापर का कवि चरित्र-चित्रण में सफल नहीं रहा।"

प्रश्न १७—"द्वापर में पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय कवि ने मनोवैज्ञानिकता पर भी ध्यान रखा है।" उदाहरण सहित इस कथन की सार्थकता प्रमाणित कीजिए।

उत्तर—"यद्यपि पाश्चात्य समीक्षकों ने चरित्र-चित्रण को महाकाव्य का स्वतंत्र तत्त्व मानते हुए उसे विशेष महत्त्व प्रदान किया है लेकिन प्राचीन भारतीय आचार्यों ने रस को ही काव्यात्मा कहा है और उसे 'ब्रह्मानंद-सहोदर' मानकर रसाभिव्यक्ति को ही काव्य का चरम लक्ष्य माना है अतः उनकी दृष्टि में रस साध्य है तथा काव्य के अन्य उपकरण जिनमें से चरित्र-चित्रण भी एक है, इस अखंड रस-प्राप्ति में सहायक होने के कारण साधन ही है। स्मरण रहे कि स्वयं प्रसाद जी की दृष्टि में काव्य का साध्य चरित्र-चित्रण न होकर रस-संचार ही है तथा उन्होंने कहा भी है आत्मा को अनुभूति व्यक्ति और उसके चरित्र-वैचित्र्य को लेकर ही अपनी सृष्टि करती है। भारतीय दृष्टिकोण रस के लिये इन चरित्र और व्यक्ति-वैचित्र्यों को रस का साधन

मानता रहा, साध्य नहीं। रस में चमत्कार ले आने के लिये इनको बीच का माध्यम-सा ही मानता आया। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय साहित्य में चरित्र-चित्रण को सर्वथा उपेक्षा की गई है क्योंकि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या कहानी, क्या प्रबन्ध-काव्य सभी में पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का उभर आना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है ओर यदि ऐसा न हो तो फिर उनमें जीवन की वह व्यापकता नहीं आ सकती जो कि साहित्य का एक प्रमुख अंग माना जाना है।" डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ने कहा भी है "काव्य में पात्र हो जीवन्त—प्राणवान्—शक्ति हैं, घटना और दृश्य तो जड़ है, उनके वर्णन मात्र से काव्य में प्राण-संचार संभव नहीं।" इस प्रकार चरित्र-चित्रण भी काव्य का एक उल्लेखनीय अंग है और कथा काव्यों में तो पात्र ही कथानक के सजीव सचालक है तथा शोन ओ' फागलेन (Seon o' Faolain) ने कहा भी है

"One of the best definitions ever given of the technique of fiction is that action reveals character and that character demonstrates itself in action and action is only another word for incidents."

आत्मोद्गार प्रणाली में लिखित द्वापर आत्माभिव्यंजक काव्य ही है और इसीलिये उसे प्रगीति-काव्य मानते हुए समीक्षकों ने चरित्र-चित्रण की दृष्टि से द्वापर को असफल मान लिया है परन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वापर को गीतात्मक प्रबंधकाव्य मानते हैं तथा उसमें प्रबंध-निर्वाह की ओर भी पूर्ण ध्यान दिया गया है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि डॉ० उमाकांत और डॉ० देवर्षि सनाढ्य ने द्वापर को आत्मकथात्मक प्रणाली में लिखा गया प्रबंधकाव्य माना है अतः पात्र व चरित्र-चित्रण की ओर भी द्वापर के रचयिता का ध्यान जाना स्वाभाविक ही था।

सामान्यतः द्वापर में श्रीकृष्ण, राधा, यशोदा, विधृता, बलराम, ग्वाल-बाल, नारद, देवकी, उग्रसेन, कंस, अक्रूर, नंद, कुब्जा, उद्धव, गोपी और सुदामा आदि सौलह पात्रों की योजना की गयी है तथा प्रत्येक पात्र के नाम पर पृथक्-पृथक्

खंड हैं और उसमें उन पात्रों ने जो कुछ कहा है उससे न केवल स्वयं उनके सम्बन्ध में अपितु अन्य सम्बद्ध पात्रों के सम्बन्ध में भी एक मान्यता-सी बन जाती है। इस प्रकार यह आत्मचरित्र केवल स्वापेक्षी ही नहीं है अपितु अन्यापेक्षी भी हैं और इनके माध्यम से कवि मनोवृत्तियों का भी बड़ा ही कलात्मक निरूपण कर सका है। आचार्य शुक्ल ने कहा भी है द्वापर में यशोदा, राधा, नारद, कंस, कुब्जा इत्यादि कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की मनोवृत्तियों का अलग-अलग मार्मिक चित्रण है। नारद और कंस की मनोवृत्तियों के स्वरूप तो बहुत ही विशद और समन्वित रूप में सामने रखे गये हैं। इस प्रकार गुप्त जी ने द्वापर मे उक्त सोलह पात्रों को भाव-प्रतिमाएँ भी अंकित की हैं और जैसा कि डॉ० कमलाकांत पाठक का कथन है कि "द्वापर में दो भिन्न प्रवृत्तियाँ सक्रिय हुई हैं। प्रथम प्रवृत्ति आत्मलीन पात्रों का भावोन्मेष प्रकट करती है, यथा—गोपी, राधा, कुब्जा। दूसरी प्रवृत्ति सामाजिक और सांस्कृतिक मार्गों से सम्बद्ध क्रांतिकारी विचार को स्पष्ट करती है, यथा—विधृता, बलराम, नारद। द्वापर में सन्देह के फूल ने विश्वास का फल पैदा किया। प्रेम की सुकोमल धरती को फोड़ कर विद्रोह का वृक्ष उत्पन्न हुआ। आत्मलयकारी प्रेम के पार्श्व में विध्वंसकारी पौरुष जागरूक रहा।

गोपालकृष्ण अशरण-शरण ईश्वर के प्रतीक हैं। राधा आत्मसर्पणशीला उत्कृष्ट प्रेमिका है। उल्लसिता यशोदा वात्सल्यमयी माँ हैं। विधृता पुरुष के अत्याचार, संदेह तथा उत्पीडिन का प्रतीक है। वह दाम्पत्य जीवन की समस्याओं को इंगित करती है तथा नारी की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में सप्रश्न होती है। बलराम सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्रान्ति के अग्रदूत तथा कृष्ण के सहयोगी हैं। ग्वाल-बाल व्यक्तित्व रहित हैं, पर कृष्ण को नवयुग-निर्माता समझते है। उनका समवेत-गीति है—'अरे पलट दी काया ही इस केशव ने काल की।' नारद क्रांति का माहात्म्य स्पष्ट करते हैं। संघर्षशील जीवन उन्हें प्रिय है। देवकी के मन मे कंस के प्रति आवेशपूर्ण आक्रोश-भाव है। उग्रसेन सामान्य चरित्र हैं। वे पितृहृदय की उदारता, पुत्र की हितचिन्ता तथा सतोगुणी प्रवृत्तियों से परिचालित हुए हैं। कंस अपना नियन्ता आप हैं। वह साम्राज्यवाद

का प्रतीक, अहंवादी, नास्तिक, मात्स्य न्याय का समर्थक, निर्बन्ध, पराक्रमी तथा पुण्य पाप को तत्त्वहीन समझने वाला क्रूर कर्मा है। वह नृशंस नृपति है और अत्याचारी अधिनायक या डिक्टेटर हैं। अक्रूर औपचारिक और सद्भावनाशील पात्र हे। नन्द कृष्ण के लौट आने की केवल प्रतीक्षा करते रहते हैं। कुब्जा कृष्ण की रूपासक्त अनन्य प्रेमिका है और गोपियाँ विरह की अवतार ही हैं वे राधा से अभिन्न हैं और कृष्ण प्रेम में उन्मत्त। वियोग की चरम अवस्था में राधा कृष्णमय हो गयी हैं। सुदामा संकोचशील मित्र हैं। स्पष्टतः द्वापर में अनेक कोमल और पुरुष भावों की व्यंजना हुई है और आंतरिक जीवन की विशद चित्रपटी का आलेखन किया गया है।"

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी ने द्वापर में पात्रों के चरित्र-चित्रण पर पूर्ण ध्यान दिया है और भले ही उनके चरित्र-चित्रण मे संक्षिप्तता हो तथा कहीं-कहीं सांकेतिक व परोक्ष प्रणाली से ही पात्रों की चारित्रिक विशिष्टताओं का उल्लेख हुआ हो लेकिन इतना तो निर्विवाद सत्य है कि न केवल पात्रों के बाह्य जीवन अपितु आंतरिक भावनाओं के निरूपण की ओर भी कवि की दृष्टि गयी है और पाठक जी का यह मत कि द्वापर में आंतरिक जीवन की विशद चित्रपटी का आलेखन किया गया है अक्षरशः सत्य है। यद्यपि द्वापर के पात्रों की गणना देव चरित्रों में हो की जायगी क्योंकि द्वापर की कथा पौराणिक ही है परन्तु कवि ने अपने मानवतावादी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर इन देव चरित्रों को भी इस रूप में प्रस्तुत किया है कि वे इसी पार्थिव जगत् के प्राणी जान पड़ते हैं और उनका सुख-दुःख हम पर मर्मस्पर्शी प्रभाव डालता है।

'द्वापर' में चरित्र-चित्रण सम्बन्धी कुछ निजी विशेषताएँ भी विद्यमान हैं और उनमें कवि की चरित्र-चित्रण सम्बन्धी प्रतिभा-शक्ति भी स्पष्ट होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि ने पात्रों के चरित्र-चित्रण में कुछ ऐसी सजावट-सी ला दी है कि पात्रों का वर्णन पढ़ हमारी भावनाएँ आन्दोलित हो उठती हैं और हम कवि की लेखन-शक्ति से अत्यधिक प्रभावित होते हैं। साथ ही पात्रों के चरित्र-चित्रण में समसामयिकता और आधुनिकता भी विद्यमान है तथा

द्वापर के पात्र आधुनिक प्रभाव से रहित नहीं हैं। बलराम के इन शब्दों में सामयिकता के ही स्वर हैं—

रहे व्यक्तियों की मर्यादा, नहीं शक्ति की सीमा;
वेग रहे तो क्यों न बढ़ो तुम, पड़ जाऊँ मैं धीमा।
पुरखे नदियाँ तरते थे तो तब है सिन्धु तरो तुम;
अस्वाभाविक क्या यदि ऐसा साहस कभी करो तुम ?

'द्वापर' के चरित्र-चित्रण में मौलिकता भी विद्यमान है और हम देखते हैं कि कवि ने कथानक में भी कुछ परिवर्तन किये हैं जिससे कि पात्रों में नवीनता आ गयी है पर साथ ही उन मूक पात्रों को भी वाणी प्रदान की है जो अब तक उपेक्षित रहे हैं। 'विधृता' तो गुप्त जी की ही खोज है और उन्होंने ही सर्वप्रथम उसे इस प्रकार ओजस्वी वाणी प्रदान की है पर देवकी, उग्रसेन, राधा व यशोदा के चित्रण में भी पर्याप्त नवीनता है। देवकी का ऐसा सुन्दर भावग्राही चित्रण अन्य किसी भी कृष्ण-काव्य में नहीं मिलता और राधा के चित्रण में भी नूतनता ही है। इसी प्रकार द्वापर के पात्रों में सहन-शीलता का भी गुण है और वह विषाद के क्षणों में भी प्रसन्न जान पड़ते हैं। पुत्र कंस द्वारा बंदी उग्रसेन कंस के लिये ईश्वर से क्षमा-प्रार्थना करते हैं तथा उन्हें उसकी चिन्ता ही है और नारद द्वारा भी कवि ने यही कहलाया है—

देख रहा हूँ चाल की मैं क्यों उसमें आप फँसूँ ?
भीतर से रोना आता है, बाहर से हा क्यों न हँसूँ ?
वह अलज्ज जिसके हँसने में कोई रोना छिपा न हो;
हास मूल, परिहास फूल, उपहास धूल, भूलो न अहो !

द्वापर के पात्रों में मनोवैज्ञानिक स्पर्श भी है और चूँकि कवि व्यावहारिक मनोविज्ञान का शास्त्री है अतः उसके चरित्र-चित्रण में स्वाभाविक ही मनोवैज्ञानिकता-सी दीख पड़ती है। कृष्ण, विधृता, गोपी व यशोदा आदि में विवशता और उसके फलस्वरूप उत्पन्न क्षोभ का सजीव चित्रण विद्यमान है तथा कंस में अहं की अधिकता है। यहाँ भी स्मरणीय है कि डॉ० सिगमड फ्रायड ने 'ए जनरल इन्ट्रोडक्शन टु साइकोएनालेसिस' में मानव मन के विविध स्तरों की चर्चा की

है और टी० आई० हडसन ने द्वि मनः सिद्धांत (Dual Mind Theory) का प्रतिपादन भी किया है अतः मनोवैज्ञानिक सचेतन मन व अवचेतन मन की चर्चा भी करते हैं। यों तो डॉ० पद्मा अग्रवाल का मत है कि "मन अविच्छिन्न वस्तु है, निरवयव है। उसका विभाजन नहीं किया जा सकता। एक ही मन के कई पहलू हो सकते हैं; पर एक ही व्यक्ति में कई मन होना संभव नहीं।" इस प्रकार मन के विभिन्न पहलुओं का चित्रण भी द्वापर में मिलता है और द्वापर के पात्रों को मनःस्थिति का सजीव चित्रांकन भी कवि ने किया है अतः हम कह सकते हैं कि द्वापर में पात्रों का चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक ही है।

इन सभी दृष्टियों से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पात्र और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी द्वापर एक सफल काव्य-कृति है।

कृष्ण

प्रश्न १८—द्वापर के आधार पर कृष्ण का चरित्र-चित्रण कीजिए।

प्रश्न १९—आपकी दृष्टि में द्वापर काव्य का नायक कौन है? अपने मत की पुष्टि में उदाहरण भी दीजिए।

प्रश्न २०—द्व पर के कवि की कृष्णभावना पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न २१—कृष्ण-चरित्र का विकास दिखाते हुए द्वापर के श्रीकृष्ण की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

प्रश्न २२—इस कथन की सार्थकता प्रमाणित कीजिए की द्वापर के केन्द्रवर्ती चरित्र कृष्ण ही हैं।

उत्तर—"वस्तुतः हिन्दी का कृष्ण-काव्य भागवत पुराण पर ही समाधारित कहा जाता है लेकिन यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वैदिक काल से लेकर आज तक वह निरंतर विकसित होता चला आ रहा है और भारतीय काव्य-साहित्य में किसी न किसी रूप में कृष्ण का उल्लेख अवश्य हुआ है। ऋग्वेद के अष्टम मंडल के ८५,८६ और ८७ तथा दशम मंडल से ४२, ४३ और ४४ वें सूत्र में कृष्ण का ऋषि रूप में उल्लेख किया गया है तथा कौशीतकी ब्राह्मण में जो कि शांखायन ब्राह्मण के नाम से भी प्रसिद्ध है आंगिरस ऋषि के शिष्य कृष्ण का उल्लेख है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक वाङ्मय में भी कृष्ण का

देवकी पुत्र होना स्वीकार किया गया है। महाभारत में तो कृष्ण के चरित्र को विविध रूपों में अंकित किया गया है और उन्हें दैवी अवतार के रूप में भी मान लिया गया है तथा श्रीमद्भागवत में तो उनके ईश्वरीय रूप का स्पष्टतः निर्देश है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व से ही कृष्ण पूर्णतः दैवत्व युक्त माने जाने लगे थे तथा पाणिनि के व्याकरण में तो उनका उल्लेख किया ही गया है और साथ ही ईसा के तीन सौ पूर्व मेगस्थनीज ने भी यह स्वीकार किया है कि कृष्ण की पूजा मथुरा और कृष्णपुर में होती थी। यदि मौर्य काल में वासुदेव-कृष्ण की पूजा प्रचलित थी तो इससे सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि इस पूजा का आरम्भ मौर्य वंश की स्थापना के बहुत पहले ही हो गया होगा परन्तु अभी तक इस दिशा में निश्चित प्रमाण नहीं मिले हैं कि उस समय कृष्ण की उपासना का क्या रूप था और प्रेमा-भक्ति के आलम्बन, गोप-गोपियों के सर्वस्व राधावल्लभ, नटनागर, गोपाल-कृष्ण का समावेश भारतीय वाङ्मय में कब से हुआ? डॉ० नलिनीमोहन सान्याल ने अवश्य हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि ऋग्वेद में विष्णु गोपा नाम से अभिहित हुए हैं तथा उनमें बहुशृंग गायों का भी उल्लेख है। डॉ० गुलाबराय जी का मत है कि "इन बातों का आध्यात्मिक अर्थ चाहे और कुछ भी हो किन्तु गोपालकृष्ण को मन-मोहक कथाओं की आधार-भूमि उपस्थित करने के लिये इतना उल्लेख पर्याप्त है। छांदोग्य उपनिषद् में देवकीपुत्र कृष्ण घोर आंगिरस के रूप में प्रतिष्ठित हैं। पाणिनि के समय में वासुदेव शब्द वासुदेव-सम्प्रदाय की व्यापकता का साक्षी है। छांदोग्य उपनिषद् में प्राप्त हुई शिक्षाओं का गीता के कृष्ण से तादात्म्य किया जाता है। वे चाहे एक न हों, उससे यह अवश्य प्रमाणित होता है कि कृष्ण नाम की प्रसिद्धि वैदिक काल से थी।" इतना अवश्य है कि कालांतर में जब भक्ति-सम्बन्धी विविध सम्प्रदाय विकसित हुए और जिस प्रकार रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर रामानंद ने राममक्ति का प्रचार किया उसी प्रकार निम्बार्क, मध्वाचार्य और विष्णुस्वामी के आदर्शों को ग्रहण कर चैतन्य महाप्रभु तथा वल्लभाचार्य ने भी कृष्ण भक्ति का प्रचार किया। वस्तुतः हिन्दी साहित्य में कृष्ण-काव्य की परम्परा को विकसित करने का श्रेय वल्लभाचार्य को ही दिया जाता है

क्योंकि सर्वप्रथम उन्हीं के पुष्टि सम्प्रदाय में होने वाले वैष्णव कवियों ने श्रीकृष्ण भक्ति पर उत्कृष्ट पद रचे हैं तथा अष्टछाप के कवि इसी सम्प्रदाय में दीक्षित थे।

कृष्ण-काव्य की परम्परा पर विचार करते समय राधा के इतिहास पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है क्योंकि कृष्ण सम्बन्धी जितने भी हिन्दी काव्य-ग्रंथ रचे गए हैं उनमें राधा का उल्लेख अवश्य हुआ है परन्तु हमें यह निस्संकोच कहना पड़ता है कि न केवल महाभारत, हरिवंश पुराण, ब्रह्म पुराण और विष्णु पुराण में बल्कि श्रीमद्भागवत में भी राधा का उल्लेख नहीं हुआ। 'अमरकोश' के अनुसार यदि हम विशाखा का दूसरा नाम राधा मान लें तब तो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि राधा नाम न होते हुए भी विशाखा का उल्लेख श्रीमद्भागवत में अवश्य हुआ है और संभवतः यह विशाखा राधा ही हों। गाथा सप्तशती जो कि पाँचवीं शताब्दी का ग्रंथ है, पंचतन्त्र तथा ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में अवश्य राधा की चर्चा है परन्तु वास्तव में निम्बार्क ने ही उन्हें प्रेम एवं माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति के रूप में अंकित किया है और उन्हीं के समकालीन जयदेव ने भी गीत-गोविन्द में राधाकृष्ण की लीलाओं का चित्रण किया है। कालांतर में विद्यापति और चंडीदास ने भी उनका लोकभाषा में अनुसरण कर कृष्ण लीला के गेय पदों की सरिता प्रवाहित की।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हिन्दी साहित्य में कृष्ण काव्य की परम्परा के प्रतिष्ठाता वल्लभाचार्य ने राधा की उपासना को महत्त्व दिलाने का प्रयास नहीं किया और जैसा कि डॉ० दीनदयालु गुप्त का मत है "श्री वल्लभाचार्य जी ने गोपियों के प्रकार बताते हुए राधा नाम को स्वामिनी स्वरूपा गोपी का उल्लेख नहीं किया, उन्होंने अन्य किसी ग्रन्थ में भी राधा का उल्लेख नहीं किया है। भागवत के अनुसार रास प्रकरण मे तो कृष्ण की विशेष प्रिया रूप मे एक गोपी का उल्लेख अवश्य है, राधा नाम का समावेश श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने सम्प्रदाय में किया था और अष्टछाप के कवियों ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के मत को ही इस सम्बन्ध में ग्रहण किया।" इस प्रकार अष्टछाप के कवियों—सूर, नंददास और हित हरिवंश आदि—को ही कृष्ण-काव्य की परम्परा को विकसित करने का श्रेय है।

चूंकि सूर और नन्ददास आदि कवियों की कृतियों में भक्तिभावना के साथ-साथ शृङ्गार की अधिकता भी उत्तरोत्तर बढ़ती गयी अतः आगे चलकर इसी शृङ्गार-प्रियता के फलस्वरूप रीति-काव्य का बाजारोपण हुआ तथा कई भक्त कवि ऐसे भी हुए जिन्होंने कि कृष्ण की भक्ति-भावना का चित्रण करते हुए भी शृङ्गार-रसान्तर्गत उद्दीपन विभाव में ऋतु-वर्णन और नखशिख-वर्णन किया है जिनमें कि कलात्मकता ही प्रधान रूप से है तथा भक्ति का लेशमात्र भी नहीं है। कालांतर में तो रीतिकालीन कवियों ने कृष्ण को नायक तथा राधा को नायिका मानकर शृङ्गाररसपूर्ण चित्र अंकित कर उनके दिव्य-स्वरूप को विकृत-सा कर दिया तथा जैसा कि डॉ० नगेन्द्र का कहना है "रीतिकालीन शृङ्गार-भावना प्रेम न रहकर विलास रह गयी। रीतिकाल के प्रतिष्ठित कवि रसिक ही थे, प्रेमी नहीं। उनके शृङ्गार चित्रों में प्रेम की एकाग्रता न होने से तीव्रता और गंभीरता प्रायः कम मिलती है, विलास का तारतम्य और वैभव ही अधिक मिलता है।" यहाँ यह भी स्मरणीय है कि "कृष्ण-काव्य की परम्परा आधुनिक काल में भी अक्षुण्ण बनी रही और इस बीसवीं शताब्दी में भी अनेक हिन्दी कवियों ने कृष्ण विषयक कई सुन्दर कृतियाँ प्रस्तुत की हैं तथा उनमें रीतिकालीन कवियों की वासनोन्मुखता एवं अश्लीलता नहीं है।"

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण-काव्य की परम्परा किस प्रकार विकसित होती गयी और बीसवीं शताब्दी में तो श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की सुप्रसिद्ध कृति 'प्रियप्रवास' की कृष्ण भावना में तो कवि की सर्वथा नवीन क्रांतिकारी मनोवृत्ति ही झलक उठती है और जैसा कि स्वयं ही उन्होंने प्रियप्रवास की भूमिका में लिखा है 'मैंने श्रीकृष्णचन्द्र को इस ग्रन्थ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं। अवतारवाद की जड़ में श्रीमद्भागवत का यह श्लोक मानता हूँ 'यद् यद् विभूतिमत् सत्यं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्।" हरिऔध जी के इस युगांतरकारी दृष्टिकोण का कारण यह है कि राम और कृष्ण अवतार रूप में ही भक्ति के आलम्बन हो चुके थे अतः भक्तिकालीन कवियों की परिपाटी को अपनाते हुए उन्नीसवीं शताब्दी में भी राम और कृष्ण अवतार रूप में ही माने जाते रहे तथा

भारतेन्दु की कविता में भी उनका यही स्वरूप दृष्टिगोचर होता है लेकिन बीसवीं शताब्दी में ब्रह्म समाज और आर्य समाज के धार्मिक तथा सांस्कृतिक आंदोलनों एवं वैज्ञानिक शिक्षा के कारण अवतारवाद का ग्रहण उस रूप में न हो सका जिस रूप में वह मध्ययुगीन भक्ति-काव्य में प्रतिष्ठित था। जबकि धर्ममूलक संस्कृति विदेशी सत्ता के उत्पीड़न से संकटापन्न हो उस समय असुरों और दुष्टों के संहारक तथा साधु-संतों और धर्म के परित्राता तथा संस्थापक ईश्वर की अवतार रूप में कल्पना सहज ही ग्राह्य हो गयी लेकिन बीसवी शताब्दी में यह भावना बलवती न हो सकी। वस्तुतः योरोपीय संस्कृति से जब भारतीय संस्कृति का सम्पर्क स्थापित हुआ तब प्रत्येक क्षेत्र में वैज्ञानिक अथवा तार्किक दृष्टि से विचार किया जाने लगा और इस प्रकार बुद्धिवाद का निरंतर विकास होने के कारण धर्म, दर्शन, समाज एवं कला की प्राचीन मान्यताओं के सम्बन्ध में हम नवीन दृष्टिकोण अपनाने लगे। इस प्रकार डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा के कथनानुसार "इस बुद्धिवादी लहर का प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ा। इसने सर्वप्रथम रूढ़िवादी, धर्मिक प्रतिष्ठाओं और मान्यताओं पर प्रहार किया और एक बार उन्हें जड़ से हिला दिया। शीघ्र ही इसका प्रभाव द्विवेदीयुगीन धार्मिक काव्य पर पड़ा और उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित हुए। हिन्दी में राम और कृष्ण का जीवन-चरित्र सदा से कवियों का प्रिय विषय रहा है। द्विवेदी युग में भी राम और कृष्ण पर काव्य-रचना की गयी किन्तु उसका निरूपण सर्वथा नवीन और अरूढ़िगत था। कवि की पुरानी आस्थायें मिट रही थी और वह नए मूल्यों और विश्वासों की खोज में लगा था। कभी वह घूम फिर अपनी पुरानी आस्था में विश्राम खोजने का प्रयत्न करता था तो कभी प्राचीन मर्यादाओं, परम्पराओं और आदर्शों से विद्रोह कर अपनी नवीन संदेहात्मक प्रवृत्ति की पुष्टि करता था।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बीसवीं शती हिन्दी काव्य में स्वाभाविक ही अवतारवाद विषयक दो धारायें स्पष्ट रूप से दीख पड़ने लगीं और जहाँ कि प्रथम विचारधारा में राम और कृष्ण को जाति अथवा मानवता के सर्वोच्च प्रतीक रूप में ही कल्पना की गयी वहाँ साथ ही उनके ईश्वरत्व में पूर्ण विश्वास

प्रतिपादित करने वाली कृतियों का भी सर्वथा अभाव नहीं रहा। कृष्ण-काव्य की परम्परा के दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ—प्रियप्रवास और कृष्णायन—हमारे इस कथन के प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किया जा सकते हैं क्योंकि प्रियप्रवास में हरिऔध ने अवतारवाद पर आस्था नहीं प्रकट की जबकि कृष्णायन में श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने ईश्वरत्व पर पूर्ण विश्वास प्रकट किया है। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि द्विवेदी युगीन कवियों को काव्य-रचनाओं के पूर्व ही बँगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपनी कृष्णचरित्र नामक पुस्तक में यह भली-भाँति सिद्ध कर दिया है कि किस प्रकार कृष्ण के स्वाभाविक और मानुषिक कार्य अतिमानुषिक कार्यों के रूप में परिवर्तित किये गये तथा बँगला के प्रसिद्ध कवि माईकेल मधुसूदन ने तो 'मेघनाथवध' नामक काव्य में राम का ईश्वर स्वरूप न चित्रित कर उन्हें एक मनुष्य भाँति काम करते हुए दिखाया है। डॉ० रवीन्द्र-सहाय वर्मा का विचार है कि "अवतारवाद का विरोध करने की प्रेरणा हिन्दी कवियों को माईकेल मधुसूदन से प्राप्त हुई तथा वे इस नवीन प्रवृत्ति को पश्चिम के उस वैज्ञानिक अथवा तार्किक दृष्टिकोण का परिणाम मानते हैं जिनकी कि उपलब्धि भारत में अँगरेजी शिक्षा के प्रचार से हुई है।" इस प्रकार हमें यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि द्वापर के रचयिता ने इसी मेघनाथ-वध का हिन्दी अनुवाद द्वापर के पूर्व सं० १९८४ वि० में ही प्रकाशित करवा दिया था अतः यह निर्विवाद सत्य है कि उसके दृष्टिकोण पर भी इस कृति का प्रभाव स्वाभाविक ही पड़ा होगा और द्वापर के पौराणिक पात्रों में कदाचित् इसीलिये नवीनता व युग-प्रभाव विद्यमान है। इस पृष्ठभूमि के आधार पर हम यहाँ द्वापर के नायक श्रीकृष्ण का संक्षेप में चरित्र-चित्रण करेंगे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कृष्ण द्वापर के केन्द्रवर्ती चरित्र हैं और उन्हें ही इस काव्य-कृति का नायक मानना चाहिए। डॉ० देवर्षि सनाढ्य के शब्दों में द्वापर की समस्त कथाओं का आधार कृष्ण हैं। सुदामा खंड को छोड़कर शेष सभी खंड उनके गोपाल रूप से सम्बद्ध हैं। परिणामस्वरूप कृष्ण के व्रज-जीवन में घटित हुए रूप का परिचय देते हैं। गोपालकृष्ण समस्त व्रजवासियों के दुलारे, उनकी प्रीति-भक्ति के आलम्बन, उनके क्रीड़ा-सहचर तथा उन्हें आपत्तियों से बचाने वाले

हैं। स्वयं श्रीकृष्ण खंड के आधार पर वह वेणुवादन करते हुए सबको केवल अपनी शरण में आने का संदेश देता है। राधा उसके अथाह प्रेमसागर में मग्न है। यशोदा का वह बाल-गोपाल कोई अवतारी है, उसके चरित्र निर्भयता से भरे एवम् आश्चर्यान्वित करने वाले हैं। वह नंद-यशोदा को अपत्य सुख में विभोर करने वाला भी है। सुन्दरता का आगार, माखनचोर, जब ब्रज को छोड़ मथुरा चला जाता है तो नंद को अपने यहाँ का माखन-मिश्री व्यर्थ प्रतीत होने लगता है। बलराम के अनुसार वह नूतन क्रांतिकारी परम्पराओं को आरम्भ करने की क्षमता रखता है। ग्वाल-बालों का समान स्वीकृत नेता है। देवकी कारागृह में उसकी प्रतीक्षा करती है, कंस उससे घबराता है। अक्रूर के मन में उसकी भक्ति है और वे उसे भयहीन जय का मूल समझते हैं। नंद उसे खोकर ब्रज वापस आने में हिचकते हैं। कुब्जा उसकी दासी होने में अपना गौरव समझती है। वह गोपियों के प्रेम तथा जीवन का एकमात्र आधार है। इस प्रकार कृष्ण के गोपाल रूप की पूर्ण गरिमा द्वापर में प्रकट हुई है।" पर गुप्त जी ने केवल कृष्ण के गोपाल रूप को ही अंकित नहीं किया अपितु सुदामा खंड में उनके द्वारिकाधीश स्वरूप का चित्रण किया है अतः द्वापर में हमें कृष्ण की ब्रजलीलाओं से लेकर द्वारिकाधीश होने तक की झाँकी दृष्टिगोचर होती है और इस प्रकार कृष्ण ही इस काव्य कृति के नायक हैं।

वस्तुतः द्वापर के कृष्ण का चरित्र-चित्रण भी कवि ने बुद्धिवादी दृष्टिकोण से ही किया है और कृष्ण को एक आदर्श पुरुष व महामानव के रूप में अंकित किया है। प्रारंभ में ही स्वयं यह कहते हैं कि—

राम भजन कर पांचजन्य ! तू, वेणु बजा लूं आज अरे,
जो सुनना चाहे सो सुन ले, स्वर ये मेरे भाव भरे—
कोई हो, सब धर्म छोड़ तू आ, बस मेरा शरण धरे,
डर मत, कौन पाप वह, जिससे मेरे हाथों तू न तरे ?

अतः इससे यह स्पष्ट है कि वह पापियों का उद्धार करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ है और जो भी उनकी शरण में आयेगा वह उसका उद्धार अवश्य करेंगे। उनके स्वरों में श्रीमद्भगवत्गीता के इस श्लोक की प्रतिच्छाया ही है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ॥

इस प्रकार द्वापर के कृष्ण पापियों का उद्धार करने वाले और कर्त्तव्य-प्रेमी हैं तथा गोकुल और ग्वाल-बालों के त्राता है। वस्तुतः द्वापर का प्रत्येक पात्र कृष्ण-प्रेम और भक्ति मे डूबा हुआ है तथा राधा के तो वह आदर्श प्रेमी हैं। राधा स्वयं ही उन्हें सम्बोधित कर कहती हैं 'शरण एक तेरे मे आई, धरे रहें सब हरे !' और इतना ही नहीं राधा में माधव व माधव में राधा की मूर्त्ति भी समाई हुई है—

राधा में माधव, माधव में
राधा-मूर्ति समाई !

तथा राधा में ही कृष्ण की झाँकी मिल जाती है—

यह क्या, यह क्या भ्रम या विभ्रम ? दर्शन नहीं अधूरे;
एक मूर्ति आधे में राधा, आधे में हरि पूरे !

राधा ही नहीं समग्र व्रज-प्रकृति कृष्ण से प्रेम करती है और विधृता तो उनके दर्शनों से वंचित रह जाने के कारण आत्म-बलिदान कर देती है तथा भक्ति का एक पुष्प उनके चरणों पर चढ़ा कुब्जा परमसुन्दरी युवती बन जाती है और वह भी उदारचित्त हो उसे स्वीकार कर लेते हैं। कवि ने इस स्थल पर द्वापर के नायक कृष्ण का रूप चित्रण भी किया है और इस प्रकार वह कवि परिपाटी का अनुसरण कर नायक का रूप चित्रण करने से उदासीन नहीं रहा। हाँ, इतना अवश्य है कि उसके इस रूपचित्रण में रीतिकालीन कवियों की भाँति केवल आलंकारिता नहीं है अपितु रसार्द्रता भी है और साथ ही पर्याप्त नवीनता भी है; देखिए—

कसी क्षीण कटि, पीन वक्ष था, कच कंधरा ढँके थे;
स्वर्ण वर्ण के उत्तरीय में चित्रित रत्न ढँके थे।
दुगुने से वो भुज विशाल थे,। पार्श्व छीलते-छिलते;
गंड-द्युति-मंडल से मंडित श्रुति-कुंडल थे हिलते।
चिबुक देख फिर चरण चूमते चला चित्त चिर चेरा;

\+ \+ \+

उन काली आँखों में कैसी उजली दृष्टि निहारी;
जान पड़ा व्रज-कुंज-विहारी मुझको विश्व-विहारी !

इतना होते हुए कृष्ण आदर्श-प्रेमी ही हैं और साथ ही कर्त्तव्य-निष्ठ भी हैं तथा बलराम ने उनके सम्बन्ध में कहा भी है—

प्रस्तुत रहो, कृष्ण नूतन मख रचने ही वाला है;
अब निर्मम विद्रोह मोह पर मचने ही वाला है।

इस प्रकार कृष्ण को नूतन यज्ञ के प्रारंभ करने का श्रेय दिया गया है और ग्वाल-बाल भी उनकी प्रशंसा करते हुए उन्हें अपना सिरमौर मानते हैं तथा उन्हें समय की काया ही परिवर्तित कर देने वाला कहते हैं—

अरे, पलट दी है काया ही इस केशव ने काल की;
बलिहारी, बलिहारी, जय-जय गिरधारी गोपाल की।
अति करदी अच्युत ने आहा ! भर दी गति-मति और ही;
कर लेता है ठीक ठिकाना वह चाहे जिस ठौर ही।
नागर नटवर होकर भी वह हम सबका सिरमौर ही;

ग्वालबाल कृष्ण की विविध लीलाओं का भी वर्णन करते हैं और उन्हीं से यह भी ज्ञात होता है कि कृष्ण ने व्रज की रक्षा के लिए कौन-कौन से कार्य किए तथा गोवर्धन पर्वत को भी उठा लिया। कृष्ण ने किस प्रकार बकासुर और अघासुर आदि राक्षसों से ग्वालबालों की रक्षा की यह भी उन्हीं से जान पड़ता है अतः हम देखते हैं कि कृष्ण केवल प्रेमी नहीं अपितु कर्त्तव्यनिष्ठ भी हैं। यद्यपि यशोदा उन्हें बालक ही समझती हैं और उनके माखन चुराने व काली-दह में कूद पड़ने की घटनाओं का वर्णन भी करती हैं पर वह तो जनसेवा व विश्वहित को ही अपना ध्येय समझते हैं। इसीलिए मानवमात्र के कल्याण के लिए गोकुल से मथुरा चले गए और बिना अपना कर्त्तव्य पूरा किए उनका गोकुल लौटना असंभव ही है अतः उद्धव ने यशोदा को समझाते हुए स्वाभाविक ही कहा है—

निकला है जिस व्रत को लेकर, माँ तेरा वनमाली;
पूरा किये बिना, घर कैसे लौटे वह बलशाली ?

तेरा रोदन वहाँ गूँज कर बाधा-विघ्न न डाले;
मंगल मना यहाँ तू, सुख से स्वकर्त्तव्य वह पाले।

वस्तुतः उद्धव और अक्रूर ने उन्हें परम ब्रह्म ही माना है और सुदामा उन्हें द्वारिकाधीश के रूप में देखते हैं तथा क्रूर अत्याचारी शक्तिशाली कंस भी उनसे भयभीत होकर यही कहता है—

सुना, किशोर मात्र है केशव, सम्मुख नहीं परन्तु;
तभी जान पड़ता है मुझको एक बड़ा सा जन्तु।
धिक्, फिर भी क्या चौंक गया मैं, ढीला पड़ा किरीट।

इस प्रकार हम देखते है कि यद्यपि द्वापर मे कृष्ण का चित्रण परोक्ष प्रणाली से ही हुआ है पर उनके चरित्र में विविधात्मकता सी दीख पड़ती है और उनके चरित्र के विविध पहलुओं को अंकित करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

राधा

प्रश्न २३—द्वापर के आधार पर राधा का चरित्र-चित्रण कीजिए।

प्रश्न २४—"विद्यापति की राधा उन्मादमयी विलासवती प्रगल्भा है, सूर की राधा ग्वालिनी भी है, व्रजरानी भी, किन्तु द्वापर की राधा कृष्ण की मुग्धा बनी हुई अपने को भूलकर कृष्णमय हो रही है।" इस कथन को ध्यान में रखते हुए 'द्वापर' के आधार पर राधा के चरित्र की विशेषताएँ बताइये।

प्रश्न २५—इस कथन का सोदाहरण विवेचन कीजिए कि "राधा के रूप में प्रेमाभक्ति की जीवित प्रतिमा द्वापर मे प्रस्तुत की गई है।"

उत्तर—वस्तुतः हिन्दी काव्य-साहित्य में राधा का विशद चरित्रांकन सर्व-प्रथम सूर ने ही किया है और जैसा कि श्री द्वारकादास पारीख व श्री प्रभुदयाल मीतल ने 'सूर निर्णय' मे लिखा है "सूरकाव्य मे राधा के चरित्र का ऐसा आकर्षक और सरस ढाँचा प्रस्तुत किया गया है कि बाद में वह कृष्णचरित्र का एक आवश्यक अंग माना जाने लगा। यहाँ तक कि व्रजवल्लभ कृष्ण के चरित्र की पूर्णता राधा के बिना असंभव ज्ञात होने लगी।" यद्यपि सूर के पूर्व राधा का

चरित्र-चित्रण करने वाले कवियों में बंग भाषा के सुप्रसिद्ध कवि चंडीदास और मैथिल कोकिल विद्यापति का नाम विशेष रूप से लिया जाता है तथा 'गीत-गोविन्द' के रचयिता जयदेव ने भी राधा का चरित्र-चित्रण किया है लेकिन उनकी राधा विलासपूर्ण प्रगल्भा नायिका ही जान पड़ती है और उसके चरित्र मे कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक अश्लीलता भी दृष्टिगोचर होती है।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि विद्यापति और चंडीदास की राधिका को तुलना विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने की है जिसका अनुवाद डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रकार किया है "विद्यापति की राधिका में प्रेम की अपेक्षा विलास अधिक है, उसमें गम्भारता का अटल धैर्य नहीं है; केवल नवानुराग की उद्भ्रान्त लीला और चांचल्य है। विद्यापति की राधा नवीन है; नवस्फुट है। हृदय की सारी नवीन वासनाएं पंख फैलाकर उड़ना चाहती है, पर अभी रास्ता मालूम नहीं, कौतूहल और अनभिज्ञता-वश वह जरा अग्रसर होती है और फिर सिकुड़े आँचल की ओट में अपने एकान्त कोमल घोंसले में फिर आती है। कुछ व्याकुल भी है कुछ आशा-निराशा का आन्दोलन भी है।"

सूर द्वारा अंकित राधा के चरित्र से तुलना करते हुए डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने यही कहा है "सूर की राधा में विद्यापति, जयदेव, चंडीदास और ब्रह्मवैवर्त पुराण की विशेषताएँ संहित हो गई है और इन सबके ऊपर स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता के स्वर्णिम वर्ण से सूर ने अपनी राधा को ऐसा रूप दिया है कि उनसे पहले के राधा के सभी चित्र फीके पड़ गये। उन्होंने कैशोर्य की संयत चपलता और यौवन के उद्दाम भवसागर में डूबती हुई राधा का चित्रण नहीं किया अपितु अपने भोलेपन से सबके मन को हरने वाली और सहज निर्बाध तरलता से श्याम को आकृष्ट करने वाली बालिका राधा का भी चित्रण किया है। यह सूर की अपनी, देन, है निजी मौलिकता है। उनकी राधा मे परकीया की तीव्र वेदना चाहे न हो परन्तु स्वकीया की गंभीर और स्वाभाविक उत्कंठा अवश्य है।" इस प्रकार सूर द्वारा अंकित राधा का चरित्र-चित्रण अन्य पूर्ववर्ती समवर्ती कवियों की तुलना में कहीं अधिक उच्चकोटि का जान पड़ता है क्योंकि सूर की राधा न तो विलासिनी है और न उन्मादी ही तथा उसमें जितना विलास

और उन्माद है उतना ही संयम और शालीनता भी है। वस्तुतः वह जितनी अल्हड़ है और उतनी ही गम्भीर भी तथा एक साधारण ग्वाल-बाल होते हुए भी वह व्रज की रानी है। प्रेम, त्याग और आत्म-सम्मान जैसी उदात्त-भावनाओं की भी उनमें अधिकता है। प्रिय मिलन में तो वह हर्ष और गर्व की अनुभूति ही करती है लेकिन वियोग में करुणा से अधीर हो जाने पर भी अपने प्रियतम की निंदा नहीं करती और न उसकी निष्ठुरता देखकर उसे दोष ही देती है बल्कि स्वकीया साध्वी पत्नी की भाँति अपूर्व धैर्य के साथ उसकी प्रतीक्षा करती है।

कालान्तर में राधा का चित्रण एक साधारण नायिका की भाँति किया गया है। बीसवीं शताब्दी में बुद्धिवाद के प्रभाववश कवियों का राधा विषयक दृष्टि-कोण भी परिवर्तित हुआ और जिस प्रकार पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अपने उल्लेखनीय महाकाव्य प्रियप्रवास में कृष्ण के चरित्र-चित्रण में उद्भावनाएँ की हैं उसी प्रकार नारीत्व की उच्च भावना के अनुरूप ही राधा का चरित्र भी अंकित किया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रियप्रवास की राधा हिन्दी साहित्य के लिये सर्वथा एक नूतन देन है। वस्तुतः प्रियप्रवास की राधा अपनी लोकहितैषिणी व सात्विकी वृत्ति के कारण सम्पूर्ण व्रज का अवलम्ब बन जाती है और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका प्रेम वासनाजनित नहीं था अपितु शुद्ध प्रणय था जिसके फलस्वरूप मोहमाया त्याग लोकसेवा को ग्रहण कर वृषभानुनंदिनी राधा न रह कर व्रजदेवी राधा बन गयी।

इस पीठिका को ध्यान में रख जब हम द्वापर की राधिका के चरित्रगत पहलुओं का अनुशीलन करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम हमारी दृष्टि इस ओर जाती है कि कृष्ण की ही भाँति कवि ने राधा का चरित्र-चित्रण परोक्ष प्रणाली से ही अधिक किया है। इतना अवश्य है कि कृष्ण की तुलना में कवि ने राधा से आत्मोद्गार अधिक व्यक्त कराये हैं पर राधा के सम्बन्ध में अधिक जानकारी अन्य पात्रों की उक्तियों से ही होती है। इसीलिए हमने यह मान लिया है कि राधा के चरित्र-चित्रण में प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों प्रणालियों को अपनाते हुए भी परोक्ष प्रणाली का ही अधिक आश्रय लिया गया है।

सामान्यतः द्वापर की "राधा प्रेम की अनन्यता का साक्षात् स्वरूप है। वह

कृष्णमय है, प्रेम की तीव्रता में वह अपना आपा भूल चुकी है, और साक्षात् हरि-रूप हो गयी है। राधा के रूप में प्रेमा-भक्ति की जीवित प्रतिमा 'द्वापर' में प्रस्तुत की गयी है। गोपियों ने उसे कृष्ण का सेंदूर राग कहा है।" इस प्रकार द्वापर की राधा में समर्पण की भावना ही मुख्यतः है और कृष्ण-राधा एक दूसरे के पूरक ही है तथा न तो राधा के बिना कृष्ण का ही कोई महत्व है और न कृष्ण के बिना राधा ही अपना कुछ महत्व मानती हैं। वास्तव में तो वह अनन्यता में ही अपने प्रेम पात्र को देखती हैं और प्रेमी के असहनीय व्यवहार को भी सह लेना अनन्यता की कसोटी है तथा अनन्यता में सर्वदा यही भावना रहती है कि किस प्रकार प्रिय को संतुष्ट रखा जाय। हमें यह न भूलना चाहिए कि वल्लमाचार्य ने भगवत्प्रेम के प्राप्त करने के हेतु नवधा भक्ति की सराहना करते हुए सुबोधिनी टीका में उसके साधन क्रम को अपनाने की राय दी है लेकिन इन समस्त साधनों में आत्म-निवेदन या आत्मसमर्पण को अधिक महत्व देते हुए 'अन्तःकरण प्रबोध' नामक ग्रंथ में तो उन्होंने 'सर्वसमर्पितमक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव' नामक उक्ति द्वारा भक्त को आत्मा सहित पूर्णरूपेण कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण कर कृतार्थ होकर सुख प्राप्त करने की राय दी है। वास्तव में आराधना का अभिप्राय अनन्यता है और इस प्रकार राधा आराधना की सजीव प्रतिमा थी—

मेरे तृप्त प्रेम से तेरी बुझ न सकेगी क्षुधा हरे।
निज पथ धरे चले जाना तू अलं मुझे सुधि-सुधा हरे!

इतना ही नहीं द्वापर में राधा और कृष्ण तो कभी भी पृथक्-पृथक् नहीं जान पड़ते हैं तथा राधा में ही कृष्ण की झाँकी भी मिल जाती है और गोपी उद्धव को राधा में ही कृष्ण का स्वरूप दिखाती हुई कहती है—

यह क्या, यह क्या भ्रम या विभ्रम ? दर्शन नहीं अधूरे;
एक मूर्ति, आधे में राधा, आधे में हरि पूरे!

और भी—

हम राधा-मुख देख, श्याम का दर्शन पा जाती हैं;

स्वयं राधा भी द्वापर के प्रारंभ में ही 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' की भावना ले अपने सभी कर्म कृष्ण को अर्पित करती हुई दीख पड़ती हैं

और यही कहती हैं—

शरण एक तेरे मैं आई, धरे रहें सब धर्म हरे !
बजा तनिक तू अपनी मुरली, नाचें मेरे मर्म हरे !
नहीं चाहती मैं विनिमय में, उन वचनों का वर्म हरे !
तुझको—एक तुझी को—अर्पित राधा के सब कर्म हरे !
यह वृन्दावन, यह वंशीवट, यह यमुना का तीर हरे !
यह तरते ताराम्बर वाला, नीला निर्मल नीर हरे !
यह शशि रंजित सितघन-व्यंजित परिचित त्रिविध समीर हरे !
बस यह तेरा अंक और यह मेरा रंक शरीर हरे !

\+ + +

झुक, वह वाम कपोल चूम ले, यह दक्षिण अवतंस हरे !
मेरा लोक आज इस लय में हो जावे विध्वंस हरे !
रहा सहारा इस अन्धी का बस यह उन्नत अंस हरे !
मग्न अथाह प्रेम-सागर में मेरा मानस-हंस हरे !

दिनकर जी के कथनानुसार "राधा की इस उक्ति पर तो बड़े-बड़े महाकाव्य न्योछावर किये जा सकते हैं" तथा इसमें राधा की हृदयगत समर्पण भावना भी स्पष्ट हो जाती है और हम देखते हैं कि द्वापर की राधा कृष्ण की स्मृति में ही डूबी रहना चाहती है और उसकी अभिलाषा अपने मानव-हंस को कृष्ण-प्रेम के अथाह सागर में निमग्न रखने की है। इस दृष्टि से विचार करने पर सूरसागर की राधा से द्वापर की राधा कहीं अधिक सजीव जान पड़ती है और वह सूर की राधा की भाँति प्रणयिनी होते हुए भी उसमें भावना का रंग विशेष रूप से गहरा हो गया है। इसीलिए जहाँ कि सूर की राधा कृष्ण की बाँसुरी सुनकर अपना तन मन भूल जाती है, वहाँ द्वापर की राधा यह भी जानती है कि कृष्ण क्या गा रहे हैं—

अर्थ बताती है राधा ही, क्या मुरली ने गाया।

इतना ही नहीं स्वयं कृष्ण के हृदय में भी राधा के प्रति अथाह प्रेम है और राधा ने उन्हें अपनी प्रेम-रज्जु में बाँध रक्खा है तथा यशोदा ने इस ओर संकेत

करते हुए कहा भी है—

उसे व्यापती है तो केवल यही एक भय-बाधा—
कह दूँगी खेलेगी तेरे संग न मेरी राधा।
भूल जायगा नाच-कूद सब धरी रहेगी धा-धा;
हुआ तनिक उसका मुँह भारी और रहा तू आधा!

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण के हृदय में राधा के प्रति कितना अधिक प्रेम था और गोपी खंड में भी उसके प्रमाण मिल जाते हैं कि कृष्ण राधा को कितना अधिक चाहते थे तथा राधा का मान करते ही उन्हें मनाने पहुँच जाते थे। गोपी उद्धव से कहती हैं कि जब तक राधा मान नहीं करतीं तब तक भले ही कृष्ण उनकी उपेक्षा करें अन्यथा राधा के मान करते ही वह उसे मनाने स्वयं चले आयेंगे और उनका मुकुट राधा के चरणों पर लोटेगा—

राधा जब तक है अमानिनी करें कृष्ण मन मानी;
उसमें अहंभाव तो आवे भरें न आकर पानी।
चरणों में न पड़ें तो कहना मुकुट-रत्न-मालाएँ;

\+ + +

मथुरा क्या, आसिन्धु धरा की धूल छान डालें वे;
राधा-सा जन-रत्न कहीं भी जब जानें, पा लें वे।
सौ चक्कर काटेंगे आकर उतरेगी तब त्योरी;
जीती रहे यहाँ ज्यों-त्यों कर केवल कीर्ति-किशोरी।

यद्यपि सूरसागर की भाँति संयोगिनी राधा के स्थान पर प्रेमवियोगिनी राधा का ही चित्रण द्वापर में अधिक हुआ है परन्तु द्वापर की राधा का विरह ऊहात्मक नहीं है और साथ ही उसमें अत्युक्ति भी नहीं है। कृष्ण को ही अपना सर्वस्व समझने वाली राधा कृष्ण-वियोग में भी अपना सर्वस्व भुला चुकी है और अपनी स्मृतियाँ भी वापिस नहीं चाहती कारण कि स्मृति आने पर वह अपने आपको शायद ही सँभाल सकें और उसका जीवित रहना ही असंभव हो जाय। उसकी इस दशा का वर्णन करते हुए गोपी उद्धव से कहती हैं—

पर वह भूली रहे आपको उसको सुध न दिलाना,
होगा कठिन अन्यथा उसका जीना और जिलाना।

यह प्रेमवियोगिनी राधा विरह में डूबी हुई दिन-रात प्रियचिन्तन में रत रहते हुए भी लोकसेवा और विश्वप्रेम को अपना आदर्श मानती है तथा प्रिय-प्रवास की राधा की भाँति द्वापर की राधा भी व्यक्तिगत भावनाओं के धरातल से उठकर विश्व-कल्याण की बात सोचने लगती है और उसे अपनी पीड़ा में जगत की ही पीड़ा दृष्टिगोचर होती है। उसकी इस मनोदशा का वर्णन करते हुए एक गोपी ने कहा भी है—

राधा स्वयं यही कहती है उसे जगत की पीड़ा।

साथ ही वह—राधा—यह भी सोचती है कि उन्होंने अपने प्रियतम कृष्ण के सुख में ही उनका साथ दिया और जब उनका प्रियतम विश्व-कल्याण के लिए चल पड़ा तो वह उसे सहयोग न दे सकी—

सुख की ही संगिनी रही मैं अपने उस प्रियतम की;
व्यथा विश्व-विषयक न तनिक भी बँटा सकी निर्मम की।
उलटा अपना दुःख लोक को मैंने दिया सदा को,
उस भावुक का रस जितना था जूठा किया सदा को।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वापर की राधा प्रेमवियोगिनी होते हुए भी लोकहितैषिणी और सात्विकी वृत्तियों से पूर्ण है तथा वह जयदेव की विलासिनी प्रेमविह्वला नारी, विद्यापति की यौवनोन्मत्त मुग्धा नायिका, चंडीदास की परकीया, सूरदास की मर्यादा संतुलित नागरी, नंददास की तार्किक और रीतिकाल की उच्छृंखल अल्हड़ किशोरी सी नहीं जान पड़ती बल्कि हिन्दी साहित्यकार की एक नवीन देन ही है। डॉ० शैलकुमारी के शब्दों में "नारी जीवन का यह सत्य आधुनिक हिन्दी काव्य में राधा·····को लेकर उपस्थित होता है। आदर्शवादी कवि ने विरह में नारी-प्रेम की पूर्णता पाई है। जिस प्रकार अग्नि में तपकर स्वर्ण निखर आता है उसी प्रकार वियोग की कसौटी पर प्रेम की उज्ज्वलता, दृढ़ता और वासनाहीनता का विकास होता कवि ने देखा है।"

यशोदा

प्रश्न २६—द्वापर के आधार पर यशोदा का चरित्र-चित्रण कीजिए।

प्रश्न २७—इस कथन का सोदाहरण विवेचन कीजिए कि "द्वापर की यशोदा उल्लास और आनन्द से तृप्त ईश्वर के आशीर्वाद के समान है।"

उत्तर—वस्तुतः कृष्ण-काव्य में जिस प्रकार राधा कृष्ण-प्रेम की साक्षात् प्रतिमा है उसी प्रकार यशोदा का सम्पूर्ण व्यक्तित्व भी कृष्णस्नेह का प्रतीक है और यदि हम विचारपूर्वक देखें तो मन, वचन, कर्म से यशोदा का बाह्याभ्यंतर उसके स्नेहशील मातृत्व की ही सूचना देता है तथा सरलता व स्नेहशीलता उसके स्वभाव की दो प्रधान विशेषताएँ कही जायँगी। यहाँ डॉ० दीनदयाल गुप्त का यह कथन भी स्मरण रहना चाहिए कि "वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी सेवा-पद्धति में वात्सल्य भाव की सेवा पर विशेष ओर दिया था, क्योंकि इस भाव में निष्काम प्रेम का भाव सर्वाधिक रहता है।...बालक के निष्कपट भोले और पवित्र रूप पर किस माता-पिता का मन नहीं रीझता? अपने कष्ट और स्वार्थ को भूल कर शिशु की परिचर्या में किस माता ने अपने को नहीं भुला दिया? अथवा सतति-बिछोह में कितने वात्सल्य स्नेहसने हृदय नहीं छटपटाते? रतिप्रेम की तरह वात्सल्य-स्नेह भी मानव जाति का एक व्यापक भाव है। वात्सल्य भाव की भक्ति करने वाले कृष्ण भक्तों ने इसी से अपने को यशोदा की स्थिति में अधिक रक्खा है; नन्द के रूप में अपने का उतना नहीं देखा।"

इसीलिए अष्टछाप कवियों ने यशोदा के मातृ हृदय का भी चित्रण किया है और परमानंद दास व नंददास की उक्तियों में तो यशोदा सम्बन्धी उक्तियाँ प्रचुर मात्रा में हैं ही तथा अष्टछाप के सूर्य सूरदास ने "यशोदा के चरित्र में स्नेहशील, त्यागमयी, सरलप्रकृति माता का पूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है।" रीतिकाल में तो कवियों ने कृष्ण और राधा को सामान्य नायक-नायिका के रूप में अंकित-कर शृंगार रस के अश्लील चित्र प्रस्तुत किए हैं और वात्सल्य रस का आलम्बन होने के कारण यशोदा की उपेक्षा ही की है अतः भक्तिकाल के उपरान्त आधु-

निक काल में ही यशोदा का विस्तृत व मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया और इसका श्रेय भी प्रियप्रवासकार हरिऔध जी को है। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रिय-प्रवास में यशोदा का चित्रण अत्यधिक मर्मस्पर्शी है तथा कवि ने उसके मग्न हृदय की वेदना का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है और इसी प्रकार द्वापर में भी यशोदा का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक ही है तथा जैसा डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी का मत है "यशोदा के चरित्र में भी कवि ने कारुण्य प्रचुर समावेश किया है। अपने लाड़िले को अपने हाथों से खोकर पहले तो उसके मातृत्व में बड़ी विकलता होती है। किन्तु इस विफलता का पश्चादवर्ती रूप गम्भीर हो जाता है और बड़ी शान्ति से वह भगवान से प्रार्थना करती है कि—

तेरा दिया राम सब पावें
जैसा मैंने पाया!

इन पंक्तियों के बार-बार दुहराने में कवि ने बड़ी कलात्मकता से काम लिया है और इस दृष्टि से हम उसको पाश्चात्य कलाकार कवि टेनिसन (Tennyson) से तुलना कर सकते हैं।

सामान्यतः द्वापर में यशोदा का चरित्र-चित्रण प्रत्यक्ष प्रणाली से किया गया है और उद्धव-खंड में उद्धव ने यशोदा के प्रति जो विचार व्यक्त किए हैं उन्हें छोड़कर शेष काव्य-कृति में यशोदा का चित्रण स्वयं यशोदा खंड में ही विस्तारपूर्वक हुआ है। इस प्रकार यशोदा के आत्मोद्गारों में ही उनकी चारित्रिक विशिष्टताएँ स्पष्ट हो जाती हैं और हम देखते हैं कि वह एक सुखी व समृद्धिशालिनी गृहिणी ही है तथा कवि ने उन्हें धनधान्य से पूर्ण मानसिक व दैनिक सुखों से भरी-पूरी, घर की रानी व अवतारी बालक की माता के रूप में प्रस्तुत किया है। स्वयं यशोदा भी यही कहती हैं—

मेरे भीतर तू बैठा है, बाहर तेरी माया;
तेरा दिया राम सब पावें, जैसा मैंने पाया।
मेरे पति कितने उदार हैं, गद्गद हूँ यह कहते—
रानी-सी रखते हैं मुझको, स्वयं सचिव से रहते।

इच्छा कर, झिड़कियां परस्पर, हम दोनों हैं सहते,
थपकी-से हैं अहा ! थपेड़े, प्रेमसिन्धु में बहते ।
पूर्णकाम मैं, बनी रहे बस तेरी छत्रच्छाया ।
तेरा दिया राम सब पावें, जैसा मैंने पाया ।
जिये बाल गोपाल हमारा, वह कोई अवतारी ।
नित्य नये उसके चरित्र हैं, निर्भय विस्मयकारी ।

इस प्रकार यशोदा अपने घर में रानी सी रहती हैं और उनके पति नंद उनका बहुत सम्मान करते हैं तथा वह अपने पुत्र कृष्ण की कौतुकमय क्रीड़ाओं से आश्चार्यचकित हो उड़ती हैं कि उनका पुत्र न जाने कैसे कैसे चमत्कारी कार्य करता है उन्हें अपने पुत्र की बाल-क्रीड़ाओं के वर्णन में बडा ही आनन्द आता है और वह कृष्ण द्वारा माखन व दही की चोरी की घटनाओं का वर्णन कर उनकी चपल लीलाओं के साथ साथ कृष्ण के लोकोत्तर साहस व अलौकिक कृत्यों का भी वर्णन करती हैं । अपने पुत्र की नित्य नूतन लीलाओं से मन विस्मय-विमुग्ध हो जाता है उस पर माता का हृदय तो हमेशा पुत्र को वात्सल्यपूर्ण भावनाओं से ही देखता है अतः वह भी कृष्ण के बाल सौन्दर्य का ध्यान करती हुई आनन्द निमग्न हो जाती हैं और कहती हैं—

मेरे श्याम-सलोने की है, मधु से मीठी बोली;
कुटिल अलक वाले की आकृति है, क्या भोली-भोली ।
मृग से दृग हैं, किन्तु अनी-सी, तीक्ष्ण दृष्टि अनमोली;
बड़ी कौन सी बात न उसने, सूक्ष्म बुद्धि पर तोली !

वस्तुतः यशोदा कोमल भावनाओं की प्रतिमूर्ति, उदार हृदय व स्नेहमयी है और उनके मानस मे स्नेह सिन्धु सर्वदा लहराता रहता है तथा उन्होंने मुक्ति व सांसारिक सुख दोनों को एक साथ प्राप्त किया है क्योंकि एक ओर तो उनका घरेलू जीवन सुख सम्पन्न है और दूसरी ओर कृष्ण जैसा पुत्र उन्हें प्राप्त हुआ है । स्वयं यशोदा कहती हैं—

गर्व नहीं, यह कृतज्ञता है, मैंने जिसे जनाया;

× × ×

बाहर में जन-मान्य और धन-धान्य-पूर्ण घर मेरा;
पाया है, तब देने को भी, प्रस्तुत है कर मेरा।
लहराता है गहरा-गहरा, यह मानस-सर मेरा;
वही मराल बना है इसमें, जो इंदीवर मेरा।
मुक्ति शुक्ति-सी पली युक्ति से भुक्ति-भाग मन-भाया,
तेरा दिया राम सब पावें, जैसा मैंने पाया।

कवि ने द्वापर में यशोदा के करुणार्द हृदय का कहीं भी चित्रण नहीं किया और केवल उसके उल्लासपूर्ण मातृ-हृदय का वर्णन किया है। उद्धव खंड में अवश्य उद्धव ने यशोदा को सांत्वना देते हुए अपने उद्‌गार व्यक्त किए हैं और वह प्रारम्भ में ही यह कहते हैं....

अम्ब यशोदे, रोती है तू ? गर्व क्यों नहीं करती !
भरी-भरी फिरती है तेरे, अंचल धन से धरती !
अब शिशु नहीं सयाना है वह, पर तू यह जाने क्या !
आया है वह तेरी माखन-मिसरी ही खाने क्या !

परन्तु यशोदा के मग्नहृदय की वैसी हृदयस्पर्शी झाँकी द्वापर में कहीं भी नहीं दीख पड़ती जैसी कि प्रियप्रवास में है। सभवत: कवि इसे उचित नहीं समझता था और इसीलिए उसने यशोदा के उल्लासपूर्ण मातृहृदय का ही अत्यंत मधुर चित्रण किया है।

विधृता

प्रश्न २८—इस कथन की तर्कसंगत समीक्षा कीजिए कि 'द्वापर में विधृता एक विशिष्ट चरित्र है।'

प्रश्न २९—गुप्त जी के काव्य में नारी-चित्रण पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए द्वापर की विधृता का चरित्र-चित्रण कीजिए।

प्रश्न ३०—"द्वापर की नारी कवि की उपेक्षित नहीं, पुरुष के द्वारा निरादृता है, परित्यक्ता है और परपीड़िता है। नारी के इसी रूप को गुप्त जी ने द्वापर में स्थान दिया है।" गुप्त जी के काव्य में नारी के चरित्र का वर्णन कीजिए।

प्रश्न ३१—'द्वापर में विधृता के रूप में नारी की दयनीय मूर्ति उपस्थित हुई है।' इस कथन का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

प्रश्न ३२—गुप्त जी ने द्वापर में—

[१] हाय वधू ने क्या वर विषयक एक वासना पाई।

[२] कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या अर्द्धाङ्गिनी तुम्हारी।

आदि नारी मनोविज्ञान (Sex Psychology) के प्रश्नों का समाधान किया है। इस कथन की सकारण संगत विवेचन-कीजिए।

उत्तर—एक समीक्षक के कथनानुसार "गुप्त जी ने अपने काव्य-ग्रंथों में नारी का रूप सँवारा है और उनकी नारी कल्पना-प्रसूत न होकर एक शाश्वत मानवी होती है। उन्होने अपने काव्य में वैसी नारी को आश्रय दिया है जो अलौकिक जगत् की न होकर लौकिक जगत् की है। उनकी नारी असाधारण गुणों से पूर्ण होने के बावजूद भी एक साधारण नारी है जिसकी ओर हम भारतीयों का ध्यान स्वतः आकृष्ट हो जाता है।.....नारी के प्रति गुप्त जी का दृष्टिकोण व्यापक है जिसमें आधुनिक एवं प्राचीन विचारों का संतुलित समन्वय है।" इसी प्रकार डॉ० सत्येन्द्र के शब्दों में "गुप्त जी ने भी स्त्रियों में भारतीय आदर्श के ढाँचे में दिव्यता भरने की चेष्टा की है। स्त्रियों का जो भारतीय आदर्श दीर्घकालीन परम्पराभुक्ति के कारण अनुदान और रूखा-सा दीखने लगा था—और क्रांति के स्फुलिंगों को विस्फोट के लिए प्रेरित कर रहा था—उसी को नए भावुक तर्क से सजाकर, नई आत्मा से अभिसिंचित कर दिया है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जा ने नारी को जीवन का महत्वपूर्ण अंग माना है। उन्होंने पारिवारिक जीवन का प्रायः वर्णन किया है, जो नारी नारी के अभाव में कभी निर्मित ही नहीं हो सकता। यही नहीं, उन्होंने कई नायिका-प्रधान काव्यों की भी रचना की है। उनका सर्वत्र यही प्रयत्न रहा कि वे नारी-जीवन का, उसके गृहिणी रूप का, औज्ज्वल्य प्रकट कर सके। इसीलिए गुप्त जी ने कई परम्परागत नारी चरित्रों को नवीन जीवन विधि में ढालकर प्रस्तुत किया है और कई उपेक्षिताओं का उद्धार कर उन्हें अपनी काव्य-कृतियों

में प्रमुख स्थान प्रदान किया है। इस दृष्टि से शकुन्तला, कैकेयी, सीता, मांडवी, उर्मिला, यशोदा, विधृता, राधा, कुब्जा, कुंती, द्रौपदी, हिडिम्बा, देवकी, उत्तरा, विष्णुप्रिया और यशोधरा आदि नारी पात्र उनकी अविस्मरणीय चरित्र सृष्टियाँ ही हैं तथा इनमें भी द्वापर की विधृता का अत्यधिक उल्लेखनीय स्थान है क्योंकि "अब तक उर्मिला, यशोधरा आदि ख्यात नारी पात्रों को ही उन्होंने सहानुभूति दी थी, परन्तु द्वापर से विधृता जैसी सामान्य नारियों में भी महानता प्रदर्शित की गई है और इस प्रकार असाधारणता से साधारणता, महानता से लघुता की ओर उनकी प्रवृत्ति हुई है, जो युग के अनुकूल है "

वस्तुतः विधृता का चरित्र 'द्वापर' में कवि की अपनी उद्भावना है। श्रीमद्भागवत से एक संकेत मात्र पाकर कवि ने इस चरित्र के द्वारा युग-युग से पुरुष के नारी वर्ग पर किए गए अत्याचारों को स्वर दिया है। यों वह कृष्ण-भक्त है और उनका दर्शन न पा सकने पर देह त्याग देती है, पर इस देह-त्याग में भक्त का भगवत्-प्रेम नहीं, पुरुष के नारी के प्रति किये गये अत्याचार के विरुद्ध आत्मबलि है, पुरुष ने नारी के प्रति जो अविश्वास निरन्तर किया है, उसके प्रति आक्रोश है। नारी पुरुष का वासना-शमन का यंत्र ही नहीं है, वह उसकी अर्द्धांङ्गिनी एवम् गृहस्वामिनी है, इस अधिकार को सिद्ध करने के लिए विधृता का देह-त्याग एक ऐसी करुण कहानी है, जो रोमांचित कर कुछ सोचने को बाध्य कर देती है। विधृता चिर-अपमानित नारी का विस्फोट है, जो बलि देकर नारी के आत्मदाह का चित्र सम्मुख रख देती है। अब हम यहाँ द्वापर की विधृता की चारित्रिक विशिष्टताओं का सोदाहरण विवेचन करेंगे।

यद्यपि बलराम और ग्वालबालों के कथन में विधृता का उल्लेख हुआ है पर कवि ने जिस विस्तार के साथ स्वयं उसके—विधृता के—उद्गारों को व्यक्त किया है उनसे हमें उसके चरित्र-चित्रण की सम्यक् झाँकी मिल जाती है। अतः हम विधृता के चरित्र-चित्रण को प्रत्यक्ष प्रणाली का ही मानेंगे क्योंकि उसके आत्मोद्गारों के आधार पर ही उसकी चारित्रिक विशिष्टताओं का सरलतापूर्वक परिचय मिल जाता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि श्रीमद्भागवत में विधृता का नामोल्लेख नहीं मिलता और इस सम्बन्ध में जो कथा दशम स्कंध के तेईसवें

अध्याय में मिलती है उसका सारांश देते हुए कवि ने स्वयं ही यह स्पष्ट कर दिया है कि विधृता नाम उसके द्वारा ही अनुमानित है। द्वापर के निवेदन में गुप्त जी ने कहा भी है श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के तेईसवें अध्याय में एक कथा है। श्रीकृष्ण अपनी मंडली के साथ वन में दूर निकल गये थे। वहाँ उनके बंधुओं को भूख लगी। निकट ही एक स्थान पर यज्ञ हो रहा था। उन्होंने भोजन की प्राप्ति के लिए उन्हें वहीं भेजा। परन्तु याज्ञिक ब्राह्मणों ने उन्हें दुत्कार दिया। भगवान ने फिर भी उन्हें यज्ञशाला में भेजा। परन्तु इस बार पुरुषों के नहीं स्त्रियों के निकट। वहाँ उनकी अभिलाषा पूरी हो गई। स्त्रियों ने विविध व्यंजन लाकर भगवान को भी भोग अर्पण किया। इसी कथा के अन्तर्गत एक कथा और है। एक ही श्लोक में वह कह दी गई है। एक ब्राह्मण ने बलपूर्वक अपनी वनिता को रोक लिया। नैवेद्य समर्पण तो दूर, वह भगवान के दर्शन भी न पा सकी। इसी दुःख से उसने शरीर छोड़ दिया। शुकदेव जी ने लिखा है—

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यया श्रुतम्,
हृदयोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्।

इस सम्बन्ध में इतना ही है। खेद है कि इस विधृता का नाम नहीं मिला। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विधृता सम्बन्धी जो पौराणिक कथा कवि को प्राप्त हुई है उसे उसने कल्पना के रंग में रँग कर सजीवता प्रदान की है और इस दृष्टि से विधृता का चित्रण कवि की मौलिक सूझबूझ व नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा शक्ति का परिचायक है। चूँकि उस ब्राह्मण वनिता को उसके पति ने कृष्ण-दर्शन से विधृता कर लिया अर्थात् रोक लिया अतः उस नारी का नाम कवि की विधृता ही उपयुक्त जान पड़ा परन्तु वह कवि द्वारा कल्पित होते हुए भी युक्तिसगत ही है।

विधृता प्रारम्भ मे ही इस प्रकार के उद्गार व्यक्त करती है—

राम, राम! हा! ठहरो, ठहरो, यह तुम क्या करते हो?
अबला कह कर भी मुझको यों बलपूर्वक धरते हो!
लज्जा भी छोड़ी क्या तुमने छोड़ी जहाँ दया है?
तन न जाय, पर मन तो मेरा अपनी गैल गया है।

उसके इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह मन ही मन कृष्ण की उपासना करती थी पर भारतीय नारी होने के नाते अपने पति के प्रति वह विद्रोह भी नहीं कर पाती थी अतः उसने शरीर भले ही अपने पति को सौंपा हो लेकिन मन से तो वह कृष्ण की ही पूजा करती थी पर अपने पति का लांछनपूर्ण व्यवहार व अत्याचार भी रुचिकर नहीं लगता क्योंकि वह पति के प्रति निष्ठावान ही थी और कृष्ण-दर्शन की लालसा का यह अभिप्राय न था कि वह अपने पति से विद्रोह करती है। इसीलिए जब उसका पति उसे कृष्ण-दर्शन के लिए नहीं जाने देता तब उस निरादृता, पीड़िता और परित्यक्ता विधृता की यह दशा हो जाती है—

लोहित नेत्र, फड़कते नथुने, विकृत वदन, स्वर वाणी;
नारायण ! मेरे नर में है कौन नया यह प्राणी ?

तथा वह अपने पति के अन्याय का विरोध करते हुए कहती है—

हम तुम पति-पत्नियो थे दोनों दीक्षित इस अध्वर में,
पर मेरा पत्नीत्व मिटाया किसने यह पल भर में ?
मुट्ठी भर भी जो न दे सके, दासी थी, मैं आहा ?
वज्र भंग हो गया तुम्हारा, मेरा सब कुछ स्वाहा !
वह गुण किसने तोड़ा, जिसमें यह जोड़ा जकड़ा था ?
नर, झकझोर डालने को ही क्या, यह कर पकड़ा था ?
कामुक-चाटुकारिता ही थी क्या वह गिरा तुम्हारी ?—
एक नहीं दो-दो मात्राएँ नर से भारी नारी !

\+ + +

अधिकारों के दुरुपयोग का कौन कहाँ अधिकारी;
कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या अर्द्धाङ्गिनी तुम्हारी ?

इस प्रकार विधृता पुरुष जाति की बर्बरता का विरोध करती है और वह उन पुरुषों की बुद्धि का परिहास करती है जो कुल नारियों को शंकालु दृष्टि से देख कर उन पर छलना होने का दोषारोपण करते हैं। भावावेश में वह तीव्र स्वरों में कह उठती है—

वृतियों की उन कुलखियों के प्रति अश्लील रहो तुम
फिर भी श्रोत्रिय-होत्री ठहरे क्यों न सुशील रहो तुम ?
मैं भूखों को भोजन देने जाकर भी दुःशीला;
ललना तो छलना है, ओ हो, धन्य तुम्हारी लीला !

नारी पर अपना अधिकार जताने वाले और उसे द्रव्य समझने वाले पुरुषों को ललकारते हुए विधृता स्पष्ट कह देती है कि वह इस अन्याय के समक्ष मरना ही उचित समझती है—

जाती हूँ, जाती हूँ अब मैं और नहीं रुक सकती;
इस अन्याय समक्ष मरूँ मैं कभी नहीं झुक सकती।

साथ ही वह वेदों को परिमित समझने वालों का भी विरोध करती है और उसकी दृष्टि कुछ शब्दों तक ही उस अनंत की वाणी सीमित नहीं है अपितु वह तो नित्य प्रति नूतन मंत्रों को सृष्टि करता है—

तुम्हें वेद में नहीं मिला वह ! तुम हो वेदज्ञानी;
किन्तु वेद का अन्त कहाँ है, ध्यान धरो कुछ ध्यानी !
कुछ छन्दों तक ही परिमित क्या उस अनन्त की वाणी
नित्य नित्य नूतन भावों से भूषित: वह कल्याणी !

साकेत की रचना के समय काव्य से अधिक शक्तिशाली कथा-साहित्य (Fiction Literature) चला था ? यह साहित्य कला और उपयोगिता के प्रश्न को छोड़कर आदर्श के विरुद्ध कथा की ओर आकृष्ट हो उठा था। यथार्थ-वादी (Realist) व्यक्तियों के सामने अन्य प्रश्नों के साथ बड़ा प्रश्न यौन मनोविज्ञान (Sex Psychology) का था। यह आपके उपचेतना के आविष्कारक और उनके आधार मनोविश्लेषण (Psycho Analysis) शास्त्र के उगते हुए भावों से अत्यधिक उग्र हो उठा था। फलतः स्त्री-पुरुष की विवेचना माँ, बहिन, बेटी का अतिक्रमण कर गयी, और अपनी स्थापना में उसने कह दिया कि मूलतः वहाँ ऐसा कोई नाता नहीं, सब यही काम भाव (Oedipus Complex) रूपान्तरित होकर काम कर रहा है। 'शॉ' (Shaw) और इब्सन के नाटकों ने इन आधुनिकतम विज्ञान के विचारों को पात्रों में चरितार्थ कर दिया और उनके

सामाजिक अर्थ (Social Implication) को भी स्पष्ट करने का उद्योग किया। हिन्दी के कथा-साहित्य में भी इन सभी नाते-रिश्ते का उल्लंघन स्त्री-पुरुष का नर-नारी के रूप में अपने अवरुद्ध काम के लिए मार्ग ढूंढने का चित्रण होने लगा। पुरुष ने स्त्री को नग्न रूप में इन कहानियों और उपन्यासों में ग्रहण किया—और यह मनोस्थिति १९३४ से १९३८ तक हिन्दी में विशेष प्रबल रही। विधृता को उस ब्राह्मण ने रोका, इससे कई प्रश्न उठ खड़े हुए। (१) हाय ! वधू ने क्या वर-विषयक एक वासना पाई ? (२) कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या अर्द्धाङ्गिनी तुम्हारी ? (३) कृष्ण अवैदिक ! और राम भी ! (४) कर्म-योग के इन भाण्डों में वह रस कहाँ धरा है !" कवि ने इन समस्याओं का समाधान भी विधृता के माध्यम से प्रस्तुत किया है और इनमें से प्रथम के उत्तर में विधृता कहती है—

हाय ! वधू ने क्या वर-विषयक एक वासना पाई ?
नहीं और कोई क्या उसका पिता, पुत्र या भाई ?
नर के बाँटे क्या नारी की नग्न-मूर्ति ही आई ?
माँ, बेटी या बहिन हाय ! क्या संग नहीं वह लाई ?

इस प्रकार विधृता यह स्पष्ट कर देती है कि नारी केवल वासना ही की पात्रा नहीं है अपितु वह माँ बेटी और बहिन भी है लेकिन वह देखती है कि यह तो 'द्वापर' ही है अर्थात् चारों ओर संशय ही संशय है। इसीलिए मनुष्य नारी के प्रति शंकालु ही रहता है और यदि उसमें—मानव में—विश्व-कुटुम्ब की भावना आ जाय तो सभी समस्याएँ सहज ही सुलझ सकती हैं—

अथवा तुम्हें दोष क्या, युग ही यह द्वापर संशय का,
पर यदि अपना ध्यान हमें है तो कारण क्या भय का ?

उसका कहना है कि यह कितने आश्चर्य की बात है कि नारी से ही उत्पन्न मनुष्य नारी को ही पाप की पिटारी कहता है और नारी अब मातृत्व का विफल रोदन बनी हुई है—

उपजा किन्तु अविश्वासी नर हाय ! तुझी से नारी !
जाया होकर जननी भी है तू ही पाप-पिटारी।

इसी प्रकार पत्नी के स्वत्व और अधिकारो की समस्या पर भी विचार प्रस्तुत किए गए हैं तथा विधृता अपने पति की कामुक चाटुकारिता की निन्दा तो करती ही है लेकिन उसे यह भी आश्चर्य है कि उसके पति ने क्षण मात्र में उसके पत्नीत्व को मिटा दिया ! क्या यह पति-पत्नी का सम्बन्ध इतना क्षणभंगुर है जो एक झटके मात्र से टूट गया—

हम तुम पति-पत्नी थे दोनों, दीक्षित इस अध्वर में;
पर मेरा पत्नीत्व मिटाया किसने यह पल भर में ?

भारतीय नारी पाश्चात्य नारी को भाँति पति से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकती, अत: अपनी व्यथा ही अभिव्यक्त कर रह जाती है परन्तु विधृता अपने पति से यह प्रश्न अवश्य करती है कि क्या पत्नी की स्थिति दासी के समान ही है और वह पुरुष को इच्छा बिना नहीं कर सकती ? वह यह जानना चाहती है कि क्या अर्द्धाङ्गिनी होकर भी उसका कुछ भी अस्तित्व नहीं है ? अंततोगत्वा यह अपने बलिदान के लिए प्रस्तुत हो जाती है और यही कहती है—

किन्तु आर्य नारी तेरा है केवल एक ठिकाना;
चल तू वहीं, जहाँ जाकर फिर नहीं लौटकर आना ।

इस प्रकार विधृता के माध्यम से कवि ने यौन विश्लेषण और नारी के अधिकार सम्बन्धी प्रश्नों को उठाया है तथा उसके—विधृता के—चरित्र-चित्रण में युगीन मान्यताओं की झलक भी मिलती है । वस्तुत: 'यह युग की समस्या है कि नारी को हम केवल वासना-पूर्ति का साधन ही समझते हैं, बेटी या बहिन नहीं । यह हमारी अनैतिकता है । आज की स्त्री की दशा तो यह है कि वह अविश्वास की पात्रा है और मरने के अतिरिक्त उसके पास कोई मार्ग नहीं है ।'

साथ ही विधृता द्वारा ही कवि ने धर्म और विश्वास सम्बन्धी दो समस्याओं पर भी विचार किया है और वह दोनों ही प्राचीन भाव व धर्म-क्रांतियों से सम्बन्धित हैं। कृष्ण और राम के अवैदिक होने का जो प्रश्न उठाया गया है उसका समाधान विधृता द्वारा करवाते हुए कवि ने कहा है, "राम का जो वृत्त है, वह आर्य संस्कृति का पोषक है, ऋषि-मुनियों, यज्ञ-होम, ब्राह्मण-धर्म वैदिक कर्मकाण्ड की सभी विशेषताओं की रक्षा और सम्मान का भाव वहाँ जड़ में

विद्यमान है—वह आर्यों का युद्ध अनार्यों के साथ था और राम उसके नायक थे। वे लोक में पीछे उतरे। पर कृष्ण में तो अवैदिक कृत्यों का, उनके विज्ञापन का भाव प्रचुर है। विधृता के साथ अन्य नारियाँ भी हैं—उन्हें कृष्ण में आकर्षण है। ये कृष्ण की भार्यायें नहीं—उन्हें प्रेम है, पर वह कवि ने परकीयत्व नहीं होने दिया। राधा स्वकीया है विधिवत् विवाहिता नहीं। इस प्रकार यहाँ कृष्ण में विधि-विरोध है। वह यज्ञ विरोधी भी है। इन्द्र पूजा (यज्ञ) का विरोध कर गोवर्धन-पूजा और अन्नकूट का पोषक है—और कवि को संशय है कि ऐसा कृष्ण वैदिक या अवैदिक है ? यहाँ द्वापर में कवि आर्य-संस्कृति का कवि न बनकर लोक-संस्कृति का कवि होने चला है।"

इस प्रकार द्वापर की विधृता निस्संदेह हिन्दी साहित्य को गुप्त जी की एक अभिन्न देन है और कवि उसके चरित्र-चित्रण में पूर्णतः सफल भी रहा है।

बलराम

प्रश्न ३३—द्वापर के आधार पर बलराम का चरित्र-चित्रण करते हुए सिद्ध कीजिए कि कवि ने उन्हें आधुनिक नेता के रूप में प्रस्तुत किया है।

प्रश्न ३४—'द्वापर में प्राचीन भावों के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए कवि ने आर्य-धर्म को मानने व नवयुग की सृष्टि का परामर्श दिया है।' इस कथन को ध्यान में रखते हुए 'द्वापर' के एक उल्लेखनीय पात्र बलराम की चारित्रिक विशिष्टताओं का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

उत्तर—श्रीमद्भागवत और महाभारत आदि में बलराम के चरित्र-चित्रण की ओर ध्यान नहीं दिया गया और सुदृढ़ शरीर, निश्छल व सरल मन का होते हुए भी उन्हें स्थूल बुद्धि का कहा गया तथा उन्हें कृष्ण की आज्ञा का पालन करने वाला ही माना जाता रहा। यदि कहीं-कहीं महाभारत में बलराम कृष्ण को कुछ कहते भी हैं तो अंत में वह उनकी बातों में ही आ जाते हैं। चूँकि उन्हें लक्ष्मण का और कृष्ण को राम का अवतार माना गया है अतः स्वाभाविक ही कृष्ण के चरित्र को प्रमुखता दी जाती रही तथा बलराम का चरित्र स्वतन्त्र रूप में प्रस्तुत न किया गया। इसीलिये बलराम को सर्वथा नवीन रूप प्रदान

कर द्वापर में उन्हें एक सुधारवादी नेता के रूप में प्रस्तुत करना गुप्त जी को नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा-शक्ति से ही सम्भव हो सका है और इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनमें परम्परागत पात्रों को युगीन आदर्शों के अनुरूप सर्वथा नवीन रूप प्रदान करने की भी अनूठी क्षमता थी।

द्वापर के बलराम ओज, तेज और साहस के अवतार हैं तथा उनका यह रूप उनके उद्गारों के प्रारम्भ में ही झलक उठता है और वह कहते भी हैं—

खेल कूद में हो न अरे, हम सब अवसर खो देंगे;
भावी जीवन के विचार भी कुछ निश्चित् कर लेंगे।
रखते हो तो दिखलाओ कुछ आभा उगते तारे,
ओज, तेज, साहस के दुर्लभ दिन हैं यही हमारे।

द्वापर में पहली बार बलराम को एक बुद्धिमान नेता के रूप में अंकित किया है और हम देखते हैं कि वह एक सफल दूरदर्शी नेता की भाँति ग्वाल-बालों के हृदय में प्रेरणा भरते रहते हैं। बलराम का कहना है कि हमको पूर्वजों के पथ का अनुसरण करते समय उस पथ का युगानुरूप परिष्कृत कर लेना चाहिए और संकीर्णता से बचना चाहिए तथा परम्पराओं का अंधानुकरण उचित नहीं है। उनका कहना है कि हमारे पूर्वज भी काल, गति व अवस्था के अनुरूप व्यवस्था करते थे अतः पुरानी बातों को आधुनिक युग में उसी रूप में स्वीकार करना बासी खाने के समान है। देखिए—

जावेंगे अवश्यक हम अपने, प्रिय पितरों के पथ से;
किन्तु चक्र तो नहीं फँसेंगे, पूछेंगे निज रथ से।
अपरिष्कृत संकीर्ण कहीं वह, मार्ग न होने पाये;
थल से जल में, जल से नभ में, विस्तृत होता जाये।
नहीं देखते थे क्या पूर्वज कहाँ कालगति कैसी;
होगी जहाँ अवस्था जैसी, वहाँ व्यवस्था वैसी।
कहीं गतानुगतिकता पर ही रह सकता उद्योगी;
नये नये गीतों की रचना उन्हीं स्वरों पर होगी।

पितर नहीं खाते थे खट्टा, खावें हम भी मीठा;
किन्तु बुसा-बासी खाने से अच्छा टटका सीठा।

इस प्रकार बलराम युग के अनुकूल कार्य करना ही उचित समझते हैं और उनका विचार है कि हमारे पूर्वज हमको सारतत्त्व मात्र दे गये हैं तथा यह तो हमारा कर्त्तव्य है कि उस सारतत्त्व को ग्रहण कर युग के अनुरूप कार्य करें। उदाहरणार्थ, जिस प्रकार शर्करा में मूलतत्त्व मिठास ही है और उससे केवल मोदक ही नहीं बनते अपितु परिस्थिति व आवश्यकता के अनुसार असंख्य मिष्टान्न भी बना लिये जाते हैं उसी प्रकार एक ही मूल तत्त्व के अनेक रूप हो सकते हैं—

और शर्करा से मोदक ही बनते नहीं अकेले;
एक स्वादु के भेद असंख्य, सिद्ध करे सो ले ले।

बलराम का यही कहना है कि हमें पूर्वजों के मूल भावों की रक्षा करते हुए उन्हें युग के अनुकूल नवीन रूप प्रदान करना चाहिए अर्थात् हमें यह न सोचना चाहिए कि अमुक कार्य हमारे पूर्वज करते थे या नहीं और हमें तो समयानुसार प्रत्येक कार्य के लिए तत्पर रहना चाहिए चूँकि हमारे पूर्वज समय के अनुसार नदियाँ पार कर लेते थे अतः हमें समुद्र पार करने के लिए तत्पर रहना चाहिए—

पुरखे नदियाँ तरते थे तो तब है सिन्धु तरो तुम;
अस्वाभाविक क्या यदि ऐसा साहस कभी करो तुम।

इस प्रकार समय और परिस्थितियों के अनुसार ही कोई वस्तु अच्छी या बुरी लगती है और जो कम्बल शीत ऋतु में रुचिकर होता है वही गर्मी में किसी को भी पसन्द नहीं आता तथा होली के दिनों में सुन्दर लगने वाले रंग के छींटे दीवाली की रात में धब्बे से बुरे लगते हैं। वस्तुतः बलराम कर्मयोग पर ही आस्था रखते हैं और कृष्ण की भाँति यह भी निष्काम कर्मयोग का उपदेश देते से जान पड़ते हैं—

भूमि पूर्वजों की है निश्चय, कर्षक किन्तु तुम्हारा;
और इसीलिए तो था यथार्थ में उन सबका श्रम सारा।

होंगे वे कृतकृत्य तभी तो तुम सपूत जब होगे;
नित्य नये फल-फूलों वाली हरियाली भर दोगे।
मिला हमें उपवन पुरखों का यह सौभाग्य हमारा;
फल ही लेंगे या देंगे भी हम श्रम-जल की धारा।
सिंचन, रोपण, काट-छाँट से हाथ सिकोड़ेंगे हम;
झाड़ और झंखाड़ छोड़ कर तो क्या छोड़ेंगे हम ?

साथ ही वह अतीत के आधार पर वर्त्तमान व वर्त्तमान के आधार पर भविष्य का निर्माण करने के भी पक्षपाती हैं और उनका विचार है कि यही करने पर मनुष्य सच्ची उन्नति कर सकता है—

वर्तमान, यह आयोजन है निज भावी जीवन का;
कुछ अतीत-संकेत मिले तो अधिक लाभ वह जन का।

इस प्रकार बलराम प्राचीन युग से सारतत्त्व ग्रहण कर युग-धर्म के अनुकूल नवीन सृष्टि के विकास के पक्षपाती हैं और उन्होंने युग-धर्म व वर्तमान युग के महत्त्व का प्रतिपादन भी विस्तारपूर्वक किया है। उनकी दृष्टि में अतीत को हीन समझना आत्महीनता होगी और हमें चाहिए कि संगठन द्वारा सफलता प्राप्त करें क्योंकि संगठन के बल पर ही हम बड़ी से बड़ी बाधाओं को दूर कर सकते हैं—

सह सकना हो तो सर्वोपरि इष्ट और क्या भाई;
व्यापक विपदा से ही हमने संघ सम्पदा पाई।

इतना ही नहीं उन्होंने हिंसात्मक यज्ञों का विरोध भी किया है और उनकी दृष्टि में देवता तो श्रद्धा व भक्ति को ही आकांक्षा रखते हैं तथा हिंसात्मक यज्ञ की भला कौन सी आवश्यकता है—

यज्ञ वेदियाँ हैं वे अथवा कोटिक कुटियाँ सारी ?
व्यंजन नहीं, देव देखेंगे श्रद्धा-भक्ति तुम्हारी।

बलराम के उद्‌गारों में जन्मभूमि के प्रति अपार प्रेम भी विद्यमान है और उनके विचारों में न केवल राष्ट्र के लिए बलिदान होने की भावना है—

न्याय-धर्म के लिए लड़ो तुम, जाति हित समझो-बूझो
अनय राज, निर्दय समाज से निर्भय होकर जूझो।
राजा स्वयं नियोज्य तुम्हारा यदि तुम अटल प्रजा हो,
धात्री नहीं, किन्तु बलिदानी बस अन्यथा अजा हो।

अपितु नयी सृष्टि के लिए क्रांतिकारियों की भाँति वह भी चुनौती सी देते हुए करते हैं—

रही चुनौती आज हमारी, अधिक क्या कहूँ, यम को;
नई सृष्टि के लिए प्रलय भी प्रेक्षणीय हो तुमको।

इस प्रकार बलराम का चरित्र-चित्रण हिन्दी काव्य साहित्य में सर्वथा नवीन है और कवि उनके माध्यम से प्राचीन मूल भावों की पृष्ठभूमि में युगानुकूल संदेश देने में असमर्थ भी रहा है।

ग्वाल-बाल

प्रश्न ३५—द्वापर के आधार पर ग्वाल-बाल का चरित्र-चित्रण कीजिये।

प्रश्न ३६—इस कथन की सोदाहरण समीक्षा कीजिये कि 'ग्वाल-बाल कृष्ण को अपने नेता के रूप में स्मरण करते हुये आन्दोल्लास से भर जाते हैं।'

उत्तर—द्वापर में ग्वाल-बाल का चित्रण प्रायः प्रत्यक्ष प्रणाली से ही हुआ है और प्रारम्भ में वह कृष्ण की जय-जयकार करते हुए तथा उनके गुणों का उल्लेख करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं—

अरे, पलट दी है काया ही इस केशव ने काल की;
बलिहारी, बलिहारी जय-जय गिरिधारी गोपाल की।

वह कृष्ण को नव-निर्माण के नेता के रूप में देखते हैं और उन्हें अच्युत मानते हैं तथा उनकी दृष्टि में कृष्ण उनके लिये एक आदर्श महापुरुष की भाँति हैं। इतना ही नहीं वह कृष्ण के नागर नटवर होते हुए भी उन्हें अपना सिरमौर समझते हैं और स्वयं को उनका हाथी और घोड़ा कहते हैं।

कवि ने ग्वाल-बाल खंड में ही कृष्ण की विविध ब्रज-लीलाओं का वर्णन

किया है और इस प्रकार वह ग्वाल-बाल—कृष्ण के विविध शौर्यपूर्ण कृत्यों पर अपनी अटूट श्रद्धा व्यक्त करते हैं तथा कृष्ण के सम्बन्ध से ही अपने को अमर मानते हैं क्योंकि उन्होंने हमेशा उनकी रक्षा की है और अनेक असुरों का वध किया है।

हम मृग, वह मद; किन्तु अमर हैं हम उसके सम्बन्ध से,
भागे भय के कीट आप ही उस गुण-धर के गंध से।
गिरे असुर आ-आकर कितने द्रोह-मोहवश अंध से;
तुलना हो सकती है उसकी छाती से किस ढाल की ?

ग्वाल-बाल कृष्ण की रूप-सुषमा का भी वर्णन करते हैं और उनकी दृष्टि में मुरली ही कृष्ण की अपूर्व असि है तथा वह उदारहृदयी और सबके योग-क्षेम का ध्यान रखने वाले हैं। साथ ही वह राधा के प्रति अनन्य प्रेमभाव भी रखते हैं और उनके कारण ही ग्वाल-बाल जगती के जंजाल की चिंता नहीं करते। उनका कहना है कि वन में भटकते समय जब हम सब बुभुक्षा से पीड़ित थे तब कृष्ण ने ही हमें द्विज-पत्नियों के पास भेजकर भोजन दिलवाया था और इन्द्र के कोप से हमारी रक्षा के लिए उन्होंने गोवर्द्धन पहाड़ ही उठा लिया था। इसी प्रकार बकासुर, अघासुर, कालीनाग आलीनाग आदि से भी कृष्ण ने ही उनकी रक्षा की और सब ग्वाल-बाल अंत में आनन्दोल्लास में डूबकर रासलीला का वर्णन करते हैं—

निर्मल-नीलाकाश हासमय चमके चन्द्र-विकास में
दमके कल-जल, गमके थल-थल, कोमल कुसुम सुवास में
लय से बँधा अराल-काल भी डूबे रासोल्लास में;
घूमे भूमंडल भी गति से, सम भर कर स्वर-ताल की।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है द्वापर में ग्वाल-बाल कृष्ण को अपना रक्षक समझकर आनन्दोल्लास में मग्न रहते हैं।

नारद

प्रश्न ३७—द्वापर के आधार पर नारद का चरित्र-चित्रण करते

हुए सिद्ध कीजिए कि वह क्रांति के उपासक और शान्ति के विरोधी हैं।

उत्तर—देवर्षि नारद पौराणिक पात्र हैं और एक ओर तो उपनिषदों में उन्हें सर्वज्ञ भक्त, गायक व तत्वज्ञानी मानते हुए देवर्षि भी माना गया है जबकि दूसरी ओर उन्हें झगड़ा कराने वाला भी कहा जाता है। इतना ही नहीं इधर की उधर लगाने वाले लोगों और झगड़ा कराने वालों को नारद कहने की धारणा सी बन गयी है अतः अब हमारे यहाँ लोग नारद का वास्तविक रूप भूल कर उनके संबंध में गलत धारणा सी बनाए बैठे हैं। चूँकि गुप्त जी पौराणिक पात्रों को आधुनिकता के साँचे में ढाल कर प्रस्तुत करने की कला में सिद्धहस्त रहे हैं और उन्होंने पौराणिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में नवीनता भी भर दी है अतः द्वापर के नारद भी हिन्दी काव्य-साहित्य के लिए सर्वथा नवीन देन ही हैं। कवि ने उन्हें शान्ति का विरोधी और क्रांति का उपासक माना है तथा नारद के उद्‌गारों में प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि वह लोक-कल्याण के लिये संघर्ष करवाते थे अन्यथा स्वयं उनका कोई स्वार्थ न था—

शांति अंत में आप आयेगी, व्यर्थ जन्म, जो क्रांति नहीं।
लोक एक नाटक है प्रभु का, शोक रहे या हर्ष रहे,
जिसमें अपना स्वाँग सफल हो यहाँ एक संघर्ष रहे।

नारद स्वयं को चिर-चंचल और क्रीड़ा-कौतुकमय कहते हैं तथा वादी-प्रतिवादी दोनों के स्वरों में स्वर मिलाने को प्रस्तुत कहते हैं और चोर को भी शुभाशीष देने में उन्हें हिचक नहीं होती। साथ ही वह बिगड़े हुए कार्यों को सुधारने के लिए भी सर्वदा प्रयत्नशील रहते हैं। उनका कहना है—

आल्हादों के साथ भले ही आवें क्यों न विषाद कहीं,
मेरे उस वसुधा-कुटुम्ब में आ न जाय अवसाद कहीं।
कौशल दिखला सकते हैं हम कठिनाई में पड़कर ही;
बने विजेता और बड़े; सो बाधाओं से लड़कर ही।
जिससे पापी के पापों का घट झट से झट भर जावे;
पृथ्वी और स्वयं पापी भी परित्राण चटपट पावे।

कर देता हूँ यथाशक्ति कुछ योग उपस्थित मैं ऐसे;
कर दूँ अन्तर्दयादृष्टि से देखा अनदेखा कैसे ?
बिगड़े का सुधार करने से बढ़कर कोई कार्य नहीं;

वह यह भी मानते हैं कि असाध्य रोगी उपदेश देकर सुधारा नहीं जा सकता क्योंकि उस पर उन उपदेशों का कुछ प्रभाव न पड़ेगा अतः उनकी दृष्टि में ऐसे व्यक्ति की जिसका कि उपदेशों से सुधार नहीं हो सकता मृत्यु ही उचित है—

किन्तु उसे उपदेश व्यर्थ है जो विनाश से बाध्य हुआ;
तूर्ण मरण ही मंगल उसका जिसका रोग असाध्य हुआ।

नारद का विचार है कि स्थायी शांति के लिए क्रांति आवश्यक है अतः वह यही कहते हैं कि क्रांति रूपी आग से ही सामाजिक रूढ़ियों का कूड़ा-कर्कट नष्ट हो पाता है इसलिए वह स्वयं क्रांति में लिए प्रयास करते हैं—

अरे, आग भी कभी लगानी पड़ जाती है हमें यह;
कूड़ा-कर्कट ही न अन्यथा भर जावे फिर जहाँ-तहाँ।

और चूँकि क्रांति का एक सीमा तक ही उपाय हो सकता है अतः वह स्वयं आग लगाने के बाद उसे शान्त करने का उपयोग भी करते हैं जिससे कि इस क्रान्ति के कारण सामाजिक-व्यवस्था पूर्णतः नष्ट हो जाय—

आग लगा कर हमीं बोड़ते पानी की झाड़ी को भी;
कटा खेत जलता-जलता जो जला न दे बाड़ी को भी।

इस प्रकार नारद सामाजिक-व्यवस्था को बनाए रखने के लिये और सामाजिक सुधार हेतु क्रान्ति की आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं परन्तु उन्हें व्यावहारिक क्रांति ही प्रिय है तथा वह यह नहीं चाहते कि क्रांति के फलस्वरूप सारी सामाजिक-व्यवस्था ही नष्ट हो जाय। इसलिए सुधारवादी दृष्टिकोण रखने के कारण ही एक ओर तो वह कंस को अत्याचार के लिये भड़काते हैं और दूसरी ओर वेणु व ब्रजबालाओं में भूले हुए नटनागर के मथुरा आने के लिए परिस्थितियों का निर्माण करते हैं। इस दृष्टि से नारद का द्वापर में अत्यधिक महत्व है क्योंकि वह क्रांतिकारी के रूप में प्रस्तुत हुए हैं।

देवकी

प्रश्न ३८—द्वापर के आधार पर देवकी का चरित्र-चित्रण कीजिये।

उत्तर—वस्तुतः डॉ० शैलकुमारी का विचार है कि "द्वापर की देवकी में निष्फल वात्सल्य विद्रोहात्मक हो उठा है।" और यहाँ यह भी स्मरणीय है कि देवकी कृष्ण की जननी एवं कंस की भगिनी है जिसे उसके पति वसुदेव के साथ उसके भाई ने कारागृह में बन्द कर दिया है। वह दुखिया अपने पुत्रों का वध हो जाने से व्याकुल अपने को पति के दुःख का मूल समझने वाली एक अत्याचार-पीड़िता नारी है। उसका आत्मनिवेदन दुःख का हाहाकार है। इस प्रकार द्वापर में देवकी कंस के कारागार में पड़ी हुई अपने करुणापूर्ण उद्‌गार व्यक्त करती है और वह वेदना की साक्षात् प्रतिमा सी जान पड़ती है। वस्तुतः उसकी तुलना धरती माता—भारत माता—से की जा सकती है जिसके कि बहुत से पुत्र अत्याचारी शासक द्वारा नष्ट कर दिये गए हों और जो मुक्ति की आशा लगाये बैठी हो। इस प्रकार वेदना-व्यथिता देवकी प्रारम्भ में ही इस प्रकार के करुणा व द्वन्द्व पूर्ण उद्‌गार व्यक्त करती है—

आधी रात जहाँ दिन में भी, वहाँ रात फिर पूरी।
किसे ज्ञात है, कहाँ हमारे फिरते दिन की दूरी?
फिर भी किस निश्चिन्त भाव से सोते हो तुम स्वामी,
वही जानता है इस जी को जो है अन्तर्यामी।
तब भी काल बीत जाता है, जब जुग-सा पल-छिन है;
जिससे हम जी जायँ, हाय! वह मरना महा कठिन है।
नाथ, कंस के हाथ उसी दिन, यदि मैं मारी जाती;
यह मरने से अधिक आपदा तो तुम पर क्यों आती?

इस प्रकार कंस द्वारा अपने पुत्रों का नाश किये जाने से उसका हृदय अत्यधिक दुखी है और वह एक ओर तो अपने पति वसुदेव को निश्चित भाव से सोने के लिये उलाहना भी देती है पर दूसरी ओर उसे इस बात से भी अत्यन्त पीड़ा हो रही है कि उसके कारण ही उसका पति भी आज कारागार में बंदी है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कंस ने अपनी बहिन देवकी का विवाह वसुदेव

के साथ कर दिया था और जब वह उन दोनों को धूम-धाम के साथ विदा कर रहा था तब आकाशवाणी हुई, 'रे कंस ! जिस बहिन को तू आज उत्साहपूर्वक विदा कर रहा है उसका पुत्र ही तेरा घातक होगा।' कंस ने उसी समय तलवार लेकर देवकी का वध करना चाहा पर वसुदेव के इस आश्वासन पर कि उनके जो पुत्र होगा वह उसे उसको—कंस को—सौंप देंगे उसने देवकी के वध का विचार स्थगित कर दिया और दोनों को कारागार में बन्द कर दिया। 'देवकी उसी दिन की घटना का उल्लेख करते हुए कहती है कि यदि उस दिन वह कंस के हाथों मारी जाती तो आज उसके पति को यह दुःख न झेलना पड़ता और वह एक भारतीय नारी की भाँति अपने करुणापूर्ण उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहती हैं—

दासी के पीछे दुख पर दुख सहना पड़ा तुम्हें है ;
पुनरपि रुद्ध गुहा-से गृह में रहना पड़ा तुम्हें है।

देवकी का हृदय कंस के अत्याचारों से क्षुब्ध है और वह राजा व प्रजा के संबंधों पर विचार करती हुई राजा की स्वेच्छाचारिता का विरोध भी करती है। उसका हृदय स्वेच्छाचारी, अनाचारी, अन्यायी और बर्बर राजा को धिक्कारने लगता है तथा एक साथ कई प्रश्न उसके सामने उठने लगते हैं—

राजा, प्रभो ! यही राजा है तेरा प्रतिनिधि ? धिक् धिक् !
क्या इस राजा और प्रजा का वही एक विधि ? धिक् धिक् !
धिक् तुझको, तेरे राजा को, वह है स्वेच्छाचारी;
अविचारी, अन्यायी, बर्बर; केवल पशुबल-धारी।
हाहाकार हमारा है सा उसका बजता बाजा;
आँखें हैं तो देख अरे तू, यही न तेरा राजा ?

जब उसे कंस द्वारा मारे गये अपने बच्चों की स्मृति होती है तब तो उसका हृदय अत्यधिक कराहने लगता है और वेदना-व्यथिता देवकी चीखकर करुण क्रन्दन करते हुए उस घटना का वर्णन करती है—

मरे–न, मारे गये अरे ! वे छै-छै बच्चे मेरे !
बच्चे मेरे—मेरे बच्चे; बोलूं क्या मैं जै—जै

मेरा मन तो चिल्लाता है, एक, दो—नहीं, छै–छै !
ओ हो, मृदुल मृकुल से भी वे मसल दिये इस खल ने
मांस पिण्ड, मक्खन के लोंदे निगल लिए इस खल ने !
उनमें क्या था ! श्वास मात्र ही था बस आता-जाता;
ललित तन्त्र-सा चलित यंत्र-सा कलित मंत्र-सा भाता ।
किन्तु क्या न था उन बच्चों में ? रूप रंग थे रूरे,
जीवन अदुरित, हृदय विस्फुरित, अंग अंकुरित पूरे ।

देवकी नारी के अधिकारों के प्रति भी जागरूक है और वह यह प्रश्न भी करती है कि क्या किसी पुरुष को यह अधिकार है कि वह अपने स्वार्थ व भावी आशंकाओं के भय से किसी नारी की संतति का शैशवावस्था में ही नाश कर दे । उसका कहना है कि यदि उस व्यक्ति को शत्रुता का भय हो तो उसे पुत्रों के युवक होने पर उनसे युद्ध करना था इस प्रकार शिशुओं की हत्या क्रूरता नहीं, कायरता ही है । वह कहती है--

हा भगवान ! हो गई व्यर्थ वह प्रसव-वेदना सारी;
लेकर यह अनुभूति चेतना कहां रहे यह नारी ?

तेजोमय गौरव से युक्त देवकी में स्नेह-वत्सलता भी है और जिस माता के छै नन्हें-नन्हें बालक उसकी आँखों के सामने ही मार डाले गए हों उसमें स्वाभाविक करुणा की अधिकता से उन्मत्तता सी आ जाती है और वह यही समझती है कि उसके पुत्र मरे नहीं, जीवित हैं अतः करुणापूर्ण वाणी में उन्हें सम्बोधित करते हुए वर कहता है—

किन्तु नहीं, वे नहीं गये अब भी यहीं बने हैं;
जाते कैसे कहीं, अन्ततः मेरे ही न जने हैं ।
इस अँधियारे में दीपक से ये क्या दमक रहे हैं ?
मुझे निरखते हुए नेत्र ये कैसे चमक रहे हैं
अब तो बड़े हो गये आ हा ! आओ मेरे हीरे !
किन्तु तुम्हारे तात सो रहे, उतरो धीरे-धीरे ।

मेरे षण्मुख कार्तिकेय, तुम मुझे घेर कर घूमो;
आओ, अब तो तुम्हें चूम लूँ और मुझे तुम चूमो।

निरंतर निराशा के वातावरण में रहते हुए भी देवकी आशावती है और उसे यह विश्वास है कि कंस का नाश अवश्य होगा पर उसे अब इसके लिये प्रतीक्षा असह्य हो जाती है। वह जब अपने पुत्र कुँवर कन्हैया की बाट जोहती हुई थक जाती है तब उनका आह्वान करते हुए कहती है—

अरे, देख तू यहाँ रही यह तेरी दुखिया मैया,
बोल कहाँ तू कुँवर कन्हैया मेरे राजा भैया।

इस प्रकार देवकी भावुक शोकग्रस्त, स्नेहवत्सला, धैर्यवती और आशावती माता के रूप में ही द्वापर में अंकित हुई है पर उसके चरित्र का एक उज्ज्वल पहलू नंद खंड में भी कवि ने अंकित किया है। स्मरण रहे कंस जब मारा जाता है और नंद द्वारा उसका पुत्र कृष्ण उसे मिल जाता है तो उसका मातृहृदय केवल सुख से ही नहीं भरता, वह अन्य माता के हृदय को भी समझने की क्षमता रखती है। उसे इस कल्पना से दुःख होता है कि कृष्ण को अब तक अपना पुत्र समझ कर स्नेह देने वाले नंद-यशोदा को कितना दुःख पहुँचेगा। वह कृष्ण के बदले में नंद की बेटी पाकर गँवा चुकी है, बेटा पाकर भी नंद को उनकी बेटी वापस नहीं दे सकती। उसका संवेदनशील हृदय रोता है—

बेटा कैसे लूँ, लौटाए बिना तुम्हारी बेटी।

द्वापर में देवकी का चरित्र उस दुःखिनी माँ का चरित्र है, जो अपनी मुक्ति के लिये आस लगाये बैठी है—ठीक स्वतंत्रता की उत्सुक भारत माता के समान।"

उग्रसेन

प्रश्न ३९—द्वापर के आधार पर उग्रसेन का चरित्र-चित्रण कीजिए।

प्रश्न ४२—इस कथन की सोदाहरण समीक्षा कीजिए कि "द्वापर के उग्रसेन पुत्र कंस के कार्यों से दुःखी होकर भी क्षमा, उदारता और वात्सल्य से पूर्ण हैं।"

उत्तर—श्रीमद्भागवत आदि प्राचीन धर्म-ग्रंथों में उग्रसेन प्रायः मौन ही रहते हैं और इस बात के कहीं भी अब तक कुछ भी प्रामाणिक तथ्य नहीं मिलते कि उन्होंने कोई भी उल्लेखनीय बात कही हो लेकिन द्वापर के कवि ने उग्रसेन को भी वाणी प्रदान की है तथा उनके आत्मोद्गारों के माध्यम से उन्हें एक अच्छे विचारक व पुत्र द्वारा पीड़ित व्यक्ति के रूप में अंकित किया है। द्वापर में हम उन्हें बंदीगृह में आत्मोद्गार प्रकट करते हुए देखते हैं और उनके इन उद्गारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह साम्राज्यवाद, क्रूरता और स्वेच्छाचारिता के विरोधी होते हुए भी क्षमा, उदारता व वात्सल्य से पूर्ण हैं। उन्हें इस कारागार मे बंद रखने का कुकृत्य उनके पुत्र कंस ने ही किया था पर वह राजा होते हुए भी राजोचित दर्प से रहित हैं और पुत्र के प्रति वात्सल्य-स्नेह ही प्रकट करते हैं। उनका कहना है—

फिर भी रहें पिता-माता हम सुत न रहे सुत चाहे;
वह भूला हम भी भूलें तो किसको कौन निबाहे
रहने दो आक्रोश आज यह, ओह ! काल को देखो,
अब भी वह अपना है, अपने मोह जाल को देखो !

इसीलिये वह अपनी पत्नी को समझाते हुए कहते हैं कि यदि पुत्र अपने कर्त्तव्य से विमुख हो गया है और उसने स्वयं ही दोषपूर्ण आचरण स्वीकार कर लिया है तो इसका अर्थ यह नहीं कि हम उस पर अपना क्रोध प्रकट करें बल्कि हमारे लिए उचित तो यह होगा कि हम उसके लिये शान्ति-पाठ करें—

धरा स्वयं दोषों ने उसको तुम क्या दोष धरोगी ?
शान्ति पाठ ही करो, व्यर्थ क्यों उस पर रोष करोगी।
आज वही दयनीय वस्तुतः अक्षम चाहे हम हों;
वह यदि निर्मम हुआ, कहो तो क्या हम भी निर्मम हों ?

वह अपनी पत्नी से कहते हैं कि जिस पुत्र को तुमने स्वयं पैदा किया है उसे अभिशाप देना क्या उचित होगा—**'न दो उसे अभिशाप, अन्ततः तुमने जिसे जना है'**—और वह कंस की राज्य-लिप्सा में भी अपना ही दोष स्वीकार करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में यदि हम दोनों—वह और उनकी पत्नी—पुत्र

को राज्याधिकार सौंप कर बन चले जाते तो यह दशा ही न होती। उनका कहना है—

स्वत्व मात्र लेकर ही तो, वह राजा आज बना है।
योग्य वयस्क व्यक्ति की थाती कोई उसे न देवे।
तो उसका अधिकार, उसे वह बलपूर्वक ले लेवे।
उसका राज्य सौंप कर उसको यदि हम वन को जाते;
तुम्हीं विचारो तो हम क्यों इस कारागृह में आते?
लोभ वस्तुतः रहा हमारा क्षोभ वृथा हम मानें,
नये कहाँ बैठें सोचो, यदि हटें न यहाँ पुरानें?

साथ ही उन्हें पुत्र के क्रूरतापूर्ण अत्याचारों से पीड़ा भी होती है और उनका पुत्र जिस प्रकार के दानवतापूर्ण कृत्य कर जनसंहार में लगा है उसे सुनकर उनकी यही इच्छा होती है कि यदि संसार उनके पुत्र को प्रह्लाद के रूप में देखता तो उन्हें स्वयं दैत्यपिता होना पसन्द था अर्थात् वह यह नहीं चाहते कि उनका पुत्र इस प्रकार के राक्षसी कृत्य करे। इतना होते हुए भी उनकी ममता शान्त नही हो पाती और वह मानवमात्र में देवत्व व दानवत्व की झलक देखते हुए यही आकांक्षा प्रकट करते हैं—

मै कहता हूँ, यदि मनुष्य ही बने मनुष्य हमारा,
तो कट जाय देव-दैत्यों का कलह-कलुष यह सारा।

तथा अपने पुत्र को महाबली व विचित्र साहसी भी मानते हैं पर हृदय में उनके यही अभिलाषा है कि उनके पुत्र को सद्बुद्धि प्राप्त हो क्योंकि—

भुजबल की ही विश्वासी वह, सत्ता का साधक है;
पर शिवहीन शक्ति का साधक बाधक ही बाधक है।
दुष्कर करने में ही उसकी बुद्धि गर्व करती है;
नग्नशक्ति शिव के ऊपर ही उन्मद पद धरती है।

उग्रसेन को दृष्टि में वीर वही है जिसमें धीरता हो और एकाकिनी शूरता क्रूरता जैसी ही है तथा वह यह सोचते हैं कि उनके लिए कारागृह में रहना अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि यदि वह बाहर स्वच्छंद विचरण करते होते तो भला अपने

पुत्र के इन क्रूर-कृत्यों के कारण लोगों को मुँह कैसे दिखला सकते थे—

कारागृह में हैं हम दोनों, गिनो लाभ ही इसको,
और नहीं तो बाहर रहकर मुँह दिखलाते किसको ?

उन्हें यह विश्वास है कि मुक्ति-विधायक ईश्वर ही उन्हें इस जीवन से छुटकारा दिलवाएगा और वह कहते हैं—

सहें भले ही हम यह बन्धन पीड़ा-व्रीड़ा-दायक;
किन्तु सहेगा इसे कहाँ तक अपना मुक्ति-विधायक।

इसीलिये वह इस कारागृह के एकान्त को भी अपने लिए वरदान समझते हैं और यही विचार प्रकट करते हैं—

यास शान्त-एकान्त हमारा समय मनन-चिन्तन का,
मंगल इससे अधिक और क्या अब मुझ जैसे जन का ?

इस प्रकार वृद्धोचित गंभीरता व चिन्तन-शक्ति से युक्त बंदी उग्रसेन पुत्रस्नेह से पूर्ण पिता के रूप में ही अंकित हुए हैं।

कंस

प्रश्न ४१—द्वापर के आधार पर कंस का चरित्र-चित्रण कीजिए।

प्रश्न ४२—कंस के चरित्र का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट कीजिए कि द्वापर में उसका चरित्र साम्राज्यवाद का प्रतीक है।

उत्तर—कंस पौराणिक पात्र ही है और वह मथुरा के राजा उग्रसेन का पुत्र तथा भगवान कृष्ण का मामा था। पुराणों में वह अपने क्रूर व अत्याचारी कृत्यों के लिए कुख्यात है और श्रीमद्भागवत में उसके राक्षसी कृत्यों का चित्रण करते हुए कहा गया है कि उसने पिता उग्रसेन को बलपूर्वक शासनाधिकार से च्युत कर स्वयं राजसत्ता ग्रहण की थी तथा आशंका मात्र पर बहिन देवकी व बहनोई वसुदेव को कारागृह में बंद कर उनके दुधमुँहे बच्चों का बध किया था। इसी कंस को गुप्त जी ने द्वापर में एक प्रमुख पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है और हमें यह न भूलना चाहिए कि "अत्याचार का असीम रूप कंस है। सत्ता का अभिमानी, दंड और दमन का हामी, ऐसा लगता है, अँग्रेजी असफरों का निरंकुश चित्र कवि ने कंस के रूप में उपस्थित किया है। अत्याचारी और

आशंकामात्र से डरने घबराने वाले वह छलछन्द, अत्याचार, दमन और अन्याय का प्रतीक है, साथ ही पुरुषार्थ को अहमन्यता का रूप है।" इस प्रकार द्वापर में कंस एक क्रूर अत्याचारी शासक के रूप में ही अंकित हुआ है।

वस्तुतः द्वापर में कंस का प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रणालियों से चित्रण हुआ है तथा एक ओर तो कंस के उद्‌गारों में ही उसकी चारित्रिक विशिष्टताओं का परिचय मिल जाता है और दूसरी ओर देवकी, उग्रसेन व अक्रूर के उद्‌गारों में भी उसके क्रूर व अत्याचारी कार्यों की झलक दीख पड़ती है। स्वयं कंस किसी दैवी शक्ति का शासन स्वीकार नहीं करता और अपने आप को नियति व नियंता मानते हुए कहता है।

नियति कौन है? एक नियंता मैं ही अपना आप;
कर्म-भीरुओं का आकुंचन एक मात्र यह पाप।
धर्म एक, बस अग्नि-धर्म है, जो आवे सो क्षार।
जल भी उड़े वाष्प बन-बन कर मल भी हो अंगार।

इस प्रकार उसकी दृष्टि में पाप नाम को कोई वस्तु नहीं है और अग्नि-धर्म ही सबसे बड़ा धर्म है जो दूसरों को भस्म कर देता है। साथ ही वह अत्यधिक गर्वीला भी है और उसका यही कहना है कि वह तो आगे बढ़ना ही जानता है तथा उसे इस बात की कोई भी चिन्ता नहीं है कि उसके पैरों से कोई कुचल क्या न जाय। इतना ही नहीं वह कट्टर साम्राज्यवादी है और इसलिए वह यह भी मानता है कि विशाल साम्राज्य की स्थापना ईंट और गारे से नहीं अपितु रुधिर से सने हुए कंकालों पर होती है अर्थात् जो शासक शोषण करने में समर्थ है और हिंसात्मक रूप में अनुशासन रख सकता है वही साम्राज्य की स्थापना भी कर सकता है। इसीलिए वह कहता है—

बनता नहीं ईंट-गारे से वह साम्राज्य विशाल;
सुनो, चुने जाते हैं उसमें रुधिराप्लुत कंकाल!
लिखो भले उसकी भीतों पर दया-धर्म के चित्र;
सदा भुलाते रहे जनों को जिनके चटुल चरित्र।

कंस की दृष्टि में क्रूरता द्वारा ही राज्य-व्यवस्था संभव है और वह किसी के

भी अश्रुओं से पसीजता नहीं अपितु मानवीय सद्गुणों को कमजोरी ही समझता है। इसी प्रकार वह धरती पर समस्त बंधन दुर्बलों के लिए ही मानता है और ब्रह्म को भी अपने सामने नगण्य समझता है—

जितने भी बन्धन हैं, वे सब अबलों के ही अर्थ;
बन्धन बन्धन ही है, तोड़ो, यदि तुम सबल समर्थ।
ठहर ब्रह्मवादी, बकता है, तू क्या अब्रह्मण्य।
तेरा ब्रह्म और तू दोनों मेरे निकट नगण्य।

वह मत्स्य-न्याय का समर्थक है और उसका कहना है कि जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है उसी प्रकार बलवान दुर्बलों पर शासन करते हैं तथा संसार में दुर्बलों का जन्म ही शोषण के लिए हुआ है। साथ ही वह अहंकारी भी है और स्वयं को ही सर्वशक्तिमान समझ अपने आपको भगवान मानता है—

मैं हूँ अहं ब्रह्म विश्वासी परब्रह्म है कौन ?
नर ही नारायण है, नर में सुनो इसे सब मौन।
भाग्यवान भगवान आप में सब हों मेरे भक्त;
नियम मानते हैं सशक्त ही रचते उन्हें सशक्त।

उसे इस बात पर भी गर्व है कि वह जरासन्ध का दामाद है पर वह कूट-नीति पर विश्वास नहीं करता और साँप भी मर जाय तथा लाठी भी न टूटे की नीति उसे रुचिकर नहीं है क्योंकि वह तो अपनी भुजाओं की शक्ति पर विश्वास करता है। उसे झीना आवरण भी पसन्द नहीं है तथा वह कुछ भी गोपनीय नहीं रहने देना चाहता और प्रत्येक वस्तु को प्रत्यक्ष देखना पसन्द करता है।

कंस इतना अधिक क्रूर अत्याचारी है कि बालकों और वृद्धों को भी बंदी कर कारागार में डाल देता है तथा अपने पिता उग्रसेन व बहनोई वसुदेव को भी बंदी बनाता है। उसकी दृष्टि में कोई भी आज्ञाहीन व्यक्ति राजा का आत्मीय नहीं हो सकता और इसीलिए वह श्रीफल की भाँति नरमुंडों की आहुति देकर राज्यसत्ता बनाये रखने का पक्षपाती है तथा शिशुओं के वध को भी अपने कार्य-साधन में सहायक समझता है—

श्री फल फोड़ फोड़ कर कितने बलि कर देते हैं लोग;
कुछ शिशुओं के सिर की बलि दे साधा मैंने योग !

उसे पुण्य-पाप की नहीं अपितु पुरुषार्थ की चिन्ता है और वह अपने आप में दयारूपी दुर्बलता का तनिक भी अंश नहीं आने देना चाहता। उसे अपने आपको बलवान कहलाना ही रुचिकर जान पड़ता है, भले ही कोई उसे क्रूर कहे और उसके क्रूरतापूर्ण कृत्यों का उल्लेख न केवल उसके उद्‌गारों में अपितु देवकी और उग्रसेन के कथन में भी मिलता है।

यद्यपि कंस क्रूर, अत्याचारी और शक्तिशाली है परन्तु वह मन ही मन भावी आशंका से भयभीत भी हो जाता है तथा एकाएक दीप बुझ जाने से सिहर उठता है—

सर्प-रूप धर खिन्न केंचुए करते हैं फुंकार;
अथवा ये झंझा के झोंके भरते हैं हुंकार।
दीप-शिखा बढ़ बुझी अचानक यह कैसा उत्पात ?
क्या सचमुच मैं सिहर उठा हूँ, यह लज्जा की बात।

इतना ही नहीं वह अपने प्रमाद का भी स्वीकार करता है कि सावधानी न रखने से कृष्ण बचकर निकल गया और उसे लज्जा भी होती है—

सचमुच मैं कर गया उपेक्षा मुझको हुआ प्रमाद।
और इसी से वासुदेव बच बड़ा हो गया आज;
भीति न जगती हो, पर मुझको लगती है यह लाज।

परन्तु वह साहस नहीं खोता और अपने पुरुषार्थ पर विश्वास रख हर परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार रहता है।

अक्रूर

प्रश्न ४३—द्वापर के आधार पर अक्रूर का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—अक्रूर भी पौराणिक पात्र ही है और श्रीमद्‌भागवत में उनका उल्लेख करते हुए यही कहा गया है कि कंस ने उन्हें कृष्ण को व्रज से मथुरा लिवा जाने का कार्य सौंपा था। द्वापर में भी अक्रूर के चरित्र-चित्रण में कोई नवीनता नहीं है और वह पुराण-सम्मत ही है तथा कवि ने उनको कृष्ण-भक्ति व

वृन्दावन के प्रति अनुरक्ति का ही वर्णन किया है। वह ब्रज-सुषमा को देखकर प्रारम्भ में ही इन उद्गारों को व्यक्त करते हैं—

नहीं मनोरथ के कुरंग ही रथ-तुरंग भी भटके;
पर मरीचिका में लटके या इस मधुवन में अटके ?
आ पहुँचा वृन्दावन यह मैं, क्या ही पुण्य-प्रभा है;
धाम यही यमुना रानी का, मथुरा राज-सभा है।

वृन्दावन की अनुपम सुषमा को देख अक्रूर हर्ष में फूले नहीं समाते और अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं—

अहा ! अकृत्रिम शुद्ध-वायु-गति गन्धमयी-मदमाती;
नहीं लक्ष्य में, अनुभव में ही ईश्वर-सी है आती।
मैं तो आज कृतार्थ हो गया नई पुलक यह पाके;
भूमि भूमि का गुण विशेष है देखे कोई आके !

वह कंस की आलोचना भी करते हैं और उनकी दृष्टि में कंस को तो उन शिशुओं ने ही पराजित कर दिया था जिनका कि संशयवश उसने वध किया था। उनकी दृष्टि में कंस को चाहिए था कि उन अबोध शिशुओं का वध न करता और जब शिशु बड़े हो जाते तब उनमें से जो भी उसका शत्रु होता उससे लड़कर बल-निर्णय कर लेता—

कंसराज कुछ कहें, प्रथम ही काँप गये वे भय से;
शिशुओं ने ही उन्हें हराया, केवल निज संशय से।
वीर-बली थे, तो उन सबको आप अभय देते वे;
शत्रु एक उनका जो होता उसे समझ लेते वे।

इतना ही नहीं वह कंस की भ्रम-बुद्धि की आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि उसने इस सत्य को मान लिया कि भागिनेय द्वारा ही उसकी मृत्यु होगी तब वह इसे असत्य क्यों समझता है—

भागिनेय से अपना मरना, सत्य उन्होंने माना ;
तो फिर सत्य अनृत क्यों होगा, इसे क्यों नहीं जाना ?

उन्हें मन ही मन यह ग्लानि भी होती है कि वह कृष्ण को ब्रज से मथुरा ले

जाकर क्रूरतापूर्ण कार्य कर रहे हैं क्योंकि कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उन का वातावरण क्षुब्ध और शोकपूर्ण हो जायगा अतः उनका नाम अक्रूर न होकर क्रूर होता तो अधिक युक्तिसंगत होता। उनके हृदय में ब्रज की प्रकृति और ब्रज-वासियों के प्रति पूर्ण सहानुभूति है तथा वह यह भी समझते हैं कि कृष्ण के मथुरा चले जाने पर ब्रज की क्या दशा होगी—

हाय ! रँभावेंगी कल गायें माताएँ रोवेंगी;
वृन्दावन की विपिन-देवियां सुधकर सुध खोवेंगी।
बोल सकेगी वाष्प-वेग-वश क्या कोई ब्रजबाला ?
चला जायगा खिझा-खिझा कर उन्हें रिझाने वाला।

उन्हें यह विश्वास तो है कि विजय कृष्ण की ही होगी परन्तु वह यह भली भाँति जानते हैं कि कृष्ण का अब ब्रज लौट पाना मुश्किल ही है अतः उन्हें यह भी चिन्ता है कि ब्रजवासी कृष्ण के बिना कैसे जीवित रह सकेंगे। इस प्रकार अक्रूर उदार हृदयी, सहिष्णु, भावुक व न्यायप्रिय व्यक्ति हैं।

नन्द

प्रश्न ४४—द्वापर के आधार पर नन्द की चारित्रिक विशिष्टताओं का परिचय दीजिये।

उत्तर—द्वापर के नंद सहृदय, स्नेही, न्यायप्रिय पिता के रूप में अंकित हुए हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि को उनका मनोवैज्ञानिक चित्रण करने में पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई है। वस्तुतः नंद का चरित्र-चित्रण केवल प्रत्यक्ष प्रणाली से ही हुआ है और कवि ने उनके आत्मोद्गारों में ही उनकी चारित्रिक विशिष्टताएँ अंकित की हैं। इस प्रकार द्वापर में नंद कृष्ण को मथुरा में छोड़ व्यथित हृदय से गोकुल लौटते हुए इन उद्गारों को व्यक्त करते हैं—

नंद लौट आया मथुरा से हे ईश्वर ! क्या लेकर ?
यह संतोष—देवकी का वह कोष उसी को देकर।
नहीं, नहीं, दे सका कहाँ यह लोलुप मन उस धन को !
तब तो तम तकना पड़ता है तस्कर ज्यों इस जन को।

यह गोकुल का ग्वोंड़ा, गाड़ी खड़ी क्यों रहे ? जावे,
मेरी बाट यशोदा की टुक आशा को अटकावे।
दिन जाने पर भी कुछ क्षण तक अरुणाभा रहती है ;
और एक आश्रय लेने को यात्रा से कहती है।
तब तक मैं भी तनिक अकेला रह कर जी भर रो लूँ ;
मानस के जल से मुख धोलूँ, कटि कस प्रस्तुत हो लूँ।
श्याम नहीं तो तनिक श्यामता संध्या में आ जावे;
ठीक किसी को यह जन, कोई इसको देख न पावे।

इस प्रकार गोकुल में प्रवेश करते समय नंद का हृदय शोक व वेदना से पूर्ण है और वह सोचते हैं कि कृष्ण की बाट जोहती हुई यशोदा को क्या उत्तर देंगे तथा कृष्ण को न देख गोकुलवासियों की क्या दशा होगी ? इतना ही नहीं वह गोकुल के बाहर ही रात होने की प्रतीक्षा करते हैं जिससे कि वह जब गोकुल में प्रवेश करें तो उन्हें कोई देख न सके अन्यथा जो भी उन्हें देखेगा कृष्ण के सम्बन्ध मे ही प्रश्न करेगा। साथ ही रँभाती हुई गायों को देख उनका हृदय व्यथा से भर उठता है और वह कहते हैं—

तनिक आड़ में हो जाऊँ मैं इस झाऊ में झुक कर
ताक रहीं बाँ-बाँ कर गायें इधर-उधर, रुक-रुक कर।
वत्सों के पीने में भी ये दूध चढ़ा लेती थीं,
और हाय ! मेरे पाहन का भाजन भर देती थीं।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि पुराणों में यह कथा भी प्रचलित है कि वसुदेव जब यशोदा के पास अपना पुत्र कृष्ण छोड़ आये थे तो साथ में यशोदा की पुत्री को ले गए थे और कंस ने उसे भी कारागार के शिलाखंडों में पटक दिया था। अतः नंद अब मथुरा से लौटने पर यही कहते हैं कि यद्यपि कृष्ण के लिए हमें अपनी बेटी का बलिदान करना पड़ा है पर यशोदा को इससे कुछ भी दुःख न होगा क्योंकि हम दोनों पति-पत्नी कृष्ण के लिए अपना सर्वस्व भी दे सकते हैं—

गई यशोदा की बेटी तो क्या उसके विनिमय में ?
नंद आज भी दे सकता है सब कुछ उसके जय में।

इतना ही नहीं वह अपनी बेटी का जन्म सफल ही समझते हैं और कहते हैं-

सफल जन्म मेरी बेटी का बची विश्व की धाती ;
उतरा भार मही माता का मरा कंस कुल-घाती ।
गोकुल को रक्षा कर उसको ध्रुव गोलोक मिला है ;
धन्य मुझे गद्‌गद् करके ही उसका शोक मिला है ।

नंद उस घटना का भी स्मरण करते हैं जब देवकी ने रोते हुए उनसे कहा था कि मैं तुम्हारी बेटी लौटाये बिना अपने बेटे को कैसे ले लूँ और उन्होंने उस समय रोते हुये यही कहा था कि मेरी बेटी राधा अभी भी व्रज में है पर अब नंद सोचते हैं कि वास्तव में राधा उनके लिए पुत्र के समान ही है और यही कहते हैं—

किन्तु वस्तुतः मैं बेटी को आज विदा कर आया,
पुत्ररूप में ही राधा को यहाँ नंद ने पाया ।
हा ! तथापि मुँह दिखलाऊँगा कैसे उसे यहाँ मैं ?
गया खेल ही बिगड़, खिलौना लेने गया जहाँ मैं ।

नंद मौन-रुदन ही करते हैं क्योंकि वह देखते हैं कि कृष्ण के वियोग में समस्त व्रज प्रदेश ही दुःखी है और दुःख के मारे गायें मँडराती हुई डोल रही हैं, आँगनों में नीरवता का साम्राज्य है तथा केवल कौवे उड़ते है । वह सोचते हैं कि अब कोई भी उन्हें उलाहना देते हुए उनसे बाल चपलतावश लड़ने नहीं आएगा और मिश्री तो चीटियाँ भले ही चुन लें लेकिन माखन तो सड़ता रहेगा तथा राधा यशोदा के आँचल में अपना मुख छिपा लेगी पर हम सबको यही संतोष है कि कृष्ण जहाँ भी रहें उन्हें किसी भी प्रकार का दुःख न हो । नंद मधुवन को पवन से कहते है कि वह कुछ ऐसा प्रयत्न करे कि कोई उनसे यह पूँछने न आए कि कृष्ण कहाँ हैं और वह स्वयं सबसे यही कहे कि कृष्ण नंद के ही पुत्र हैं तथा गोकुल उनका घर है ।

नंद को समस्त प्रकृति विषादपूर्ण जान पड़ती है और वह यह नहीं सोच पाते कि कहाँ निवास किया जाय क्योंकि समस्त व्रज प्रदेश तो कृष्ण के बिना दुःखी है पर उनके हृदय में अभी भी कुछ न कुछ आशा शेष है और उन्हें यह

विश्वास है कि उनका पुत्र कृष्ण उनसे अवश्य मिलेगा, अतः वह कहते हैं—

मेरे आशा-कुंज न सूखो उसे कहां लाऊँगा ?
उसने मुझसे यही कहा है, 'मैं सत्वर आऊँगा'।

कुब्जा

प्रश्न ४५—इस कथन की विवेचना उदाहरण सहित कीजिए—"गुप्त जी ने द्वापर में कुब्जा का चरित्र अभिनय रूप में उपस्थित किया है। कृष्ण-काव्य में परम्परा से चले आते हुए कुब्जा के प्रसंग में सौतिया भाव की छाया भी नहीं है। कुब्जा में प्रणय का पावन समर्पण है।"

प्रश्न ४६—द्वापर के आधार पर कुब्जा की चारित्रिक विशेषताओं का सोदाहरण उल्लेख कीजिए।

उत्तर—कुब्जा भी पौराणिक पात्र ही हैं और श्रीमद्भागवत में उसका चित्रण करते हुए कहा गया है कि वह शरीर से विकृत थी और कंस की पूजा के लिए पुष्प व चंदन थाली में सजाकर लिये जा रही थी पर मार्ग में उसे कृष्ण मिल गये और उन्होंने उसे कुरूप से सुरूप बना दिया तथा यह भी उन पर तन-मन से न्यौछावर हो गयी। इसके पश्चात् कृष्ण-काव्य-परम्परा में उसका चित्रण किया जाता रहा पर जहाँ उसे राधा को सपत्नी के रूप में ही अंकित किया गया है और कवियों ने उसके चित्रण में सौतियाभाव की प्रधानता ही रखी है। ठीक इसके विपरीत गुप्त जी ने कुब्जा का चरित्र-चित्रण आदर्शवादी दृष्टिकोण से किया है और उसके चित्रण मे पर्याप्त नवीनता का समावेश कर दिया है।

'द्वापर' में कुब्जा का चित्रण प्रायः प्रत्यक्ष प्रणाली से ही हुआ है और कुब्जा के आत्मोद्गारों में ही उसकी चारित्रिक विशिष्टताएँ स्पष्ट हो जाती हैं तथा अन्य पूर्ववर्ती कवियों की भाँति गुप्त जी ने गोपियों से कुब्जा के सम्बन्ध में ईर्ष्या-जनिक उद्गार व्यक्त नहीं कराये हैं। कवि द्वापर के प्रारम्भ में ही कहता है—

कंसराज के लिए ले चली फूल और चंदन मैं,
पहुँच पार्श्व से बोला पथ में—'शुभे' नंदनंदन मैं।

किसके लिये लिए जाती हो तुम पूजा की थाली ?
यह कहकर क्या जाने, कैसे मुसकाया वनमाली ।

इसके पश्चात् वह कृष्ण की सौन्दर्य-सुषमा का चित्रण करती है और उसे ब्रज-कुंज-बिहारी विश्व-विहारी जान पड़ता है—

उन काली आँखों में कैसी उजली दृष्टि निहारी;
न पड़ा ब्रज-कुंज बिहारी मुझको विश्व-विहारी !

वह कृष्ण की रूप-सुधा का पान करने में तन्मय हो जाती है और उसके हृदय में पावन प्रेम संचालित होने लगता है तथा वह ब्रजरानी राधा के विजयी वर की चेरी बनकर आत्म-समर्पण को उत्सुक हो उठती है—

ब्रजरानी के विजयी वर के धरे चरण ही चेरी;
पर अपने अतिरिक्त, भेंट क्या हो सकती है मेरी ?

इस प्रकार द्वापर की कुब्जा राधा की सपत्नी नहीं बनना चाहती बल्कि राधा की दासी बनने में ही अपना गौरव समझती है और यह गुप्त जी की मौलिक सृष्टि ही है । साथ ही वह आत्म-ग्लानि सी प्रकट करते हुए यह भी कहती है कि अभी तक मैंने अपना जीवन दानव-पूजन में ही व्यर्थ नष्ट किया और आज पहली बार मेरे सामने एक देवता उपस्थित हुआ है लेकिन वह बेचारी कूबड़ी होने के कारण कृष्ण तक पहुँच भी नहीं पाती । इस प्रसंग का वर्णन करते हुए स्वयं कुब्जा कहती है—

मैं ऊँचा न हो सकी, फिर भी हिलते हाथ बढ़ाये,
माथे पर चंदन, चरणों पर मैंने फूल चढ़ाये ।

कृष्ण उसकी भावनाओं को समझ जाते हैं और वह अपना बायाँ हाथ उसके शीश पर व दाहिने से उसके चिबुक—ठोड़ी—को स्पर्श कर ज्योंही उसके पैरों को अपने चरणों से दबा उसकी ठोड़ी ऊँचा उठाते हैं त्यों ही वह कूबड़ी कुब्जा परम रूपवती युवती के रूप में परिवर्तित हो जाती है । स्वयं कुब्जा कहती है—

बायें कर से सिर सम्हाल धर दायें से ठोड़ी,
किया मुझे उत्कर्षित उसने शक्ति लगाकर थोड़ी ।

देख पैर उठते, चरणों से हँसकर इन्हें दबाया;
मैं उठ गई और कूबड़ का मैंने पता न पाया।
चमक गई बिजली सी भीतर, नस-नस चौंक पड़ी थी;
तनी जन्म की कुब्जा क्षण में सरला बनी खड़ी थी।
चिबुक हिलाकर छोड़ मुझे फिर मायावी मुसकाया;
हुआ नया स्पन्दन उर में, पलट गई यह काया।

इस प्रकार अब उसके हृदय में प्रेम का स्पन्दन प्रारम्भ हो गया और उसने कृष्ण के चरणों में अपने आप को न्यौछावर कर देना चाहा परन्तु वह तो एक क्षण के उपरान्त यह कह कर कि "अब फिर कभी मिलूंगा" हँसते हुए चले गये।

इसके उपरान्त कवि ने कुब्जा के प्रेमवियोगिनी रूप का चित्रण किया है और अब कुब्जा अपनी मर्म-व्यथा व्यक्त करते हुए राधा की मर्म-वेदना का भी अनुभव करती है तथा यही कहती है—

आने को न आप कहता तो कुब्जा क्या राधा थी?
मैं तो चेरी थी, जाने में मुझे कौन बाधा थी?
किन्तु आज आकुल है वन में जैसी वह ब्रजरानी;
दासी ने घर बैठे उसकी मर्म-वेदना जानी।

साथ ही वह यह भी सोचती है कि एक क्षणिक स्पर्श में ही जब उसकी यह दशा हो गयी है तब न जाने कितनी अन्य कृष्ण-संगिनी वियोग-दुःख से पीड़ित होंगी और वह स्वयं के लिए राधा की दूती होना अधिक सौभाग्य की बात समझती है क्योंकि यदि वह राधा की दूती होती तो इसी बहाने कृष्ण के चरणों को स्पर्श करने का सौभाग्य पा जाती। इस प्रकार कुब्जा की भावनाएँ पवित्र हैं और वह यह भी मानती कि कृष्ण ने उसका काया-कल्प ही नहीं किया अपितु उसके सद्-गुणों का भी विकास कर दिया है।

कृष्ण की प्रतीक्षा में विकल कुब्जा कभी-कभी उन्मादवश चीख भी पड़ती है और अपने अश्रुओं को सम्बोधित कर कहती है कि कृष्ण तो नहीं आए परन्तु नेत्रों में आँसू अवश्य आ गए हैं तथा वह कृष्ण से अपना अभिज्ञ सम्बन्ध भी

स्थापित करती है और अंत में अपने हृदय में ही प्रियतम कृष्ण की झाँकी निहारते हुए कहती है—

वह भीतर ही रहा, व्यर्थ ये द्वार सजाए मैंने।
श्रुति-अतीत वह, क्यों इस तन के तार बजाये मैंने ?
क्यों घृत-दीप जलाये मैंने, माखन-चोर न आया;
फिर भी अंतर में तो छाया वह नव-घन-मन-भाया।

वह कृष्ण के चरणों में अपने प्राण भी न्यौछावर कर देने को प्रस्तुत है और चूँकि स्वयं को वह राधा की दासी मानती है अतः अपने आप को भी कृष्ण के प्रति आत्म-समर्पण की अधिकारिणी समझ यह भी कहती है कि यदि उन्होंने उसका आत्मसमर्पण स्वीकार न किया तो ब्रजरानी राधा भी संतुष्ट न होगी। वह कहती है—

मेरा ही अधिकार यहाँ, सुन, राधा रुष्ट न होगी;
दासी को वंचित कर, तेरी रानी तुष्ट न होगी।
वह ब्रजरानी भी नारी है, यह सरला भी नारी;
आत्म-समर्पण के होंगे जन हम समान अधिकारी।

अधीर कुब्जा स्वयं को कृष्ण के पास जाने का विचार करती है और उस समय भी बस वह यही सोचती है—

तू न आज भी आवेगा तो। ही कल आऊँगी;
कुछ न सही तो कुटिल भृकुटि तो तेरी मैं पाऊँगी।
यही कहेगा न तू—'अधीरे, निकली तू चेरी ही।
हाँ, हाँ, मैं चेरी, मैं चेरी, तेरी ही, तेरी ही।

इस प्रकार वह स्वयं तो कृष्ण की दासी कहलाने में भी संतुष्ट है पर उसको विरहावस्था जब अपनी पूर्णता को पहुँचती है तब वह पल-पल में कृष्ण की आहट पा चौंक पड़ती है लेकिन उसका सारा समय प्रतीक्षा में ही बीत जाता है और जब कृष्ण नहीं आते तब वह यही कहती है—

निद्रा तेरा स्वप्न ले गई, अरे सत्य, अब आ जा;
जाग रही हूँ स्वागतार्थ मैं, आ राजों के राजा।

\+ \+ \+

तेरी व्यथा बिना सुन, मेरी कथा न पूरी होगी;
तू चाहे जिसका योगी हो, मेरा क्षणिक वियोगी।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वापर की कुब्जा भी हिन्दी साहित्य को गुप्त जी की सर्वथा नवीन देन है और डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने उचित ही कहा है, "मधुर कल्पना की दृष्टि से कुब्जा का चरित्र प्रशंसनीय है।"

उद्धव

प्रश्न ४७—द्वापर के आधार पर उद्धव का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—उद्धव पौराणिक पात्र ही हैं और श्रीमद्भागवत में उनका भी उल्लेख हुआ है तथा कहा जाता है कि वह श्रीकृष्ण के मातुल व सखा थे। उन्हें यादव सात्यकि को पुत्र और वृहस्पति का शिष्य माना गया है तथा उनका एक अन्य नाम देवाश्रवा भी कहा जाता है। श्रीमद्भागवत में भी उद्धव को ऐतिहासिक पात्र ही माना गया है और दशम् स्कंध में उनका परिचय देते हुए कहा गया है कि वह वृष्णिवंशी यादवों में श्रेष्ठ व साक्षात् वृहस्पति के शिष्य परम बुद्धिमान तथा कृष्ण के प्रिय मित्र ओर सखा हैं—

वृष्णीनां प्रवरो मंत्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो वृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥

सूरदास, कुंभनदास, गोविन्द स्वामी, छीत स्वामी, कृष्णदास, चतुर्भुज दास, परमानंद दास तथा नंददास आदि अष्टछाप कवियों के साथ-साथ भक्तिकालीन व रीतिकालीन कवियों ने भी भ्रमरगीत सम्बन्धी पद व उक्तियों की रचना की है तथा आधुनिक-काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', 'हरिऔध', 'रत्नाकर', पं० सत्यनारायण कविरत्न, 'रसाल' और द्वारिका प्रसाद मिश्र उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने भी अपनी काव्य-कृति द्वापर में शैली व भावना दोनों ही दृष्टियों से भ्रमरगीत परंपरा को एक नवीन मोड़ प्रदान किया है अतः उनके उद्धव परंपरा के अनुरूप ज्ञानवाद पर अटल आस्था रखते हुए भी भावुक हैं और हृदय-चेतना में पूर्ण आस्था रखते हैं।

सामान्यतः द्वापर के उद्धव का चरित्र प्रत्यक्ष रूप में कम और परोक्ष रूप

में अधिक अंकित हुआ है। यों तो कवि ने उनसे लगभग पन्द्रह पृष्ठों की परिधि में उद्‌गार व्यक्त कराए हैं परन्तु इन उद्‌गारों में वह यशोदा और गोपियों की सांत्वना प्रदान करते ही जान पड़ते हैं तथा उनकी चारित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट नहीं हो पाईं। प्रारंभ में ही वह माता यशोदा के सामने कृष्ण के महत्वज्ञापक रूप का परिचय देते हुए दीख पड़ते हैं—

अम्ब यशोदे, रोती है तू ? गर्व क्यों नहीं करती ?
भरी-भरी फिरती है तेरे अंचल-धन से धरती।
अब शिशु नहीं, सयाना है वह, पर तू यह जाने क्या ?
आया है वह तेरी माखन-मिसरी ही खाने क्या ?
खेल खिलौने के दिन उसके बीत गये वे, मैया !
यही भला, निज कार्य करे अब तेरा कुँवर कन्हैया।
उसे बाँधना तुझे रुचेगा क्या अब भी ऊखल से ?
काट रहा है वह सुजनों के भय-बंधन निज बल से।
उसे डिठौना देने का मन क्या अब भी है, कह तो ?
प्रेत-पिशाच झाड़ने आया मनुष्यत्व के वह तो !
तेरी गायों को तो कोई चरा लायेगा वन में ;
पर उद्दण्ड-द्विपद-षण्डों का शासक वही भुवन में।

इस प्रकार द्वापर के उद्धव भी ज्ञानी ही कहे गये हैं और वह व्रज में कृष्ण के परब्रह्म स्वरूप का ही प्रचार करते हैं तथा यशोदा को समझाते हुए कहते हैं कि उन्हें बाल कृष्ण की व्रज लीलाओं को भुला देना चाहिए क्योंकि कृष्ण का जन्म पृथ्वी से अत्याचार दूर कर मानवता का प्रसार करने के लिए हुआ है और वह अपना व्रत पूर्ण किए बिना वापिस नहीं लौट सकते अतः उन्हें उनके यश मार्ग में बाधक न बनना चाहिए। इतना ही नहीं वह यशोदा की आत्मा में ही कृष्ण-दर्शन का उपदेश देते हैं—

हुए निकटतम ही तुम मन से रहो कहीं भी तन से,
तेरा परमात्मीय तुझी में देख आत्म-दर्शन से।

यशोदा को सांत्वना देने के उपरान्त उद्धव कृष्ण-वियोग में व्यथित गोपियों

की दीन-हीन दशा को देखते हैं और उन्हें प्रत्येक ब्रजबाला जागरूक ज्वाला सी जान पड़ती है परन्तु वह उन्हें भी यही उपदेश देते हैं कि उन सब गोपियों को यह ज्ञात होना चाहिए कि सारा संसार ही मिथ्या माया का प्रपंच है अतः उन्हें चर्म-चक्षुओं के स्थान पर आत्मा में ही कृष्ण का दर्शन करना चाहिए—

धन्य दूरता ही प्रिय की, जो और निकट ले आवे ;
चर्म-चक्षुओं के बदले यह आत्मा उसको पावे ।
प्राप्य अन्ततः वह परमात्मा आत्मा ही के द्वारा ;
मिथ्या माया का प्रपंच है दृश्यमान यह सारा ॥

परन्तु उद्धव गोपियों के कृष्ण-प्रेम से प्रभावित होते हैं और अपने ज्ञान व उपदेश को भूल जाते हैं तथा प्रत्येक प्रेमवियोगिनी ब्रजबाला उन्हें राधा जान पड़ती है और उन गोपियों में ही वह कृष्ण का दर्शन करते हैं—

एक एक तुम सब राधा हो कहाँ तुम्हारी राधा ;
नहीं दीखती मुझे यहाँ हुई कौन सी बाधा ?
सच कहता हूँ, मैंने अपना राम तुम्हीं में पाया,
किन्तु तुम्हारा कृष्ण कहाँ, मैं यही पूछने आया ?

इतना ही नहीं वह राधा के चरणों की धूलि तक लेने की इच्छा व्यक्त करते हैं परन्तु गोपियाँ उन्हें रोकते हुए कहती हैं—

यह क्या कहते हो तुम उद्धव, उसकी पद-रज लोगे ?
उसे प्रणाम करोगे, तो फिर आशिष किसको दोगे ?

इस प्रकार उद्धव के चरित्र में कवि ने भावुकता का किंचितमात्र योग अवश्य कर दिया है अन्यथा उनका चरित्र परंपरागत ही है ।

गोपी

प्रश्न ४८—द्वापर के गोपी प्रसंग की विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए स्पष्ट कीजिए कि उसमें गोपियों की कौन-कौन सी चारित्रिक विशेषताओं का चित्रण हुआ है ।

प्रश्न ४९—इस कथन को तर्कसंगत विवेचना कीजिए—"द्वापर के गोपी-प्रसंग में अन्य कवियों की भाँति ही निर्गुण-निराकार, आत्मज्ञान

और योग की चर्चा उठाई गई है किंतु द्वापर की गोपी न तो सूरदास की गोपियों की भाँति भोली ही हैं और न नंददास की गोपियों की भाँति तार्किक ही अपितु वह तो ज्ञान-विज्ञान को विस्मृत किये ज्ञानमय हैं तथा उन पर भक्ति का हल्का-सा बौद्धिक आवरण भी है।"

प्रश्न ५०—"द्वापर के गोपी-प्रसंग में गुप्त जो ने योग और निर्गुण-निराकार के स्थान पर सगुण-साकार कृष्ण की प्रेमाभक्ति का कुशलता पूर्वक निरूपण किया है।" इस कथन की सोदाहरण समीक्षा कीजिए।

उत्तर—वस्तुतः उद्धव-गोपी-प्रसंग भ्रमरगीत नाम से हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध है और यदि हम उद्देश्य की दृष्टि से विचार करें तो डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव के कथनानुसार भ्रमरगीत का मूल उद्देश्य समष्टि रूप में यह माना जा सकता है कि "ज्ञान पर प्रेम की, मस्तिष्क पर हृदय की विजय दिखाकर निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासना की अपेक्षा सगुण-साकार ब्रह्म को भक्ति-भावना को श्रेष्ठता का प्रतिपादन।" स्मरण रहे इस 'भ्रमरगीत' के कथानक का प्रथम निदर्शन हमें श्रीमद्भागवत में ही होता है।

श्रीमद्भागवत की कथा का आधार लेकर हिन्दी कवियों ने भ्रमरगीतों की रचना की है और सर्वप्रथम सूर ने ही इस प्रसंग को मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है लेकिन उनके कथाक्रम के संयोजन में नवीन उद्भावनाएँ व प्रतिपाद्य विषय का स्वतंत्र दृष्टिकोण से विश्लेषण भी है। सूर के अतिरिक्त अष्टछाप के अन्य कवियों कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी, चतुर्भुजदास व नंददास ने भी भ्रमरगीत-काव्य परम्परा को विकसित किया है और इन कृष्ण-भक्ति-शाखा के कवियों के साथ-साथ राम-काव्य को परम्परा के जाज्वल्यमान रत्न तुलसी ने भी भ्रमराख्यान विषयक कतिपय पदों की रचना की है। भक्ति-कालीन अन्य कवियों में रसखान, हरिराम और रहीम भी उल्लेखनीय हैं तथा रीतिकालीन कवियों ने भी अपने स्फुट छन्दों में भ्रमरगीत प्रसंग को अंकित किया है। आधुनिककाल में पुनः भ्रमरगीत का मौलिक रूप से चित्रण हुआ और भारतेन्दु, 'प्रेमघन', 'हरिऔध' पं० सत्यनारायण कविरत्न, 'रसाल' व पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र के साथ-साथ श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी द्वापर में शैली

और भावना दोनों ही दृष्टियों से इस उद्धव-गोपी-संवाद को एक नवीन मोड़ प्रदान किया है।

सामान्यतः द्वापर में गोपियों का चरित्र प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ही रूपों में हुआ है अतः एक ओर तो हम उद्धव के उद्गारों में उन ब्रजबालाओं की दशा का सजीव चित्र देखते ही हैं तथा दूसरी ओर स्वयं गोपियों के आत्मोद्गारों में भी उनकी चारित्रिक विशिष्टताएँ अंकित हुई हैं। उद्धव प्रेम-वियोगिनी गोपियों की दयनीय दशा का चित्रण इस प्रकार करते हैं—

अहा ! गोपियों की यह गोष्ठी, वर्षा की ऊषा सी ;
व्यस्त-ससम्भ्रम उठ दौड़ें की स्खलित ललित भूषा-सी।
श्रम कर जो क्रम खोज रही हो, उस भ्रमशीला-सी ;
एक अतर्कित स्वप्न देखकर चकित चौंकती धृति-सी ;
हो होकर भी हुई न पूरी, ऐसी अभिलाषा सी ;
कुछ अटकी आशा-सी, भटकी भावुक की भाषा-सी।

इस प्रकार उद्धव को गोपियाँ वियोग-वेदना में जलती हुई जागरूक ज्वाला सदृश जान पड़ती हैं और वह उन्हें प्रेम की साक्षात् प्रतिमा मानते हैं तथा उनके प्रेम की प्रशंसा करते हुए यहाँ तक कहते हैं—

अहो प्रीति की मूर्ति जगत में जीवन धन्य तुम्हारा ;
कर न सका अनुसरण कठिनतम कोई अन्य तुम्हारा।
चपल इंद्रियों को भी तुमने तन्मय बना दिया है ;
पावन हुआ पाप भी जिसमें वह पथ जना दिया है।

इतना ही नहीं उद्धव प्रत्येक गोपी को राधा ही समझते हैं और उनमें अपने कृष्ण की झाँकी देखते हैं पर साथ ही वह अपने ज्ञानयोग की चर्चा करने से भी नहीं चूकते। इसीलिए उन्होंने गोपियों को चर्म-चक्षुओं के स्थान पर कृष्ण को आत्मदर्शन में ही देखने का उपदेश दिया है तथा आत्मा द्वारा परमात्मा को पाने की बात कहकर दृश्यमान को माया का प्रपंच कहा है।

द्वापर की गोपियों को उद्धव के उपदेश रुचिकर नहीं जान पड़ते क्योंकि उन्हें आत्मज्ञान की अभिलाषा नहीं है और वह निर्गुण-निराकार ब्रह्म की भी इच्छा

नहीं करतीं। वह कृष्ण को प्रेमाभक्ति का निरूपण ही अनेक युक्तियों से करती हैं तथा उनके प्रारंभिक उद्गारों में राधा की वियोग दशा का ही चित्रण हुआ है। यह दशा राधा की ही नहीं प्रत्येक गोपी की समझनी चाहिए और इस प्रकार गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

राधा का प्रणाम मुझसे लो श्याम-सखे तुम ज्ञानी ;
ज्ञान भूल, बन बैठा उसका रोम-रोम ध्रुव-ध्यानी।
न तो आज कुछ कहती है वह और न कुछ सुनती है ;
अन्तर्यामी हो यह जानें क्या गुनती-बुनती है ?

चूंकि आत्मज्ञान द्वारा राधा का जीवित रहना भी दूभर हो जायगा अतः गोपियाँ आत्मज्ञान के उपदेश को व्यर्थ ही समझती हैं। साथ ही वह माया को मिथ्या भी नहीं मानतीं क्योंकि जब स्वयं कृष्ण ही माया का प्रपंच रचते हैं तो फिर माया मिथ्या कैसे हो सकती है और गोपियाँ उस माया से दूर भागने का प्रयत्न ही क्यों करें कारण कि इसे तो उनके प्रियतम ने ही रचा है। गोपियाँ ज्ञानयोग की अपेक्षा वियोग को रुचिकर समझती हैं और कहती हैं—

ज्ञान-योग से हमें हमारा यही वियोग भला है,
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य, कवित्व कला है।

गोपियाँ निर्गुण ब्रह्म की आलोचना करते हुए यह स्वीकार नहीं करतीं कि उनके कृष्ण अगुण और अगोचर हैं तथा उनका कहना है कि यदि वह निर्गुण-निराकार होंगे तो भी वह उन्हें अपने चर्म-चक्षुओं से देखने में असमर्थ हैं कारण कि उन्हें तो ज्ञान के नेत्रों से ही देखा जा सकता है। इस प्रकार वह निर्गुण-निराकार को अपनी पहुँच से बाहर मानते हुए कृष्ण को सगुण साकार ही मानती हैं तथा उनकी ब्रजलीलाओं का स्मरण करती हुई यही कहती हैं कि राजनीति के कारण ही कृष्ण उनसे दूर चले गए हैं और साकार होते हुए भी निराकार जान पड़ते हैं।

उनकी दृष्टि में ज्ञानयोग उनके लिए अनुपयुक्त व व्यर्थ ही है और राधा तो दृश्यमान की भस्म लगाकर प्रेमवियोगिनी बन चुकी हैं तथा उसका योगि-राज मथुरा के राजभवन में विराजमान है। इतना ही नहीं गोपियाँ ज्ञान-अज्ञान

व योग की परिधि से परे हो कृष्णमय हो जाती हैं और उद्धव से अपना ज्ञानयोग वापिस ले जाने के लिये कहती हैं। वह कृष्ण-मिलन की आशा में सौ वर्षों तक जीवित रह सकती हैं और उद्धव से कहती हैं **'कुब्जा से विनती कर देन—उसे देखती रहना।'** वह उद्धव से यह भी कहती हैं कि यदि उन्होंने कुछ कटु वचन कहे हों तो उद्धव उन्हें क्षमा कर दें क्योंकि गोपियाँ उन्हें अपना अन्यान्य ही समझती हैं और वह उन्हें यह भी बतलाती हैं कि **'राधा में माधव, माधव में राधा मूर्ति समाई!'** अततोगत्वा उनकी यही अभिलाषा है कि कृष्ण के प्रति उनका प्रेम हमेशा बना रहे और वह यही इच्छा प्रकट करती हैं—

हो या न हो सुनो हे साधो! योगक्षेम हमारा;
बना रहे उस निर्मोही पर है जो प्रेम हमारा।

गोपियाँ राधा की वियोग दशा का वर्णन भी करती हैं और उनके कथनानुसार—

हर ले कोई राधा का धन, पर वह भाग उसी का;
कृष्ण उसी का केश पक्ष है, सेंदुर राग उसी का!

इस प्रकार द्वापर के गोपी-प्रसंग मे पर्याप्त नवीनता है और कवि ने अपनी स्वतंत्र कल्पना-शक्ति का भी अनूठा परिचय दिया है। अन्य भक्तिकालीन व रीतिकालीन भ्रमरगीत लेखकों की भाँति गुप्तजी ने गोपियों से कुब्जा के प्रति ईर्ष्याजनित उद्गार भी व्यक्त नहीं कराए और न उनका असंतुलित चित्रण ही किया है। द्वापर की गोपियाँ अत्यधिक भाव प्रवण, चतुर और चपल हैं तथा कृष्ण की प्रेमाभक्ति का सुन्दर निरूपण करती हैं।

सुदामा

प्रश्न ५१—द्वापर के आधार पर सुदामा का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—द्वापर में सुदामा एक महत्त्वपूर्ण पात्र हैं क्योंकि द्वापर के अन्य पात्रों से कृष्ण के ब्रज व मथुरा पक्ष का ही उद्घाटन हो सका है और सुदामा के माध्यम से ही कृष्ण के द्वारिकाधीश रूप का चित्रण हुआ है। वस्तुतः सुदामा एक दरिद्र ब्राह्मण हैं जो कि कृष्ण के सहपाठी रह चुके हैं परन्तु वह अपने मित्र

कृष्ण के पास सहायतार्थ नहीं जाना चाहते क्योंकि उन्हें अपनी इस दीनहीन दशा को लेकर कृष्ण के सामने जाने में लज्जा होती है। इस प्रकार द्वापर के सुदामा एक संतोषी ब्राह्मण-ही हैं जो अपनी कुटी को छोड़ द्वारिका जाना उचित नहीं समझते। उनकी पत्नी उन्हें कृष्ण के पास भेजना चाहती है परन्तु वह अपने सुख-दुःख में अलिप्त बने हुए दूसरों के वैभव पर डाह करना उचित नहीं समझते। उनकी दृष्टि में ज्ञान व तप के आनंद में ही मग्न रहना उचित है और वह नहीं मानते कि धनी लोग उनसे अधिक सुखी होंगे। अपनी पत्नी को समझाते हुए वह कहते भी हैं—

जगती में रह कर जगती की बाधा से डरती है?
करनी तो अपनी है, घरनी, असंतोष करती है?
आने-जाने वाली बातें आती हैं—जाती हैं,
त अलिप्त रह उनसे, पर से पर की वे थाती हैं।
जितने बाहर के सुख-वैभव हैं तेरे मनमाने,
डाह न कर उन पर, भीतर वे कैसे हैं, क्या जाने?
क्या धनियों के यहाँ दूसरी कुसुम-कली खिलती है?
वही चाँदनी वही धूप क्या मुझे नहीं मिलती है?
मेरे लिए कौन-सा नभ का रत्न नहीं बिखरा है?
एक वृष्टि में हो हम सबका देह-गेह निखरा है।
क्या धनियों के लिए दूसरी धरती की हरियाली?
या गिरि-वन, निर्झर-नदियों को उनकी घटा निराली?
शीतल-मन्द-सुगन्ध-वायु क्या यहाँ नहीं बहता है?
केवल वातावरण हमारा भिन्न-भिन्न रहता है।

इस प्रकार सुदामा धनी-निर्धनी दोनों को एक समान मानते हैं और वह इन दोनों में केवल यही अंतर समझते हैं कि धनी जहाँ स्वाद के लिये भोजन करते हैं वहाँ बेचारे गरीब पेट भरने के लिए परन्तु तृप्ति दोनों को समान मिलती है। इतना ही नहीं वह दुःख को भी ईश्वर की कृपा समझ उसका स्वागत करने को तत्पर रहते हैं और अपनी पत्नी से भी यही कामना करते हैं—

वह दुख मेरे सिर माथे है, यह अभाव मन-भाया,
कृपया प्रभु की ओर मुझे जो ले जाने को आया।
ईर्ष्या-लोभ-मुक्त होता यदि, मन यह तेरा मानी;
तो दारिद्य-मूर्ति, मैं तुझ पर आज वारता रानी!

वह अपनी पत्नी की महत्त्वाकांक्षाओं की निन्दा भी करते हैं और चाहते हैं कि वह उनके अनुरूप ही आचरण रखे क्योंकि वह कोई राज-कन्या नहीं है जो महलों के स्वप्न देखे। उनकी दृष्टि में धन और वैभव के स्थान पर मन की भाँति ही श्रेयस्कर है तथा लालसा ही मनुष्य की सबसे बड़ी शत्रु है अतः वह लालसाओं को बढ़ाना नहीं चाहते। वह अपनी पत्नी से कहते है कि सोना पाकर भी शांति नहीं मिलती और ईश्वर कर्मानुसार ही फल प्रदान करता है—

सोना पाकर भी क्या सुख से तू सोने पावेगी?
बढ़ती हुई लालसा तुझको कहाँ न ले जावेगी।
काम, क्रोध, मद, मोह समय पर लोभ सदैव सभी को।
कर्मों के अनुसार किन्तु है देता दैव सभी को।

सुदामा की दृष्टि में तप ही सबसे बड़ा धर्म है और जिसे जो भी प्राप्त हो उसी में संतोष करना चाहिए तथा वह शिक्षा का वास्तविक तात्पर्य नित्य समाज की सेवा करना व नित्य निर्वाह भर के लिए लेना ही मानते हैं। उनका कहना है कि जो समाज के लिए अपना जीवन अर्पित कर देता है वही भिक्षुक-जीवन व्यतीत करता है और भिक्षुक होना भी एक महान् व्रत है! वह विद्या के गौरव को अधिक महत्व देते हैं—और वह यही नहीं मानते हैं कि धन पाने पर आदमी बड़ा होता है अपितु उनकी दृष्टि मे विद्या व गुणों से ही कोई बड़ा बन पाता है। सुदामा धन-संग्रह भी उचित नहीं समझते क्योंकि संग्रह का अर्थ दूसरे के अधिकारों का हनन और पाप ही है—

अन्न-वस्त्र क्या, धरा-धाम क्या, यदि हम समधिक लेंगे,
तो औरों के लिए उन्हें हम निश्चय कम कर देंगे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सुदामा कृष्ण से स्नेह हैं प्रिय क्योंकि वह उनके प्रिय सखा थे परन्तु उन्हें अब कृष्ण के पास जाने में संकोच होता है क्योंकि कृष्ण अब

द्वारिकाधीश हैं तथा राजाओं के राजा हैं—

आज द्वारिकाधीश बना है मेरा ब्रजवन चारी,
काली-कमली छोड़ चुका है वह पीताम्बर धारी।
मोर-मुकुट वाले के माथे रत्न-किरीट खिला है,
गुंजा के बदले गजमुक्ता, यों सब उसे मिला है!

इसीलिए अब वह कृष्ण के पास जाना युक्तिसंगत नहीं समझते क्योंकि अब कृष्ण वह कृष्ण नहीं रहे जो ब्रज में मधुर लीलाएँ करते थे। साथ ही उन्हें इतने बड़े राजा के पास खाली हाथों जाने में संकोच भी होता है लेकिन उन्हें यह विश्वास भी है कि यदि वह चार चावल लेकर भी कृष्ण के पास जाएँगे तो वह उन पर अवश्य कृपा करेंगे क्योंकि उनका हृदय करुणापूर्ण ही है वह सबके मन की भावना समझते है—

तदपि जानता है वह जी की बहुत चार चावल ही;
मेरी भेंट आप क्या उसको पत्र-पुष्प-फल-जल ही?

इस प्रकार द्वापर के सुदामा त्याग, तपस्या व साधना के साकार रूप हैं और पीड़ित व दरिद्र मानवता का प्रतिनिधित्व भी करते हैं।

द्वापर की भाव-धारा और रस-योजना

प्रश्न ५२—भाव और रस-व्यंजना की दृष्टि से द्वापर का मूल्यांकन कीजिए।

प्रश्न ५३—द्वापर में रस योजना पर उदाहरण सहित विचार कीजिए।

प्रश्न ५४—'द्वापर का भावपक्ष' शीर्षक एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—जब हम किसी भी कवि की भावव्यंजना पर विचार करते हैं तो भावों से हमारा अभिप्राय रीतिशास्त्र के इन्हीं रसपोषक भावों से रहता है अर्थात् हमारा उद्देश्य उन भावों पर प्रकाश डालना रहता है जो कि रस-परिपाक में पूर्ण समर्थ हों।

रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से जब हम द्वापर पर विचार करना चाहते हैं तो हमारा ध्यान सर्वप्रथम डॉ० देवर्षि सनाढ्य के इस कथन की ओर जाता है कि "द्वापर को समग्र रूप से देखने पर इसमें कृष्ण की महत्ता का भाव ही जाग्रत होता है और भक्ति-भावना ही प्रबल होती है, पर इसमें करुणा, विप्रलम्भ, शृङ्गार तथा रौद्र रस का भी यत्र-तत्र सुन्दर परिपाक हुआ है। विधृता की कथा में करुणा जागती है। देवकी के परिताप में करुणा स्पष्ट है। नंद के दुःख मे एवम् गोपियों के निवेदन में विप्रलम्भ की भावना है, कंस का चरित्र रौद्रता की ओर जाता दिखाई देता है। वस्तुतः 'द्वापर' कोई ऐसा प्रबन्ध काव्य नहीं है, जिसकी रचना में रस-निष्पत्ति के पूर्ण लक्षण ढूँढे जायँ, यह तो उन खंड कथाओं का संग्रह मात्र है, जिसमें रस के छींटे मिल जाते हैं।" इस प्रकार इन समीक्षक महोदय की दृष्टि में रस योजना की दृष्टि से द्वापर पर विचार करना उचित नहीं है क्योंकि वह तो खंड-कथाओं का संग्रह मात्र है लेकिन हम इस कथन से सहमत नहीं हैं कारण कि रस तो काव्य की आत्मा है अतः इन खंड-कथाओं में भी रस विशेष का सन्निवेश अवश्य हुआ होगा और इसीलिए रस-व्यंजना की दृष्टि से भी द्वापर का मूल्यांकन आवश्यक है।

स्मरण रहे द्वापर में भक्ति-भावना की प्रधानता देखकर कुछ लोग इसे भक्ति रस प्रधान काव्य-कृति मानते हैं परन्तु भक्ति को स्वतन्त्र रस नहीं मानना चाहिए क्योंकि श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के कथनानुसार "भक्ति रति का ही एक रूप है।" वस्तुतः ईश्वर विषयक रति भी शृंगार रस के अन्तर्गत ही आ जाती है अतः भक्ति को स्वतन्त्र रस न मानकर शृंगार के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसी प्रकार कुछ विचारक द्वापर में विषाद की प्रधानता समझ उसे करुण रस प्रधान कृति मानते है और डॉ० उमाकांत का यही कहना है "द्वापर में करुण का अच्छा परिपाक हुआ है। यद्यपि रौद्र एवं वात्सल्य के भी दो चार अच्छे उदाहरण मिल सकते हैं पर इस काव्य में आद्यंत विषाद का आवरण है। विषादाविष्ट करुण ही रस कोटि तक पहुंचा है, शेष सब भावों की पूर्णरूपेण व्यंजना नहीं हो पायी।" हमारी सृष्टि मे द्वापर में शृंगार रस

की ही प्रधानता है* क्योंकि करुण रस का स्थायी भाव शोक है और द्वापर में शोक की नहीं अपितु विरह की निर्झरणी प्रवाहित हो रही है और विरह शृंगार रस के ही अंतर्गत आता है। इस प्रकार हम द्वापर में शृंगार रस की ही प्रधानता मानते हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि शृंगार रस पूर्ण प्रसंगों की ही उसमें अधिकता है।

यहाँ हमे यह स्मरण रहना चाहिए कि द्वापर शृंगार रस-परक काव्य होते हुए भी उसमें संयोग शृंगार के विस्तृत प्रसग नही है और इसका बहुत कुछ कारण कवि की सृजन प्रेरणाओं को ही मानना चाहिए। चूँकि कवि का उद्देश्य उपेक्षिता विधृता का चित्रण करना रहा है और द्वापर के माध्यम से वह अपनी निजी व्यथा भी व्यक्त करना चाहता था अत: स्वाभाविक ही कवि की मनोवृत्ति संयोग शृंगार पूर्ण प्रसंगों में नहीं रमी। इसीलिए द्वापर मे प्राय: संयोग शृंगार की झाँकी मात्र ही दीख पड़ती है और यदि कहीं संयोग शृंगार की अवतारणा हुई भी है तो वह वियोग में स्मृति के अन्तर्गत ही हो सकी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि राधा, कुब्जा व गोपियों के प्रसंग मे रति भाव की प्रधानता है तथा इन प्रसंगों में स्मृति रूप में संयोग के चित्र अंकित भी हुए हैं और उनमे आत्मविभोरता भी है पर यह नहीं कहा जा सकता कि इन स्थलों पर पूर्ण रस-निष्पत्ति हो सकी है।

उदाहरणार्थ—

झुक, वह वाम कपोल चूम ले यह दक्षिण अवतंस हरे!
मेरा लोक आज इस लय में हो जावे विध्वंस हरे!
रहा सहारा इस अंधी का बस यह उन्नत अंस हरे!
मग्न अथाह प्रेम-सागर में मेरा मानस-हंस करे!

*अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न

१. 'द्वापर में शृंगार रस की ही प्रधानता है। अन्य रस सहायक बन कर उपस्थित हुए हैं।' इस कथन की तर्कपूर्ण समीक्षा कीजिए?

२. आपकी दृष्टि में द्वापर में मुख्यत: किस रस की प्रधानता है? अपने उत्तर की पुष्टि में उदाहरण भी दीजिये।

३. 'द्वापर की शृंगार-भावना' शीर्षक एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

राधा के इस आत्मोद्गार में रति भाव की प्रधानता अवश्य है लेकिन न तो इसमें शृंगार रस ही अपनी पूर्ण रसावस्था तक पहुँच पाया और न इसमें भक्ति-भाव की ही प्रमुखता प्राप्त हुई है। दूसरी पंक्ति में समर्पण व भक्ति की झलक अवश्य है परन्तु उसमें भी स्थिरता नहीं है। इसी प्रकार के उदाहरण गोपी प्रसंग में दीख पड़ते है। कवि यदि चाहता तो 'विधृता' के उद्गारों में शृंगार की झलक प्रस्तुत कर सकता था पर संभवतः ऐसा करना उसे उचित न जान पड़ा। हाँ कुब्जा के प्रसंग में अवश्य संयोग शृंगार के कुछ मधुर चित्र दीख पड़ते हैं। यद्यपि वहाँ भी कवि ने स्मृति रूप में ही संयोग शृंगार का चित्रण किया है और हृदयोल्लास व आह्लादिकता ऐश्वर्य प्रणय-क्रीड़ाओं का उसमें भी अभाव है तथा कुछ लोग उसे वियोग शृंगार में 'स्मृति' भाव के अन्तर्गत ही मानते हैं परन्तु हमारा विचार है कि इस प्रसंग से इसे पृथक् मान संयोग शृंगार का ही उदाहरण समझना चाहिए। स्मरण रहे कवि ने कुब्जा के प्रसंग में रति भाव अभिव्यक्त करने के लिए कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का भव्य वर्णन भी किया है क्योंकि रूप रति का उद्दीपक है और कृष्ण की सुन्दर छवि को देख कुब्जा के हृदय में आसक्ति उद्दीप्त हो जाती है तथा उस समय उसकी जो मनोदशा होती है उसका वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

देख लिया मैंने सहस्र दल ले उस मुख की झाँकी ;
वृद्ध न होकर बाल बनी थी पलट प्रौढ़ता बाँकी !
उन काली आँखों में कैसी उजली दृष्टि निहारी ;
जान पड़ा ब्रज-कुँज-विहारी मुझको विश्व-विहारी !
+ + +
चमक गई बिजली-सी भीतर, नस-नस चौंक पड़ी थी ;
तनी, जन्म की कुब्जा संग में सरला बनी खड़ी थी।

इसके पश्चात् की पंक्तियों में संयोग शृंगार की सफलतापूर्वक निष्पत्ति हुई है और निम्नांकित प्रसंग में कुब्जा आश्रय, कृष्ण आलम्बन, कुब्जा-कथन अनुभव व हर्ष, रोमांच आदि संचारी भावों से पुष्ट हो रति-भाव पूर्ण रसावस्था तक पहुँच सका है; देखिए—

चबुक हिला कर छोड़ मुझे फिर मायावी मुसकाया ;
हुआ नया स्पन्दन उर में, पलट गई यह काया !

वियोग शृंगार को ही विप्रलम्भ शृंगार भी कहते हैं।[1] इस प्रकार वियोग शृंगार या विप्रलंभ शृंगार के अन्तर्गत विरह-भावनाओं का ही चित्रण किया जाता है द्वापर में भी स्वाभाविक ही वियोग का समुद्र लहरा रहा है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि द्वापर का वियोग-वर्णन प्रवास-जनित ही है और उसमें पूर्वानुराग की किंचित्मात्र झलक भले ही राधा व गोपियों के उद्गार में मिले लेकिन प्रधानता प्रवास-जनित विरह की है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों व राधा की जो दशा हुई है उसका ही चित्रण कवि ने किया है और कुब्जा के प्रसंग में भी कृष्ण मार्ग से ही अब फिर कभी मिलूँगा, कह कर चले जाते हैं अतः इसे भी प्रवास-जनित वियोग ही कहा जायगा।

सामान्यतः द्वापर में राधा, कुब्जा और गोपी के प्रसंग में ही वियोग-शृंगार की सफलतापूर्वक योजना हुई है तथा इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि प्रसंगों में वियोग-शृंगार की पूर्ण निष्पत्ति है। उदाहरणार्थ, कृष्ण के वियोग में राधा उन्माद की दशा को पहुँच जाती है और कृष्ण के विरह में वह स्वयं ही कृष्ण बन जाती है तथा स्वयं को ही प्यारी कहकर सम्बोधित करती है—

अभी विलोकि एक अलि उड़ता उसने चौंक कहा था—
'सखि वह आया इस कलिका में क्या कुछ शेष रहा था?'
'पर तत्क्षण ही गरज उठी वह भौंह चढ़ाकर बाँकी—
'सावधान अलि ! हट कर लेना तू प्यारी की झाँकी !'

इन पंक्तियों में राधा-आश्रय, कृष्ण-आलम्बन राधा के कथन-अनुभाव, मति-

---

*अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न

१. इस कथन की तर्कसंगत विवेचना कीजिए कि 'द्वापर विप्रलंभ शृंगार का वियोगवारीश है जिसमें राधा, गोपियों और कुब्जा के आँसू वेगवती सरिताओं के रूप में मिले हैं।"

२. द्वापर में 'विरह-वर्णन' शीर्षक एक संक्षिप्त निबंध लिखिए।

३. द्वापर में विप्रलंभ शृंगार की सोदाहरण विवेचना कीजिए।

जड़ता, उन्माद आदि संचारी भावों से पुष्ट स्थायी भाव रति-वियोग शृंगार की पूर्णावस्था को पहुँच रहा है। इतना ही नहीं कवि ने राधा की वियोग-दशा को चरम स्थिति में पहुँचा हुआ भी अंकित किया है और अपनी वियोगावस्था में राधा अपनी सुधि भी खो देती है तथा वह उसे लौटाना भी नहीं चाहता कारण कि कृष्ण की स्मृति होते ही उसका जीना व जिलाना कठिन हो जायगा। उसकी इस दशा का चित्रण करते हुए एक गोपी ने उद्धव से कहा भी है :—

पर वह भूली रहे आपको, उसको सुध न दिलाना,
होगा कठिन अन्यथा उसका जीना और जिलाना!
डूबी-सी वह बीच-बीच में पलक खोलकर आधे,
चिल्ला उठती है विलोल-सी बोल—राधिके, राधे!

कवि ने वियोगिनी राधा के उज्ज्वल पक्ष का भी उद्घाटन किया और वह अन्य कई पूर्ववर्ती कवियों की भाँति राधा से विरहपूर्ण उद्गार व्यक्त कराते समय वियोग का ऊहात्मक चित्रण नहीं करता अपितु उसने यह भी कहा है कि वियोगिनी राधा विश्व-पीड़ा की भी अनुभूति करती है और उसे यह वेदना भी होती है कि वह अपने प्रियतम के सुख की ही संगिनी रही तथा विश्व-व्यथा को बँटाने में उनका साथ न दे सकी—

सुख की ही संगिनी रही मैं अपने उस प्रियतम की;
व्यथा विश्व-विषयक न तनिक भी बँटा सकी जीवन की।
उलटा अपना दुःख लोक को मैंने दिया सदा को;
उस भावुक का रस जितना था जूठा किया सदा को।

राधा की ही भाँति गुप्त जी ने गोपियों की वियोग-दशा का भी सजीव चित्रांकन किया है और उधर की गोपियाँ विरह की साकार प्रतिमा-सी जान पड़ती हैं तथा कृष्ण-वियोग में एक-एक ब्रजबाला जागरूक ज्वाला जैसी प्रतीत होती है—

चन्द्रोदय की घाट जोहती तिमिर-तार-माला-सी;
एक-एक ब्रज-बाला बैठी जागरूक-ज्वाला-सी!

वस्तुतः संयोग में जो प्राकृतिक वस्तुएँ सुखदायी जान पड़ती हैं वियोग में

वही पीड़ादायिनी प्रतीत होती हैं और गोपियों को प्रकृति भी विरहपूर्ण जान पड़ती है तथा वह कहती है—

मूर्च्छित जैसे कालिन्दी के अब ये कूल पड़े हैं,
डूब जाय कब, देखो तट के विटपी झूल पड़े हैं।
किधर जायँ, पग धरें कहाँ हम, सीधे शून्य पड़े हैं;
अब भी कुंजों में, क्रीड़ा के सूखे फूल पड़े हैं।

इसी प्रकार कुब्जा के प्रसंग में भी प्रवास-जन्य विरह की ही अभिव्यंजना हुई है और कृष्ण का क्षणिक स्पर्श मात्र ही उसे प्राप्त हुआ था तथा वह उसे परम रूपवती युवती बनाकर 'अब फिर कभी मिलेंगा' कहकर चले जाते हैं। इसके पश्चात् वह—कुब्जा—कृष्ण की प्रतीक्षा में तड़पती रहती है और विविध अभिलाषाओं का जाल बुनती तथा भावनाओं में डूबती-उतराती रहती है। प्रतीक्षातुर कुब्जा की विरह-जनित हृदय-स्पर्शी मनोभावनाओं का चित्रण इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

आया नहीं विलासी अब भी बस ये आँसू आये;
अहा! उसी लावण्य-सिन्धु का रस ये आँसू लाये।
पी-पी कर मैं इन्हें भाग्य को अब भी कैसे कोसूं?
पर अजान इस आतुर उर को कब तक पालूं-पोसूं?

यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिये कि प्राचीन आचार्यों ने विरह की ग्यारह अवस्थाओं का उल्लेख किया है—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा और मरण तथा इसमें कोई संदेह नहीं कि द्वापर में प्रसंगानुसार इन सभी दशाओं का वर्णन हुआ है। अपने कथन की पुष्टि हेतु यहाँ कुछ उदाहरण देना असंगत न होगा—

अभिलाषा—आई रात, हुआ चन्द्रोदय, मैंने यही विचारा—
वह शशि है, मैं निशि होऊँ या वह तमिस्र, मैं तारा!
हुआ प्रभात और अरुणोदय, गूंजी उर की अलिनी;
उसी पूर्व की फटती पौ में, उसी हंस की नलिनी।

चिन्ता—तू न आज भी आवेगा तो मैं ही कल आऊँगी;
कुछ न सही तो कुटिल भृकुटि तो तेरी मैं पाऊँगी।
स्मरण—पत्र-पत्र में तेरी आहट चौंकाती आती है;
किन्तु प्रतीक्षा में ही बेला बीत-बीत जाती है।
गुण-कथन—वह सजीव रचना थी युग की पल में आकर झलकी;
नहीं समाई जड़-जंगम में छवि उसकी जो छलकी।
उद्वेग—अभी विलोक एक अलि उड़ता उसने चाक कहा था—
'सखि वह आया इस कलिका में क्या कुछ शेष रहा था?'
पर तत्क्षण ही गरज उठी वह भौंह चढ़ाकर बाली—
'सावधान अलि! हट कर लेना तू प्यारे को आली!'
प्रलाप—डूबी-सी वह बीच-बीच में पलक खोल कर आँखें,
चिल्ला उठती है विलोल-सी बोल—'राधिके, राधे!'
उन्माद—लो, वह आप आ रहीं देखो, सखी-सखी चिल्लाती,
पर उद्धव-उद्धव की ध्वनि भी है यह कैसी आती!
व्याधि—एक-एक व्रज-बाला बैठी जाग-जाग ज्वाला सी।
जड़ता—पर वह भूली रहे आपको उसको सुधि न दिलाना,
होगा कठिन अन्यथा उसका जीना और जिलाना!

संभवतः वियोग-शृंगार में कोमलता बनाये रखने के उद्देश्य से ही कवि ने मूर्च्छा व मरण आदि अन्तर्दशाओं का चित्रण नहीं किया पर इनके अभाव से द्वापर का विरह-वर्णन त्रुटिपूर्ण नहीं कहा जा सकता अपितु हमें तो यही मानना चाहिए कि द्वापर में वियोग-शृंगार का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है और उसमें विरह के अनेक मर्मस्पर्शी चित्र उपलब्ध होते हैं।

यद्यपि द्वापर शृंगार रस की प्रधानता है परन्तु अन्य रसों की भी प्रसंगानुसार अभिव्यक्ति हुई है और इस प्रकार शृंगार के पश्चात् द्वापर में करुण रस की ही अधिकता है। कुछ लोग विप्रलंभ शृंगार रस व करुण रस में अंतर नहीं कर पाते अतः द्वापर को करुण रस प्रधान कृति मान लेते हैं पर द्वापर में करुण रस की प्रधानता चाहे न हो लेकिन शृंगार रस के पश्चात् उसे ही प्रमुख स्थान

मिलना चाहिए। विधृता और देवकी के प्रसंग में करुण रस की ही अधिकता है तथा देवकी के इन शोकपूर्ण उद्गारों में वास्तविकता ही है, देखिए—

बच्चे मेरे—मेरे बच्चे, बोलूं मैं क्या जै-जै।
मेरा मन तो चिल्लाता है, एक, दो—नहीं छै-छै॥

रति और शोक के पश्चात् द्वापर में उत्साह भाव की अधिकता दीख पड़ती है लेकिन उसमें युद्धोत्साह की उमंग कहीं भी नहीं है। हाँ, यदि लड़ियों व अत्याचार के विरोध को भी यह की संज्ञा दी जाय तब तो उसमें अवश्य युद्ध-वीर के उदाहरण मिल सकते हैं अन्यथा उसमें कर्मवीर की ही प्रधानता है। हाँ, यह तो मानना ही होगा कि प्रसंगों में जो उद्गार व्यक्त किए हैं उनमें उत्साह अवश्य विद्यमान है। इसी प्रकार ग्वाल-बाल के आहत् शृंगार में भी कृष्ण के वीरत्वपूर्ण कार्यों का वर्णन हुआ है। उनमें भी वीर रस की संक्षिप्त झलकियाँ दीख पड़ती हैं, उदाहरणार्थ—

वह गरुड़ध्वज वत्स न था, जो चला बकासुर खाने;
अघ-अजगर से हमें बचाया उसी अलौकिक शील ने।
सिंह हो डाड़ दिया कालिय का सहृदय सदय सलील ने;
आग पिये था, इस पानी से हुई शांति ही ज्वाल की!

इसी प्रकार निम्नांकित पंक्ति में रौद्र रस की झलक-सी दीख पड़ती है—

लोहित नेत्र, फड़कते नथुने, विकृत बदन खर वाणी।

सुदामा के उद्गारों में शांत रस की ही प्रधानता है और उनकी उक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि उनके हृदय में सांसारिक वैभव के प्रति वैराग्य की भावना ही स्थायी रूप से है। उन स्थलों में जहां कि यशोदा व ग्वाल-बाल कृष्ण के अलौकिक कर्मों का विस्मयपूर्ण वर्णन करते हैं अद्भुत रस की हल्की सी झलक दीख पड़ती है पर भयानक, वीभत्स व हास्य रस का अभाव है। कवि ने कर्मकांडी यज्ञों का वर्णन करते समय कुछ ऐसे वीभत्स वर्णन अवश्य किये हैं जिनमें जुगुप्सा-सी जाग्रत होने लगती है परन्तु यह जुगुप्सापूर्ण रसावस्था तक नहीं पहुँच पाती। कंस के उद्गारों में एक स्थल पर कवि ने कंस को भयभीत अंकित करना चाहा है परन्तु वहाँ भी भयानक रस की निष्पत्ति नहीं हो पाई। इसी प्रकार

रस के कुछ छीटे चाहे अवश्य मिल जायँ लेकिन हास्य रस का द्वापर में नितांत अभाव सा है।

हमें द्वापर में शृंगार व करुण के पश्चात्य वात्सल्य की ही प्रधानता दृष्टि-गोचर होगी और इसमें कोई संदेह नहीं कि यशोदा के उद्गारों में वात्सल्य रस की मंदाकिनी-सी प्रवाहित हो रही है, उदाहरणार्थ—

मेरे श्याम-सलोने की है, मधु से मीठी बोली ;
कुटिल अलक वाले की आकृति है क्या भोली-भोली।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि प्रसंगानुसार द्वापर में विविध रसों का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है पर प्रधानता शृंगार रस की ही है और इसी-लिये हम इसे शृंगार रस प्रधान कृति ही मानते हैं।

प्रकृति चित्रण और द्वापर

प्रश्न ५५—द्वापर काव्यकृति के प्रकृति-चित्रण की सोदाहरण समीक्षा कीजिए।

प्रश्न ५६—'द्वापर में प्रकृति-चित्रण' शीर्षक एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—द्वापर आत्मोद्गार प्रणाली में लिखा गया प्रगीत काव्य ही है और भले ही उसमें प्रबन्धात्मकता बनाए रखने का प्रयास किया गया हो लेकिन प्रबंध काव्य के अपेक्षित तत्त्वों का उनमें अभाव-सा है। इसीलिए पंचवटी, साकेत, ये यशोधरा और सिद्धराज आदि कृतियों को भाँति द्वापर में प्रकृति के सुन्दर मनो-ग्राही चित्र नहीं दीख पड़ते और यदि कहीं कवि ने प्राकृतिक दृश्यों का अंकन किया भी है तो वहाँ प्रकृति या तो भाव विशेष को उद्दीप्त करने के उद्देश्य से प्रयुक्त हुई है या फिर पृष्ठभूमि व वातावरण निर्माण के लिए प्रकृति की सहायता ली गई है। संभवतः यही कारण है कि प्रकृति-चित्रण की विविधात्मकता की दृष्टि से द्वापर को सफल कृति नहीं कहा जा सकता।

कवि ने अक्रूर खंड में अवश्य वृन्दावन की शोभा का वर्णन छह-सात छन्दों में किया है और यहाँ प्रकृति के कुछ रूपों को प्रयुक्त कर उक्तियों में रमणीयता लाने की ओर ध्यान भी दिया गया है परन्तु यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर दें कि

द्वापर में प्रायः प्रकृति के कोमल रूप का ही चित्रण हुआ है और कहीं भी प्रकृति के रौद्र व विकराल रूप को अंकित नहीं किया गया अतः इन छन्दों में भी हम प्रकृति के कोमल रूप की ही झाँकी देखते हैं। प्रकृति के आलम्बनात्मक चित्रण की दृष्टि से निम्नांकित पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं जिनमें राधा ने कृष्ण से सम्पर्क रखने वाले प्राकृतिक उपादानों का नामोल्लेख किया है—

यह वृन्दावन, यह वंशीवट, यह यमुना का तीर हरे !
यह तरते तारांम्बर वाला नीला निर्मल नीर हरे !
यह शक्ति रंजित सित-घन-व्यंजित परिचित त्रिविध समीर हरे !

इसी प्रकार अक्रूर खंड में वृन्दावन के कुंजों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

उस एकान्त भाव के भी ये शांति कुंज झुरमुट हैं ;
सजल कांति के नील कमल से बाँधे सुख-सम्पुट हैं।

प्रकृति-चित्रण की अन्य विविध प्रणालियों की अपेक्षा द्वापर में उद्दीपन रूप में ही प्रकृति का चित्रण अधिक मात्रा में हुआ है। गुप्त जी के काव्य में भी प्रकृति का सहयोग मानव की प्रसन्नता को द्विगुणित कर देता और दुःखावेग को भी अधिक तीव्र कर देता है, इसलिए कृष्ण की सामीप्यता के अवसर पर जो प्रकृति गोपियों को इस प्रकार सुखदायी जान पड़ती थी—

नई तरंगें थीं यमुना में, नई उमंगें व्रज में,
तीन लोक-से दीख रहे थे लोट-पोट इस रज में।
ऊपर घटा घिरी थी, नीचे पुलक कदम्ब खिले थे,
झूम-झूम रस की रिम-झिम में दोनों हिले-मिले थे।

वही वियोगावस्था में उन्हें दुःखदायी जान पड़ती है और अब तो उन व्रज-बालाओं को समस्त प्रकृति में अपनी दुःखित अवस्था का प्रतिविम्ब ही दृष्टिगोचर होता है तथा सम्पूर्ण प्रकृति को अपनी दुःखपूर्ण दशा में श्रीविहीन व विषाद-पूर्ण जान वह—गोपियाँ—उद्धव से कहती भी हैं—

उद्धव अब आये इस वन में सूखा जब है।
सुनो, वही कोकिल अब कैसा ऊ-ऊ कर रोता है॥

इस प्रसंग में कवि ने कुछ छंदों में प्रकृति के उद्दीपनकारी रूप का अत्यधिक भावग्राही चित्रण किया है। प्रकृति के उद्दीपन रूप का यह उदाहरण देखिए—

मूर्छित जैसे कालिन्दी के अब ये कूल पड़े हैं;
डूब जाय कब, देखो, तट के विटपी झूल पड़े हैं।
किधर जायँ, पग धरें कहाँ हम, सीधे शूल पड़े हैं;
अब भी कुंजों में, क्रीड़ा के सूखे फूल पड़े हैं॥

प्रकृति-चित्रण की अन्य प्रणालियों का द्वापर में अभाव-सा है और यदि कहीं-कहीं मानवीकरण या अलंकार रूप में प्रकृति चित्रण के कुछ उदाहरण मिलते भी हैं तो उन्हें पूर्णतः सफल नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, निम्नांकित छंद में प्रकृति को मानवी रूप प्रदान किया गया है परन्तु इसे छायावादी कविता में प्रयुक्त मानवीकरण के उदाहरणों की कोटि में कदापि नहीं रखा जा सकता—

श्याम समाया कालिन्दी में या उसमें कालिन्दी?
खेला ने जिसके माथे पर दी सेंदुर की बिन्दी।
कौन कर रहा है वह कल-कल, अब चुप क्यों है?
प्रोषितपतिका-सी सकुच रही है चंचल जल-लहरी भी।

साथ ही निम्नांकित पंक्तियों में भी प्रकृति उपमान के रूप में आती है और इसे अलंकार रूप में अंकित प्रकृति-चित्रण कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ भी प्रकृति केवल सहायिका मात्र है—

हुआ प्रभात और अरुणोदय सूँजी उर की अलकों।
उसा पूर्व की फटती पौ में उसी हंस की झलकी॥
चढ़ी अचल निज नील गगन में—रवि पा न पाया।
हलक पड़ी मानो ओस-सा—हा! आधार न पाया॥

इसी प्रकार 'द्वापर' में कहीं-कहीं प्रकृति-वर्णन से उपदेश की भावना भी विद्यमान है और कवि ने इन पंक्तियों में प्रकृति को अनेक सद्गुणों से परिपूर्ण माना है—

सर्वसहा क्षमा क्षमता की ममता की वह प्रतिमा।
खुली गोद जो उसकी आवे समता की वह प्रतिमा॥

पर इस प्रकार की उक्तियाँ नहीं के समान है और परम तत्व के दर्शन भी द्वापर के प्रकृति-वर्णन में कहीं भी नहीं होते तथा प्रकृति का प्रतीकात्मक चित्रण भी दृष्टिगोचर नहीं होता अतः इन सभी दृष्टियों से विचार करने पर हम अंत में इसी निष्कर्ष पर पहुंचते है कि द्वापर में प्रायः प्रकृति के आलम्बन व उद्दीपन रूप को ही प्रस्तुत किया गया है तथा प्रकृति-चित्रण की अन्य प्रणालियों की उपेक्षा-सी की गयी है।

द्वापर का वैचारिक विवेचन

प्रश्न ५७—इस कथन की तर्कसंगत विवेचना कीजिए कि "गुप्त जी ने द्वापर में पौराणिक कथानक को लेकर अपनी उर्वरा कल्पना से आधुनिकता का समावेश कर दिया है।"

प्रश्न ५८—"द्वापर में गुप्त जी ने सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक बहुमुखी क्रांति की भूमिका प्रस्तुत की है।" इस कथन का सोदाहरण विवेचन कीजिए।

प्रश्न ५९—इस कथन की समीक्षा कीजिए कि "गुप्त जी ने द्वापर में जनजीवन में प्रेरणा के लिए बहुमुखी संदेश प्रस्तुत किया है।"

प्रश्न ६०—द्वापर के उद्देश्य का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि कवि ने उसमें कौन-कौन सी आधुनिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया है।

प्रश्न ६१—"द्वापर में समसामयिकता और आधुनिकता" शीर्षक एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

प्रश्न ६२—"गुप्त जी ने प्राचीनता की पृष्ठभूमि में द्वापर के अन्तर्गत आधुनिक समस्याओं का हल खोजकर आशामय भविष्य की कल्पना की है।' उक्त कथन की पूर्ण विवेचना कीजिए।

प्रश्न ६३—द्वापर में कौन-कौन सी नैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक व राजनीतिक समस्याओं का विवेचन किया गया है? उदाहरण सहित अपने कथन की पुष्टि कीजिए।

उत्तर—श्री सद्गुरु शरण अवस्थी ने अपने निबन्ध संग्रह 'साहित्य तरंग'

के निबन्ध मे लिखा है, "बाबू मैथिलीशरण गुप्त सशक्त निर्माणक हैं। उन्होने भारतवर्ष की पुरानी संस्कृति को आधुनिकता के वैज्ञानिक प्रकाश मे सजाया है। अंधकार में पड़े हुए ऐतिहासिक पुरुष, भ्रांति में पनपे हुये पौराणिक ऋषि-मुनि और रूढ़ि प्रमाद में ग्रस्त संस्कृत महाकाव्यों के पात्र; पुरानेपन मे जकड़े हुए असंभाव्य परिस्थितियों में साँस लेने वाले उपनिषदों के अर्धमानव; गतानुगति से प्राप्त परम्परा की टेढ़ी-मेढ़ी रेखा पर चलनेवाले केवल मौखिक उत्तराधिकार पर जीवित प्राणी—सबका बाबू मैथिलीशरण जी ने अपनी लेखनी के चमत्कार द्वारा नितांत अर्वाचीन वातावरण मे लाकर खड़ा कर दिया। इतिहास बिगड़ने नहीं पाया; पुराणों और उपनिषदों के तत्व भी बने रहे; काव्यों के नायकों के स्थान भी विकृत नहीं हुए; मौखिक परम्परा को भी बल मिला; भारतीयता भी रक्षित रही यथा हमारी संस्कृति को नया प्रकाश और नयी चमक मिली। संभाव्य के घेरे में आदर्श का मुकुट पहिन कर सारी प्राचीनता उनके काव्यों में मुस्कराती है और भारतीय संस्कृति को नयी टीका करती है।" वस्तुत: यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो प्राय: सभी साहित्यकारों की कृतियाँ तत्कालीन परिस्थितियों से अवश्य प्रभावित होती हैं तथा उन पर युग का प्रभाव निस्संदेह पड़ता है और वह अपने युग को तजकर आगे नहीं बढ़ना चाहता। स्वयं गुप्त जी ने भी द्वापर में यही लिखा है—

अपने युग को हीन समझना आत्महीनता होगी
सजग रहो इससे दुर्बलता और दीनता होगी
जिस युग में हम हुए, वही तो अपने लिए बड़ा है,
अहा! हमारे आगे कितना कर्मक्षेत्र पड़ा है।

इस प्रकार स्वाभाविक ही गुप्त जी की प्रत्येक रचना में समसामयिकता का पुट प्राप्त होता है और कथावस्तु चाहे कितनी ही प्राचीन क्यों न हो, लेकिन कवि अपनी मौलिकता का पुट देकर उसको आदर्श आधुनिक कृति बना देता है और ऐसा प्रतीत होता है कि मानों उसमें नवयुग का कंठ बोल रहा हो।" इसी-लिए हम गुप्त जी की रंग में भंग, भारत-भारती, जयद्रथ-वध, हिन्दू, गुरुकुल, शक्ति, वैतालिक, साकेत, यशोधरा, द्वापर, पृथिवीपुत्र और जय-भारत आदि

किसी भी कृति का अध्ययन करते है तो हम यही देखते हैं कि प्रायः इन सभी में समसामयिकता और आधुनिकता विद्यमान है संभवतः इसीलिए श्री ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' का कहना है, "द्विवेदी युग मे जितने भी कवि खडी बोली के हुए उनमें मैथिलीशरण गुप्त ही एक ऐसे कवि हुए है जो सदैव समाज के साथ रहे, और जिनके काव्य को प्रगति बलवती और नवीन वातावरण के अनुकूल रही।"

यद्यपि द्वापर एक उल्लेखनीय काव्यकृति है और उसमें काव्यगुणों की भी न्यूनता नही है परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो डॉ० इन्द्रनाथ मदान के कथनानुसार, "उसमें युग की समस्याओं के समाधान की प्रवृत्ति अधिक । उसमें क्रांति के लिए आत्म-स्वाकृति रखी गयी है और राधा के द्वारा देवियों को भी उसके लिए तैयार होने का विधान किया गया है । क्रांति दैनिक जीवन का अंग समझी जाय, इस पर अधिक जोर दिया गया है । उसके आधुनिक बुद्धिवादी युग की समस्त समस्याओं का छूने का प्रयास है और क्रांति—सर्वतोन्मुखी क्रांति—उसका ध्येय।" इसलिए डॉ० विमलकुमार जैन ने भी यही माना है कि "इस काव्य मे क्रांति का एक संदेश है । यहाँ उर्मिला और यशोधरा नही, जो शान्त भाव से आँसू पोती हैं और रंचमात्र भी रोषाभिभूत नही होती, यहाँ तो देवकी, द्रौपदी और विधृता हैं जो उत्पीड़ित के विरुद्ध आवाज उठाती है और क्रांति चाहती हैं । नारी अपने अधिकारों की प्राप्ति चाहती है । इसके लिए क्रांति भी वांछनीय है, किन्तु त्यागहीन नहीं । राधा के चरित्र से यही संदेश मिलता है । इस काव्य में सर्वत्र अत्याचार और उत्पीड़न को हटाकर शांति और नवजीवन का संदेश गूंज रहा है । भगवान कृष्ण का काम अत्याचार को हटाना ही है । बलराम, कृष्ण, नारद, उद्धव, देवकी, विधृता, राधा और कुब्जा आदि सभी चरित्रों से यही संदेश मिलता है।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव-पक्ष व कला-पक्ष की भाँति द्वापर का विचार-पक्ष भी पुष्ट है और उसमें कवि की बहुमुखी विचारधारा भी दृष्टिगोचर होती है पर यहां हम यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते है, "मैथिलीशरण जी परम्परानिष्ठ संस्कारी हृदय-भक्त हैं । भारतीय-संस्कृति के सम्पूर्ण अंगों में

उनकी प्रगाढ़ आस्था है। किन्तु युगधर्म की भी वह कभी उपेक्षा नहीं करते। इसीलिए पारस्परिक मूल्यों एवं रूढ़ियों को दृढ़ता से ग्रहण करने पर भी उनका साहित्य आधुनिकता के प्रभाव से मुक्त नहीं है। उनकी यह मानसिक ग्राहकता और स्थिति-स्थापकता विलक्षण है।"

वस्तुतः रूढ़िवादी संस्कारों के साथ-साथ प्रगतिशीलता गुप्त जी में ही दीख पड़ती है और प्राचीनता में नवीनता का समावेश उन्हीं के द्वारा संभव भी हो सका है तथा मनोवैज्ञानिकों ने इसे ही बुद्धिमत्ता का लक्षण भी माना है।

सामान्यतः द्वापर में अभिव्यक्त विचारधाराओं को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से धार्मिक विचारधारा, सामाजिक विचारधारा और राजनीतिक विचार-धारा नामक तीन मूल भागों में विभाजित किया जा सकता है—

धार्मिक विचारधारा—इस दृष्टि से जब हम द्वापर पर विचार करते हैं★ तो सर्वप्रथम हमारा ध्यान पं० रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन की ओर आकृष्ट होता है कि "धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है।" अतः द्वापर में अभिव्यक्त कवि की धार्मिक विचारधारा के साथ-साथ हम यहाँ द्वापर में प्रवाहित होने वाली भक्ति-धारा का भी उल्लेख करेंगे। वस्तुतः गुप्त जी वैष्णव कवि हैं और एक समीक्षक ने उनके व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए कहा है, "धार्मिक क्षेत्र में वह श्री सम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक वैष्णव हैं। वह साकार राम के अनन्य भक्त हैं। राम ही उनके इष्टदेव हैं, पर वह कृष्ण से भिन्न नहीं हैं।.....यद्यपि यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो उनकी वैष्णव भावना बहुत कुछ महात्मा गांधी की विचारधारा के अनुरूप ही है और इसीलिए उन पर भली-भांति युगधर्म की छाप है तथा धर्मान्धता की अपेक्षा धर्मानुराग ही उनमें विद्यमान है। इसीलिए गुप्त जी की वैष्णव-भावना पर विचार करते समय हम इसी कसौटी का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।"

★अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न

१. द्वापर के आधार पर कवि का धार्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए।

२. 'द्वापर में भक्ति-भाव' शीर्षक एक संक्षिप्त निबंध लिखिए।

३. द्वापर पर गुप्त जी की वैष्णवता का प्रभाव कहाँ तक पड़ा है?

संभवतः यही है कि गुप्त जी सभी धर्मों को मूलतः एक मानते हैं और परमतत्त्व का दर्शन नाम या रूप में न कर नैतिक पूर्णत्व में उसकी अनुभूति करते हैं।

गुप्त जी की कृतियों में धार्मिक समन्वय ही दृष्टिगोचर होता है।

चूँकि रामानुज संप्रदाय में सीता-राम की उपासना ही निर्दिष्ट है अतः इसी संप्रदाय के अनुयायी होने के कारण गुप्त जी भी राम-भक्त ही हैं और डा० उमाकांत के शब्दों में, "मैथिलीशरण जी को अतीत का आदर, राम की भक्ति और परम्पराओं में निष्ठा रिक्त में ही मिली है। एक उनको ही नहीं उनके सभी भाइयों को यह पैतृक सम्पत्ति सहज प्राप्त है। गुप्त जी के अनुज श्री सियाराम-शरण गुप्त को चुन्तकों पर विषयारंभ में पूर्व 'श्री राम, 'श्री हरि', 'श्री गणेशा-नमः' आदि मुद्रित रहता था। साहित्यसदन (चिरगाँव) से प्रेषित प्रत्येक पत्र के शीर्ष पर भी 'श्री राम' अंकित रहता है। अनास्था और आस्था से आक्रान्त बीसवीं शताब्दी के इस उत्तरार्द्ध में भी गुप्त-परिवार का प्रत्येक सदस्य कोई पत्र अथवा लेख आदि लिखने से पूर्व कागज को 'श्रीराम' शब्द से सुशोभित कर लेता है।" इसी प्रकार गुप्त जी ने भी अपने सभी काव्य-ग्रंथों का मंगलाचरण राम के नाम से ही किया है और जहाँ कि गौतम बुद्ध के जीवन की कथा होते हुए भी वह गणाधिप के मंगलाचरण में राम की ही उपासना करते हैं वहाँ कृष्ण काव्य से सम्बन्धित होते हुए द्वापर में भी उन्होंने राम की ही वंदना की है—

धनुर्बाण या वेणु लो श्याम-रूप के संग,
मुझ पर चढ़ने से रहा राम! दूसरा रंग।

इस प्रकार गुप्त जी रामोपासक हैं पर जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं उनमें सांप्रदायिक कट्टरता का अभाव है और राम के अनन्य भक्त होते हुए भी उन्होंने द्वापर के प्रायः प्रत्येक पात्र को—कंस को छोड़कर—कृष्ण के प्रति भक्ति-भाव से समन्वित माना है तथा राधा, यशोदा, विमाता, बलराम, कुब्जा, नंद, अक्रूर, ग्वालबाल, गोपी और सुदामा आदि सभी पात्र कृष्ण के अतिरिक्त अन्य संबंधों को त्याज्य समझ लेते हैं। भगवान के प्रति अनन्य आस्था व आत्मसमर्पण की भावना तो राधा के प्रसंग में स्पष्ट दीख पड़ती है और राधा वह मानसिक

प्रवृत्ति है जो अन्य रूपों से अनासक्त केवल भगवान कृष्ण के प्रति आसक्त है तथा यदि संक्षेप में कहा जाय तो सम्पूर्ण संसार को तजकर कृष्ण के प्रति आत्मा की आसक्ति भावना ही राधा है। इसी प्रकार विधृता का अर्थ बलात् रोकी हुई होता है और इससे यह अर्थ ग्रहण किया जा सकता है कि विधृता वह है जिसे सांसारिक बंधन भगवान के प्रति उन्मुक्त होने से रोकते हों।

वस्तुतः भक्ति में विवशता नहीं होती अपितु आराध्य के प्रति पूज्य भाव होने से हमारा मन स्वाभाविक ही भक्ति की ओर अग्रसर होता है। साथ अनन्यता व पूर्ण आस्था भी भक्ति के क्षेत्र में आवश्यक है और इसीलिए भक्त यह धारणा बनाकर चलता है कि वह जिस रूप से भी भगवान की पूजा करेगा भगवान उसे उसी रूप में प्राप्त होंगे। विधृता कहती भी है—

छैल छोकड़ा कहो उसे तुम प्रेम वाद्य वह बजता ;
जो जैसे भजता है उसको वह भी वैसा भजता।

इतना ही नही गुप्त जी ने विधृता के माध्यम से प्रेम व भक्ति के आत्मिक सौन्दर्य की स्थापना करते हुए यही माना है कि केवल कर्म से ही भगवत्प्राप्ति नहीं होती अपितु भक्ति भावना से ही उनकी प्राप्ति संभव है विधृता कहती हैं—

श्याम सलौने पर यदि सचमुच मेरा मन ललचाया,
तो फिर क्या होती है इससे क्हीं रहे काया !
दूर मधुप को भी पराग निज पहुँचा दिया कुसुम ने ;
हे वेदज्ञ, खेद ! इतना भी भेद न जाना तुमने।

इसीलिये वह—विधृता—अपने आराध्य देव के मिलन-कामना की इच्छा से सांसारिक बन्धनों को त्यागने के लिए अपना शरीर ही त्याग देती है। भक्ति भाव की यह अनन्यता द्वापर के अन्य पात्रों में भी विद्यमान है और कुब्जा को कवि ने भक्त का प्रतीक ही माना है। वह तो कृष्ण की छवि पर अत्यंत मुग्ध थी और राजा कंस की चिंता न कर सबके सामने कृष्ण को आत्म-समर्पण हेतु उत्सुक हो उठती है तथा उसकी यह तन्मयता देखते ही बनती है—

मेरा तत्व-तत्व तन्मय था किसे कंस का भय था ?
लौट पड़ी मैं घर वैसी ही जन-जन को विस्मय था।

किन्तु मुझे निर्जन अभीष्ट था चिन्तार्थ कुछ मन के ;
अपने को भी देख सकी थी मैं क्या विम्बित बन के ?

साथ ही वह सपत्नी या सौत के रूप में अपने आपको नहीं समझती अपितु स्वयं को राधा की सेविका ही मानती है और यही अनन्य आसक्ति व आत्म-समर्पण की भावना गोपियों में भी दृष्टिगोचर होती है तथा उद्धव भी उनके सामने अपने ज्ञान का आडम्बर भूल कर कृष्ण को उसी रूप में देखते हैं जिस रूप में गोपियाँ देखती है—

एक-एक तुम सब राधा हो कहाँ तुम्हारी राधा ?
नहीं दीखती मुझे यहाँ हुई कौन-सी बाधा ?
सच कहता हूँ, मैंने अपना राम तुम्हीं में पाया ;
किन्तु तुम्हारा कृष्ण कहाँ, मैं यही पूछने आया ।

इतना ही नहीं कृष्ण का शत्रु होते हुए भी कंस यह मानता है कि 'कहते है, कुछ चमत्कार भी दिखलाता है कृष्ण और कृष्ण को अपने साथ मथुरा लाने वाले अक्रूर भी कृष्ण-भक्त ही हैं तथा श्याम के रूप मे यमुना और यमुना के व्यापक रूप मे श्याम का दर्शन करते है । इससे यह स्पष्ट है कि गुप्त जी ने भक्ति में प्रेमाशक्ति को ही महत्व दिया है परन्तु उनकी आसक्ति-भावना में सीमोल्लंघन कहीं भी नहीं है अपितु आराध्य के प्रति पूज्य भाव ही है ।

द्वापर का कवि अवतारवाद में भी आस्था रखता है पर उसका विश्वास बौद्धिक चेतना से युक्त है और साथ ही उसकी भक्ति-भावना में साधना की अपेक्षा भावना का ही अंश अधिक है। डॉ. कमलाकांत पाठक के शब्दों में "गुप्तजी अद्वैतवादी अथवा दार्शनिक कवि नहीं हैं वे भावनाशील कवि हैं। उन्हें व्यक्त जीवन और प्रत्यक्ष जगत से ही पूरा परितोष है। प्रकट सत्ता से परे और भी कुछ है, इस सम्बन्ध में वे तर्क-वितर्क अथवा संदेह नहीं करते। यह उनकी वैष्णव भावना का, श्रद्धा और विश्वास का क्षेत्र है।" इसीलिए गुप्त जी ने मध्यकालीन भक्त कवियों की भांति साधनात्मक भक्ति का वर्णन करते हुए मंत्र, जाप, सेवा, अर्चना, आरती, यज्ञ आदि की तालिका सी प्रस्तुत नहीं कि अपितु आराध्यदेव के रूप, गुण व कर्मों का वर्णन ही अधिक किया है । जैसा

कि डॉ० उदयभानुसिंह ने अपने शोध-प्रबंध 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग' में कहा है, "द्विवेदी युग के कवियों की दृष्टि अवतार तक ही सीमित नहीं रही। उन्होंने विश्व-कल्याण और लोक-सेवा को भी ईश्वर का आदेश और उसकी प्राप्ति का साधन समझा। इस रूप के प्रतिष्ठापक कवियों ने यह अनुभव किया कि भगवान् का दर्शन विलास और वैभव की आनन्दभूमि में रहकर नहीं किया जा सकता, वह तो दीन दुखियों के प्रति सहानुभूति और उनके दुःख निवारण से ही मिल सकता है। इसीलिए गुप्त जी ने भी द्वापर में कृष्ण को एक जनप्रिय नेता के रूप में अंकित किया है और स्वाभाविक कहने भी है—

अब पलट दी है काया ही इस केशव ने कारा की।

\+ \+ \+

अति कर दी अच्युत ने आहा! भर दी गति-मति और ही।

इसी प्रकार बलराम के उद्गारों में भी कृष्ण के लोकरक्षक रूप का ही उल्लेख हुआ है—

प्रस्तुत रहो कृष्ण नूतन नव रचने ही वाला है;
अब निर्मम विद्रोह मोह पर मचने ही वाला है।
रही भुजाओं आज हमारी अधिक तथा कहूं, यम को;
नई सृष्टि के लिए प्रलय भी प्रेक्षणीय हो हमको।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त जी ने कृष्ण भक्त कवियों की भांति कृष्ण के मधुर रूप का चित्रण नहीं किया और उनके लोकसंग्रही उद्धारक रूप को ही अंकित किया है और इसे उनकी भक्ति भावना की विशिष्टता ही माननी होगी।

साथ ही द्वापर में कतिपय धार्मिक समस्याएं भी प्रस्तुत की गई हैं और इनमें से सर्वप्रथम उल्लेखनीय समस्या यह है कि कृष्ण और राम वैदिक हैं या अवैदिक? द्रौपदी की चिन्ता कहती है—

तुम्हें वेद में नहीं मिला यह? तुम हो वेदज्ञानी;
किन्तु वेद का अन्त कहाँ है, ध्यान धरो कुछ ध्यानी!

कुछ छन्दों तक ही परिमित क्या उस अनंत की वाणी ?
नित्य-नित्य नूतन भावों से भूषित वह कल्याणी।
नित्य नई अपनी रचनाएँ रचता है वह स्रष्टा ;
देश-देश में काल-काल में है मंत्रों के द्रष्टा ;
कृष्ण अवैदिक ? और राम भी ? ठहरो, धीरज धारो,
वेदवादरत, ठंडे जी से सोचो और विचारो।
श्रुति-वर्णी ऋषि न थे, हमारे दम्भी या अभिमानी;
घोषित आप उन्होंने की थी नेति-नेति की वाणी।
और न्यून वाल्मीकि-व्यास किस ऋचा-रचयिता ऋषि से,
युग-युग भी परितृप्त रहेंगे जिनकी अक्षय कृषि से।

इस प्रकार गुप्त जी ने राम और कृष्ण को वैदिक मानने के साथ-साथ कर्मकांड की समस्या पर भी अपने विचार व्यक्त किये तथा उन्होंने कर्मकांड की अपेक्षा श्रद्धा-भक्ति की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए उसे श्रुतिसम्मत मानते हुए वैदिक ही कहा है—

यज्ञ वेदियाँ हैं वे अथवा कौटिक-कुटियाँ सारी ?
व्यंजन नहीं, देव देखेंगे श्रद्धा-भक्ति तुम्हारी।
कर्म क्या घृत-दधि-दुग्ध-शर्करा देव-अन्न रोदन ही,
श्रुति न विरोध करे तो समझो उसका अनुमोदन ही।

इसीलिए कवि धर्म को सर्वदा सात्विक ही मानता है और उसकी दृष्टि में धर्मानुयायी हो कर्म न। विकृत रूप प्रदान करते हैं अन्यथा धर्म तो सात्विक ही है—

राजस भाग करें वे, जिनका साहस हो या बस हो,
धर्म सदा सात्विक है, चाहे कर्म कभी तामस हो।

सामाजिक विचारधारा—डॉ० बेनीनारायण शुक्ल ने 'आधुनिक काव्य-धारा' नामक अपनी कृति में लिखा है, 'मैथिलीशरण गुप्त ने समाज के सभी अंगों पर कुछ न कुछ लिखा है। प्राचीन सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति की भूमिका पर कवि आधुनिक सामाजिक अधोगति का चित्र खींचता है और इस प्रकार जनता को सामाजिक सुधार के लिए उत्तेजित करता है।" इस प्रकार

'द्वापर' में भी सामाजिक समस्याओं पर विचार किया गया है और इन सबमें नारी समस्या को ही कवि ने प्रधानता दी है तथा कुछ समीक्षकों ने तो गुप्त जी की नारी भावना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी द्वापर का महत्व प्रतिपादित किया है।*

नारी पुरुष के समान महत्व रखती है और द्वापर के रचयिता मैथिलीशरण गुप्त भी नारी को जीवन का महत्वपूर्ण अंग मानते हुए उसके प्रति अपनी अजस्त्र करुणा प्रवाहित कर उसकी महत्ता को विविधता प्रदान करते हैं। यद्यपि डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने गुप्त जी की नारी भावना पर आक्षेप करते हुए जो उन पर यह आरोप लगाया है कि उनके हृदय में नारी पात्रों के प्रति पक्षपात है वह युक्ति-संगत नहीं है और उनके विचारों का खंडन करते हुए एक समीक्षक ने उचित ही कहा है, "काव्य में पुरुष के प्रति कोई अन्याय किया गया हो तो पक्षपात की बात कही जाय। गुप्त जी की नारी तो पुरुष की सहचरी है, उसके प्रति समर्पित-चित्त है। पुरुष के कारण जैसे विधृता, गोपा और उर्मिला को क्लेश हुआ, क्या उस भाँति नारी ने पुरुष पर कोई अत्याचार किया अथवा उसे संतप्त किया? वृद्ध लक्ष्मण ने त्याग का आदर्श रक्खा और उर्मिला तथा यशोधरा भी उस त्याग त्याग का अनुकरण कर सकीं। डॉ० धर्मेन्द्र ने पुरुषों का पृष्ठ भाग में रखने के कारण जो अन्याय अनुभव किया है, वह वस्तु-विन्यास की त्रुटि हो सकती है, काव्यगत अन्याय नहीं।" इस प्रकार "गुप्त जी नारी को मातवतावादी मूल्य, भावनाशील दृष्टि और सामाजिक सम्पन्नता की कसौटी पर परखते हैं और उसके उच्चाशयी उज्ज्वल चरित्र का चित्रण करते हैं।"

द्वापर में भी कवि का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण अपने निखरे हुए रूप में दीख पड़ता है और अपनी इस काव्य कृति के विविध पात्रों के माध्यम से कवि

---

*अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न

१. 'नारी भावना' का जो प्रदर्शन गुप्त जी ने द्वापर में किया है, उसका वर्णन उदाहरण-सहित कीजिए।

२. आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं कि "द्वापर में गुप्त जी ने नारी जीवन की विस्तृत भूमिका प्रस्तुत की है।"

ने अपनी निजी विचारधारा ही अभिव्यक्त की है। न केवल विधृता ही अपितु राधा, देवकी, यशोदा व गोपी आदि नारी पात्रों के माध्यम से कवि ने अपने नारी विषयक विचारों को ही व्यक्त किया है। द्वापर के रचयिता की द्वापर की विधृता से इस कथन में गुप्त जी का दृष्टिकोण झलकता है—

हा, अबला ! आ, अरी अनादर, अविश्वास की मारी,
मर तो सकती है अभागिनी, कर न सके कुछ नारी।

संभवतः गुप्त जी ने अपने कवि-जीवन के यौवन-काल में द्विवेदी-युगीन कवि पं० रामचरित उपाध्याय की 'रामचरित चिंतामणि' का इन पंक्तियों को पढ़ा होगा—

स्त्री जग में स्वच्छन्द चारिणी कभी न यश पाती है,
तरुवर के आश्रय हो करके लतिका रस पाती है।

और इसीलिए उन्होंने नर-नारी की समानता का भाव प्रतिपादित किया है तथा अपनी 'राजा-प्रजा' नामक कृति में अपनी मान्यताओं को स्पष्ट करते हुए दोनों में अधिकारी-अधिकृत का सम्बन्ध न मान दोनों के तुल्याधिकारों की मान्यता प्रदान की है—

आधे का अधिकार उचित ही उन्हें मिला है।
× × ×
छोटों की माँ और बड़ों की वे बेटी हैं,
समवयस्कों की बहन, कहाँ किसकी चेटी हैं?

पर कवि की नारी सम्बन्धी अनुदार दृष्टिकोण असह्य है और गुप्त जी द्वारा अंकित नारी पात्र विद्रोह का आश्रय भी लेते हैं तथा सं० २०१४ वि० में प्रकाशित 'विष्णुप्रिया' में कवि ने विस्फोट का संकेत भी दिया है—

कहता है, 'नारी पर नर का कितना अत्याचार है,
लगता है, विद्रोहमात्र ही अब उसका प्रतिकार है।'

वस्तुतः दिनकर जी के कथनानुसार, "विष्णुप्रिया के मुख से विद्रोह के जो संकेत अब दिलाये गये हैं, उनकी झाँकी द्वापर में ही मिल चुकी थी। नारी की सारी पराधीनता इस बात को लेकर है कि पुरुष उसे आँख से ओझल होने देना नहीं चाहता, घर से बाहर जाने नहीं देना चाहता, न वह इस बात के लिए तैयार

है कि नारी स्वेच्छानुसार जहाँ चाहे वहाँ घूम सके। विधृता कृष्ण के रास में सम्मिलित होना चाहती थी, किन्तु, उसके वैदिक पति ने उसे घर से बाहर जाने से रोक दिया। कथा है कि विधृता इस अपमान को न सह सकी और तत्क्षण उसका देहान्त हो गया एवं उसकी आत्मा रास में जा सम्मिलित हुई। द्वापर में कवि ने इस प्रसंग पर अपने जो अभिमत प्रकट किए हैं, वे बड़े ही नवीन एवं कुछ दूर तक, विद्रोही भी है। विधृता की निर्जीव देह पति के सम्मुख पड़ी हुई है और उसकी आत्मा उसके पति से फटकार कर कहती है—

कामुक चाटुकारिता ही थी क्या वह गिरा तुम्हारी ?
'एक नहीं, दो-दो मात्राएँ नर से भारी नारी !'
मैं पुण्यार्थ जा रही थी, तुम पाप देख बैठे हा !
और आप अवसर के वर को शाप लेख बैठे हा !
अधिकारों के दुरुपयोग का ज्ञान कहाँ अधिकारी ?
कुछ भी रत्न नहीं रखती क्या पक्षपातिनी दुधारी ?
हाय, वधू ने क्या वर-विषयक एक वाक्य ! पाई !
नहीं और कोई क्या उसका पिता, पुत्र या भाई ?
नर के बाटे क्या नारी की नरक गति ही आई ?
माँ, बेटी या बहिन हाय, क्या संग नहीं वह लाई ?
अविश्वास, हाँ, अविश्वास ही नारी के प्रति नर का,
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं, स्वामी है वह घर का।
उपजा किन्तु, अविश्वासी नर हाय, बुद्धि से नारी।
जाया होकर भी जननी है तू ही पाप-विहारी।
जाती हूँ, जाती हूँ पर मैं और नहीं रुक सकता,
इस अन्याय समक्ष अरे मैं, कभी नहीं झुक सकती।

इन कठोर पंक्तियों में उन सभी नारियों का आक्रोश गरजता है जिन पर शंका की गई होगी अथवा स्वतन्त्रता चाहने पर जिनका अपमान किया गया होगा। यह ठीक है कि समस्या का समुचित समाधान इतने से ही नहीं होता, किन्तु, इस दिशा में भारतीय परम्परा के सबसे प्रबल केतुधारी कवि ने इतनी दूर तक नव-

युग का साथ दिया, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है। इस प्रकार द्वापर की विधृता सामाजिक क्रांति का आह्वान करती है तथा हम देखते हैं कि गुप्त जी का "नारी के प्रति दृष्टिकोण संकीर्ण न होकर विकसित है और वे उसे मनुष्य के भोगमात्र की वस्तु न मानकर माँ, बेटी और बहिन के रूप में भी देखते हैं।"

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि द्वापर का रचयिता नारी द्वारा पुरुष को उस पाशविक वृत्ति के विरोध करने का पक्षपाती है जिसके कारण उसके—नारी के—सात्विक आकर्षण को तामसिक समझा जाता और वह नारी को उस शक्ति से युक्त देखना चाहता है जिसके बल पर वह पुरुष के अत्याचार का प्रतिरोध कर सके। कवि ने पुरुष द्वारा नारी के शोषण का विरोध भी किया है और उसे पुरुष-मात्र का उत्तरदायित्व समझने पर बल दिया है। इस प्रकार द्वापर के आधार पर कवि को नारी-चरित्र पर स्वतंत्र रूप से विचार करने पर उन्हीं निष्कर्षों पर पहुँचने हैं जो "गुप्त जी ने स्त्रियों के जीवन के आदर्श के रूप में विधृता मरने की बात को है, स्त्रियों को जो भारतीय आदर्श-पतिव्रत्व-एकनिष्ठता आदि-मुक्ति के कारण हुआ और अब भी समझा जाता है, लिखने लगे थे और क्रांति के संस्कारों के विस्फोटन के लिए प्रेरित कर रहा था, उसी को दृष्टि में रखकर, नयी आत्मा से अभिव्यक्ति कर दिया है।"

सामाजिक दृष्टिकोण को दृष्टि में रखकर विचार करते समय हम यह भी स्मरण रखना चाहते कि गुप्त जी व्यक्ति व समाज का अभिन्न समझते हैं और उन्होंने कहीं भी व्यक्ति-निरपेक्ष समाज या समाज-निरपेक्ष व्यक्ति का कल्पना नहीं की। अतः किसी भी देश के लोगों को उनके पार्थिवता की पुष्टि के लिए बलि-दान होने को माना है।* जैसे कुरुक्षेत्र की पंक्तियों में इसका कारण यह

*अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न

१. इस कथन की संक्षेपिका उदाहरण सहित लिखिए कि "अपने अन्य वाक्यों की भाँति गुप्त जी ने द्वापर में भी भारतीय संस्कृति को महत्व प्रदान किया है।"

२. "गुप्त जी का सामाजिक व राजनीतिक दृष्टिकोण बहुत कुछ अंशों में महात्मा गाँधी से प्रभावित है।" द्वापर के आधार पर इस कथन की पुष्टि कीजिए।

है कि गुप्त जी ने वर्ग विग्रह की अपेक्षा वर्ग संहति को प्रधानता दी है, आर्थिक और राजनीतिक अथवा सैनिक शक्ति के स्थान पर आत्मबल को काम्य माना है तथा स्वार्थ-बुद्धि के ऊपर न्याय-बुद्धि के निर्वाण से आदर्श समाज व्यवस्था को सम्भाव्य तथा मनुष्य स्वभाव को सुधार-क्षम्य समझा है। उन्हें समाज की भौतिक सत्ता ही मान्य नहीं है, वे व्यक्ति की आध्यात्मिक स्थिति भी स्वीकार करते हैं। अतः वे भारतीय संस्कृति के आग्रही हैं अथवा आदर्शवादी हैं, सामाजिक यथार्थवादी अथवा ऐतिहासिक भौतिकतावादी नहीं।"

द्वापर में कवि ने बलराम द्वारा युगीन विचारधाराओं की अभिव्यक्ति कराते समय एक ओर तो मानव जीवन के शाश्वत तथ्यों का और संकेत किया है और दूसरी ओर आधुनिक युग की मान्यताओं को भी स्वीकार किया है। जहाँ कि एक ओर वह यह कहता है—

मिला हमें उपवन पुरखों का यह सौभाग्य हमारा ;
फल ही लेंगे या देंगे भी हम श्रम-जल की धारा ?
सिंचन, रोपण, काट-छाँट से हाथ सिकोड़ेंगे हम ;
झाड़ और झंखाड़ छोड़कर तो क्या छोड़ेंगे हम ?

वहाँ वह यह भी मानता है कि प्राचीन रूढ़ियों का विनाश भी आवश्यक है क्योंकि इसी रूढ़िवादिता ने मानव-मात्र में निराशा उत्पन्न कर दी है और वह वर्तमान के प्रति तीव्र असंतोष अभिव्यक्त करता है लेकिन हमें प्राचीन जड़ परम्पराओं को रूढ़ियों के रूप में स्वीकार न कर युग व परिस्थितियों के अनुरूप ग्रहण करना चाहिए। द्वापर का कवि स्पष्टतः यहाँ कहता है—

अपने युग को हीन समझना, आत्महीनता होगी ;
सजग रहो; इसमें दुर्बलता और दीनता होगी।
जिस युग में हम हुए, वही तो अपने लिए बड़ा है ;
अहा ! हमारे आगे कितना कर्म-क्षेत्र पड़ा है।

साथ ही वह यह भी स्पष्ट कर देता है कि आधुनिक जीवन में भी कुछ अव्यवस्थाएँ हो सकती हैं अतः हमें युग के अधर्म को युग-धर्म समझने की भूल न करनी चाहिए—

सावधान ! युग के अधर्म को हम युग-धर्म न समझें ;
कर्म नहीं, हम पतित आप यदि उनका मर्म न समझें ।

और वर्तमान जीवन के उत्थान हेतु साहस व बुद्धिमत्तापूर्वक कदम बढ़ाने के लिए कहता है; कारण कि—

वर्तमान, यह आयोजन है निज भावी जीवन का ;
कुछ अतीत-संकेत मिले तो अधिक लाभ वह जीवन का ।

इसीलिये गुप्त जी चाहते हैं कि हम अतीत से आवश्यक तत्व ग्रहण कर आधुनिक युग की समस्याओं का सुलझाव—

वह अतीत पुरखों का युग था, उसका क्या कहना है ?
सुनो, किन्तु अपने ही युग में; हम सबको रहना है ।
जन्मे हैं हम उसी भूमि पर उसी वायु मंडल में ;
पर आगे की ओर हमारी वृद्धि-सिद्धि पल-पल में ।

राजनीतिक विचारधारा—कवि इस प्रजातन्त्र युग में सामान्य व्यक्ति की उपेक्षा को उचित नहीं समझता और उसका यह विचार है कि व्यक्ति को महत्ता वंशानुचत न होकर गुणों से होनी चाहिए तथा निर्धनों को भी अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति व विकास के सभी साधन उपलब्ध हों । गुप्त जी न तो पूँजीवादी व्यवस्था में ही विश्वास करते हैं और न समाजवादी व्यवस्था में अपितु मध्यम मार्ग ही उन्हें प्रिय है । उन्होंने तो अध्यात्मवाद व भौतिकवाद और पूँजीवाद व समाजवाद का सर्वोदयकारी गाँधी दर्शन के अनुरूप एक निर्विरोधात्मक सामंजस्य प्रस्तुत करते हुए अनुशासित जनतंत्र को ही श्रेयस्कर माना है तथा उनका विचार है कि यह व्यवस्था होने पर व्यक्ति अपने गुणों का मूल्य समझ कर्म में रत हो, न केवल अपना अपितु समाज व देश का उत्थान करेगा—

न हो एक उन्माद, एक धुन, एक लगन यदि जन में,
तो उस अप्रमत्त को लेकर है क्या लाभ भुवन में ?
देख रहा है, समझ रहा है, किन्तु नहीं कुछ करता,
कर्मभूमि का भार रूप वह डूब क्यों नहीं मरता ?

इतना ही नहीं गुप्त जी तो देवताओं के लिए भी कर्म करना ही श्रेयस्कर

समझते है और वह देवों का भी कोई कर्म नियन्ता मानते हैं—

कर्मों की खेती है जगती, जैसी जिसने बोई,
देवों का भी कर्म नियन्ता, एक और ही कोई।

साथ ही द्वापर का रचयिता पृथ्वी के गौरव को भी स्वीकार करता है और उसका विचार है कि मनुष्य को इसी धरती पर रहना है न कि अंतरिक्ष में। अतः उसे धरती का महत्व स्वीकार करना चाहिए। इसी प्रकार वह सामाजिक जीवन की पूर्ण व्यवस्था के लिए हिंसा का भी विरोध करता है और उन प्राचीन यज्ञों का—जिनमें कि पशुबलि होती थी—विरोध कर कवि ने 'सर्वभूतहित' की भावना का स्वागत कर इसे ही वास्तविक यज्ञ माना है। उसकी दृष्टि में यज्ञों में जो अपव्यय होता है उसे यदि दरिद्र व्यक्तियों में बाँट दिया जाय तो समाज का हित ही होगा। इस प्रकार गुप्त जी अहिंसा के पक्षपाती है और हमें यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि दंड का कठोर विधान करने वाले कौटिल्य ने भी अहिंसा को मुख्य धर्म माना है तथा मनु ने भी पाँच नीति धर्मों में अहिंसा का सर्वप्रथम स्थान दिया है। परन्तु अहिंसा का पालन सर्वत्र नहीं हो पाता और जैसा कि लोकमान्य तिलक का कहना है "..... नीतिशास्त्र के प्रधान नियम—अहिंसा—में भी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का सूक्ष्म विचार करना ही पड़ता है।" तिलक जी के कहने का अभिप्राय यह है कि आदर्श रूप में हो भले ही अहिंसा को स्वीकार कर लें लेकिन व्यवहार में कभी कभी उसे त्यागना भी पड़ता है और हम देखते है कि द्वापर का कवि गांधी जी से प्रभावित होते हुए भी अहिंसा के संबंध के तिलक का ही दृष्टिकोण अपनाता है तथा अन्यायियों को ललकारने के लिए भी प्रेरित करता है—

एक-एक सौ-सौ अन्यायी कंसों को ललकारो,
अपनी पुण्यभूमि के ऊपर धन, जीवन सब वारो!

राजनीतिक समस्याओं की दृष्टि से जब हम द्वापर पर विचार करते है तो हम देखते है कि गुप्त जी राष्ट्रवादी कवि है और वह डॉ० केसरी नारायण शुक्ल के कथनानुसार "वह समय की गति-विधि को समझते हुए, जनता के भावों को प्रकट करते हुए, साहित्य के बीज जनता की भावना को उत्तरोत्तर उदार और

व्यापक बनाते रहें।" इसीलिये उनकी प्रायः सभी कृतियों में राष्ट्रीय विचारधारा दीख पड़ती है और चूँकि कवि का राष्ट्रीय दृष्टिकोण उत्तरोत्तर विकसित होता गया अतः उसकी विचारधारा में प्रौढ़ता आती गई। यही कारण है कि भारत-भारती, हिन्दू व गुरुकुल की अपेक्षा द्वापर आदि परवर्ती कृतियों में कवि का राष्ट्रीय व राजनीतिक दृष्टिकोण अधिक व्यापक व देशोन्नति की भावना से पूर्ण है। प्रारम्भिक कुछ कविताओं को लेकर गुप्त जी को राष्ट्रीय कवि न मान हिन्दू संस्कृति का गायक मात्र समझना कवि के कृतित्व के प्रति अन्याय करना ही है और डॉ० प्रभाकर माचवे ने तो स्पष्टतः उन्हें जातीय कवि मानने से इन्कार किया है तथा हम भी राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त को भारतीय नवोत्थान का ही कवि मानते हैं।

गुप्त जी ने भी अपने युग का विकासशील राजनीतिक चेतना को ग्रहण किया है। इसीलिए द्वापर में बलराम द्वारा उन्होंने राष्ट्र-निर्माण के नियम निर्धारित करते समय प्राचीन जर्जर परम्पराओं के स्थान पर नूतन प्रवृत्तियों का ग्रहण करने की प्रेरणा दी है। साथ ही युगधर्म व जन्मभूमि के प्रति प्रेम व्यक्त करते हुए राष्ट्र पर न्योछावर होने की भावना भी वह व्यक्त करते हैं—

न्याय धर्म के लिए लड़ो तुम सत्य हित समझो-बूझो,
अभय राज, निर्दय समाज से निर्भय होकर जूझो।
राजा स्वयं नियोज्य तुम्हारा, यदि तुम अटल प्रजा हो,
बाधा नहीं, किन्तु बलिदानी बस अन्यथा अजा हो।

गुप्त जी की समयानुसारिता उनका राजनीतिक चेतना का उत्तरोत्तर विकास करती गयी है और वे सत्याग्रही क्रांति-शास्त्र, सर्वोदयी जीवननिष्ठा तथा राष्ट्रीय सीमाओं को अतिक्रांत करने वाला मानव-संस्कृति की अखण्डता के कवि बने हैं। निश्चय ही उनका राजनीतिक दृष्टिकोण भौतिकतावादी नहीं है, मानवतावादी है, मार्क्सीय समाजवादी नहीं है, गाँधी दर्शन से अनुप्राणित सर्वोदय वादी हैं। वे लोकतन्त्र के पक्षपाती है। उनकी दृष्टि में विश्व की सर्वग्रासी समस्याओं का हल गाँधी दर्शन ही है। इसीलिये कवि द्वापर में साम्राज्यवाद का विरोध करता है और देवकी द्वारा स्वेच्छाचारी क्रूर राजा की भर्त्सना भी कराता

है तथा उग्रसेन के शब्दों में मदमय सत्ता के टूटने की चेतावनी भी देता है पर उसका राज्यादर्श गाँधी जी की रामराज्य की कल्पना के अनुरूप ही है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो गुप्तजी ने भी इसी राज्यादर्श को स्वीकार किया है और द्वापर के 'ग्वालबाल' प्रसंग में उन्होंने यह माना भी है कि संगठित जनता द्वारा ही सुव्यवस्था स्थापित हो सकती है तथा कृष्ण जैसे प्रतिभाशाली, कर्त्तव्यनिष्ठ व लोक उद्धारक नेता यह कार्य कर सकते हैं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वापर का विचारपक्ष भी पुष्ट है और कवि ने नैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक व राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं तथा समसामयिकता व आधुनिकता के योग से अपनी कृति का सौंदर्य द्विगुणित कर दिया है।

द्वापर का काव्य सौन्दर्य

प्रश्न ६४—काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से द्वापर का मूल्यांकन कीजिए।

प्रश्न ६५—'भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से द्वापर एक उत्कृष्ट कोटि का काव्य है।' उक्त कथन की तर्कसंगत विवेचना करते हुए द्वापर के काव्य-सौंदर्य पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न ६६—काव्य कला की दृष्टि से द्वापर की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न ६७—इस कथन की उदाहरण सहित विवेचना कीजिए कि 'द्वापर में भावपक्ष और कलापक्ष का मणिकांचन समन्वय है।'

उत्तर—जब हम काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से द्वापर पर विचार करते हैं★ तो हमारा ध्यान सर्वप्रथम डॉ० इन्द्रनाथ मदान के इस कथन की ओर आकृष्ट

★टिप्पणी—**विद्यार्थियों को इस प्रसंग में पुनः प्रस्तुत पुस्तक से द्वापर: सृजन प्रेरणा, द्वापर का नामकरण और शीर्षक की सार्थकता, द्वापर का कथानक, द्वापर में भाव और रस, द्वापर में पात्र और चरित्र-चित्रण तथा द्वापर का वैचारिक विवेचन आदि अध्याय पुनः पढ़ने चाहिए क्योंकि नीरस पिष्टपेषण से बचने के लिए हमने यहां उन विषयों का संकेत मात्र ही दिया है और केवल अवशिष्ट विषयों को ही विस्तार से समझाया है।**

होना है कि "द्वापर गुप्त जी की निराली कृति है। उसकी वस्तु, उसकी शैली, उसकी कला और उसका उद्देश्य सब निराले हैं। श्रीमद्भागवत के आधार पर श्रीकृष्ण-चरित्र का वर्णन किया गया है। पात्रों के नाम पर सर्गों का विभाजन हुआ है। हर पात्र आत्म-कथा द्वारा अपने चरित्र की विशेषताएँ उद्घाटित करता है। श्रीकृष्ण, राधा, यशोदा, बलराम, देवकी, उग्रसेन, कंस नंद, कुब्जा, उद्धव, गोपी आदि विख्यात पात्रों के अतिरिक्त 'विधृता' जैसे अविख्यात पात्र भी हैं। पुरुषों में वारता का भाव प्रधान है, स्त्रियों में करुणा का। यह कृति गुप्त जी ने राम-चरित्र और बुद्धि-चरित्र के गान के बाद लिखा है और इसमें इन दोनों की विशेषताओं के साथ नया विकास दृष्टिगोचर होता है। अब तक उर्मिला, यशोधरा आदि ख्यात नारी पात्रों को ही उन्होंने सहानुभूति दी थी, परंतु 'द्वापर' में विधृता जैसी सामान्य नारियों में भी महानता प्रदर्शित की गई है और इस प्रकार असाधारणता, से साधारणता, महानता से लघुता की ओर उनकी प्रवृत्ति हुई है, जो युग के अनुकूल है।" इस प्रकार द्वापर को मैथिलीशरण गुप्त का सराहनीय अभिनव प्रयास ही मानना होगा और इसमें कोई संदेह नहीं कि वह काव्यगत विशिष्टताओं से भी पूर्ण है।

सामान्यतः काव्य के दो पक्ष—भाव-पक्ष और कला-पक्ष—माने जाते हैं तथा इनमें से प्रथम के अन्तर्गत समग्र वर्ण्य विषय का समावेश होता है और द्वितीय के अन्तर्गत सम्पूर्ण वर्णन-कौशल को स्थान दिया जाना चाहिए परन्तु इन दोनों का अविभाज्य ही मानना होगा क्योंकि काव्य के लिए दोनों ही अनिवार्य है। डॉ० गुलाबराय के शब्दों में "भाव-पक्ष का सम्बन्ध काव्य की वस्तु से है और कला का सम्बन्ध आकार या शैली से है। वस्तु और आकार एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। कोई वस्तु आधारहीन नहीं हो सकती है और न आकार वस्तु से अलग किया जा सकता है।" इस प्रकार भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों ही परस्पर सम्बद्ध से है तथा दोनों में निस्संदेह आत्मा व शरीर का सम्बन्ध है।

भारतीय काव्य-शास्त्र में भाव की चरम परिणति को रस कहा जाता है अतः भाव-पक्ष की दृष्टि से द्वापर पर विचार करते समय हम द्वापर में अभिव्यक्ति रस-व्यंजना पर ही प्रकाश डालेंगे और यहाँ यह भी स्मरणीय है कि गुप्त जी

ने स्वयं ही 'स्वदेश संगीत' नामक अपनी कृति मे कहा है—**रस बिना कविता वृथा है, ठीक है यह बात**। इस प्रकार कवि रस को ही काव्य की आत्मा मानता है पर चूँकि द्वापर प्रबन्ध-काव्य नही है अतएव उसम सभी रसो की अभिव्यक्ति भी नही हो पायी और शृंगार, करुण, शांत व वात्सल्य को ही प्रधानता प्राप्त है। यो भी हमारे यहाँ प्राचीन आचार्यों ने शृंगार, वीर, शांत व करुण का सम्बन्ध जीवन के अधिक प्रबल व उद्योगी भावो से होने के कारण इन्ही को प्रमुखता प्रदान की है और हम देखते है कि द्वापर के कवि ने इन सभी प्रधान रसों को सफलतापूर्वक अभिव्यक्ति की है।

शृंगार के सयोग और वियोग नामक दो भेदों मे से संयोग के उदाहरण द्वापर मे बहुत ही न्यून मात्रा मे उपलब्ध होते है और उनमे भी शृंगार रस की मादकता नही है क्योंकि अपनी समन्वयवादी प्रवृत्ति के अनुरूप गुप्त जी ने काव्य मे शृंगार रस को तुलसी के मर्यादाबद्ध शृंगार वर्णन के अनुरूप रख कर उसकी सात्विकता को उचित गौरव देने पर बल दिया है। इसीलिए कवि ने वियोग शृङ्गार को ही द्वापर में प्रधानता दी है और विप्रलम्भ के पूर्वराग, मान, प्रवास व करुण नामक चार भेदो मे से द्वापर का विरह शृङ्गार मूलतः प्रवासजन्य ही है। साथ ही कवि ने परम्परानुमोदित एकादश अवस्थाओं मे से मूर्च्छा व मरण के अतिरिक्त अन्य सभी अन्तर्दशाओं का चित्रण किया है। शृङ्गार की ही भाँति करुण, शांत व वात्सल्य की भी स्वाभाविक योजना हुई है और कवि ने वीर व रौद्र के भी कुछ मनोग्राही चित्र प्रस्तुत किए है। इसी प्रकार आलम्बनों का वैविध्य भी द्वापर मे दीख पड़ता है और द्वापर के कवि ने चेतन-अचेतन, क्षुद्र-विराट, मानव-दानव, पशु-पक्षी, शुभ-अशुभ, राजा-रंक सभी को प्रसगानुसार अपनाया है।

द्वापर मे कवि ने रूप-चित्रण की ओर ध्यान दिया है लेकिन चूँकि वह सर्वदा शृङ्गार के प्रति अपने संतुलन विवेक का परिचय देने म सचेष्ट रहा है अतः द्वापर मे नारी रूप-चित्रण की ओर उसका ध्यान नही गया और द्वापर के नायक कृष्ण के सौन्दर्य एवं शील-समन्वित रूप का उसने अवश्य बडी उमंग से वर्णन किया है। उदाहरणार्थ—

पड़ी तरल यमुना तरंगिणी घनी खड़ी हो जावे ;
तो उस अंग-भंगिमा का कुछ रंग-ढंग वह पावे।
वह सजीव रचना थी युग की पल में आकर झलकी ;
नहीं समाई जड़ जंगम मे छवि उसकी जो झलकी।
काम-रूप धारी वह जलधर जगमग ज्योतिर्मय था ;
धन होकर भी सहृदय था वह, निर्भय किन्तु सत्य था।
ललित-गभीर तदपि चंचल सा वह विस्फूर्ति-भरा था ;
मूर्तिमन्त भव-भद्र भाद्र-सा श्यामल हरा-हरा था।

कवि ने द्वापर के पात्रों की चेष्टाओं, गति-स्थिति आदि व्यापारों का आकर्षक चित्रण करने के साथ-साथ प्रकृति के भी हृदयमयी चित्र अंकित किए हैं।

द्वापर मे प्रकृति का उद्दीपनकारी रूप ही प्रचुर परिमाण मे दीख पड़ता है। आलम्बन व अलंकार रूप मे भी कहीं-कहीं प्रकृति के कुछ चित्र खींचे गए है लेकिन इनकी संख्या कम ही है। साथ ही द्वापर मे प्रबलता, सूक्ष्मता व संवेदनीयता की दृष्टि से यशोदा का वात्सल्य और विभूता का देह-त्याग आदि प्रसग भी उल्लेखनीय हैं। कवि ने मार्मिक प्रसंगों को भी अवतारणा की है और इसमे इसमे कोई सदेह नही कि द्वापर के रचयिता में "मर्मस्थलो के पहचानने की अद्भुत क्षमता है। अनेक स्थलों का पुनराख्यान और नवोद्भावना उसे निश्चय ही स्रष्टा कवियों की प्रथम पंक्ति मे समासीन कर देती है।"

भाव-पक्ष की भाँति द्वापर का कला-पक्ष भी पुष्ट है* द्वापर के कला-पक्ष पर विचार करते समय हम भाषा-शैली की दृष्टि से ही उसकी समीक्षा करेंगे।

द्वापर गुप्त जी के उत्कर्ष काल की रचना है अतः उसमे स्वाभाविक ही खड़ी बोली का सुष्ठ और निखरा हुआ रूप दृष्टिगोचर होता है।

द्वापर में शब्दों का अत्यन्त सुन्दर व कवित्वपूर्ण प्रयोग किया गया है और

---

*अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न

१. भाषा-शैली की दृष्टि से द्वापर का मूल्यांकन कीजिए।

२. द्वापर का कला-पक्ष शीर्षक एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

कई स्थानों पर शब्द अत्यन्त सुन्दरता से पिरोये गये हैं; जैसे—

यह तरते तारांम्बर वाला नीला निर्मल नीर हरे !
यह शशिरंजित सितघन व्यंजित, परिचित त्रिविध समीर हरे !

द्वापर की भाषा अर्थ-मुखर भी है और उसमें प्रसंग-गर्भत्व के भी कई श्रेष्ठ उदाहरण उपलब्ध हो सकते हैं तथा मुख्यतया अभिधा के कवि होते हुए भी गुप्त जी ने द्वापर में लक्षणा व व्यंजना के भी कुछ प्रयोग किए हैं और 'धर्मा के स्थान पर धर्म का प्रयोग' भी किया है। लक्षणा का यह उदाहरण द्रष्टव्य है—**वृद्ध न होकर बाल बनी था पलट प्रौढ़ता बाँकी।**' रीति और वृत्ति की दृष्टि से विचार करने पर वैदर्भी रीति व उपनागरिका वृत्ति, गौड़ी रीति व परुषावृत्ति का और पांचाली रीति व कोमला वृत्ति के उदाहरण भी द्वापर में सहज उपलब्ध है।

विप्रलंभ शृङ्गार की प्रधानता होने से द्वापर में प्रसाद और माधुर्य की ही अधिकता है तथा मुहावरों, कहावतों व लोकोक्तियों के प्रयोग से उसने द्वापर की भाषा में कसावट, शक्तिमत्ता व प्रभावपूर्णता की वृद्धि की है।

गुप्त जी ने द्वापर में अनुप्रास, यमक, श्लेष, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह, व्यतिरेक आदि अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग ही किया है और अलंकारों के भार से कहीं भी अपनी कविता का विकृत नहीं होने दिया। कुछ उदाहरण देखिए—

उपमा— **ललित तंत्र सा, चलित यंत्र सा, फलित मंत्र सा भाता।**

रूपक— **अहा उसी लावण्य सिन्धु का रस ये आँसू लाये।**

संदेह— **यज्ञवेदियाँ हैं वे अथवा कोटिक कुटियाँ सारी।**

अपह्नुति— **चिबुक देख फिर चरण चूमने चला चित्त चिर-चेरा।**
वे दो ओठ न थे राधे, था एक फटा उर तेरा॥

व्यतिरेक— **ज्ञानयोग से हमें हमारा यही वियोग भला है।**
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण, नाट्य कवित्व कला है॥

एकावली— **वृन्दावन में नव मधु आया, मधु में मन्मथ आया।**
उसमें तन, तन में मन, मन में एक मनोरथ आया।

अतद्गुण— **राधा हरि बन गई यदि हरि राधा बन जाते।**
तो उद्धव तुम मधुवन से उलटे मधुपुर ही जाते॥

इन प्रचलित अलंकारों के साथ-साथ छायावाद में प्रयुक्त मानवीकरण और विशेषण विपर्यय जैसे अलंकार भी द्वापर में प्रयुक्त हुए हैं; उदाहरणार्थ—

यह क्या, वह क्या भ्रम या विभ्रम ? दर्शन नहीं अधूरे।
एक मूर्ति, आधे में राधा, आधे में हरि पूरे॥

इस प्रकार द्वापर का भाषा-सौन्दर्य निखरा हुआ है और कहीं-कहीं प्रांतीय बोलियों के शब्दों का प्रयोग करने से व तुकान्त के लिये भी अवश्य विकृत पदावली के दर्शन होते हों अन्यथा समष्टि रूप में विचार करने पर तो द्वापर की भाषा प्रसंगानुकूल, सरस, सुबोध, सरस व प्रवाहपूर्ण ही कही जाएगी।

द्वापर का शैली विधान भी उत्कृष्ट है★ पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार कर उसे किसी निश्चित काव्य-कोटि में रखना बड़ा ही कठिन कार्य है क्योंकि वह एक ऐसी कृति है जिसे किसी भी संकीर्ण सीमा में बाँधकर नहीं रखा जा सकता।

जब हम काव्य विभाजन की दृष्टि से द्वापर पर विचार करना चाहते हैं तो हम देखते हैं कि विचारकों ने इस सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् मत प्रस्तुत किये हैं। डा० गुलाबराय का कहना है "द्वापर में संवाद के नाटकीय ढंग का अनुसरण

अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न

१. "प्रबंधात्मक काव्य के क्षेत्र में द्वापर न तो महाकाव्य है और न खंडकाव्य ही। पात्र जैसा, जो कुछ भी देखते हैं और समझते है, उसे ही आत्मोद्गार के रूप में अभिव्यक्त करते हैं अतः द्वापर आत्मोद्गार शैली में लिखा हुआ प्रगीतात्मक मुक्तक काव्य है।" उक्त कथन की सोदाहरण विवेचना कीजिए।

२. काव्य-विधान की दृष्टि से द्वापर किस प्रकार की रचना है; पूर्ण-रूप से समझाइए।

३. शास्त्रीय दृष्टि से द्वापर किस प्रकार का काव्य है ? तर्कपूर्वक उत्तर दीजिए।

किया गया है। उसमे कथा-सूत्र सम्बद्ध नहीं है। अलग-अलग चरित्रों की छोटी-छोटी भाव-प्रधान कथाओं की सृष्टि की गयी है किन्तु सब मे सुधार और विचार-स्वातन्त्र्य की व्यापक भावना अनस्यूत है।" पर डॉ० उमाकांत ने अपने 'शोध प्रबन्ध' मे ठीक इसके विपरीत विचार व्यक्त किये हैं "रचना-कौशल एवं नूतन प्रतिपादन शैली ने चिरपोषित कथानक को पर्याप्त, सरल एवं रोचक बना दिया है। यह काव्य गुप्तजी की प्रिय वर्णनात्मक शैली में न होकर आत्म-निवेदन प्रणाली पर लिखा गया है। प्रत्येक खंड मे कोई पात्र अपना जीवन दर्शन, अपने-दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं की व्याख्या प्रस्तुत करता है। किन्तु इन सब खंडों के तह मे प्रबन्धत्व एकतार अनस्यूत है, अतः यह निश्चित् रूप से कथा-काव्य है।" डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो द्वापर को गीति-काव्यात्मक प्रबन्ध-काव्य माना है और 'गिरीश' जी की दृष्टि मे "द्वापर की पंक्तियों मे कवि ने गीति-काव्यात्मक शैली अपनायी है; तार्किकता का समावेश होने के कारण केवल हृदय ही नहीं, मस्तिष्क भी उसके प्रभाव की ग्राहकता मे भाग लेने लगता है।" पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने तो द्वापर को "रूपक का आकाश-भाषण वाली पद्धति पर लिखा गया पात्रों के आत्माभिव्यंजना का काव्य-निबन्ध-संग्रह कहा है।" कन्हैयालाल सहल भी उसे 'नाटकीय स्वागतोक्ति' का काव्यरूप मानते हैं। तथा डॉ० सत्येन्द्र ने प्रगीति तत्व की अधिकता के साथ-साथ अंत-र्मुखता की प्रधानता न होने से उसे संवाद मात्र ही माना है। इसी प्रकार डॉ० शकुन्तला दुबे ने द्वापर को 'बन्धाबन्ध' काव्य के अन्तर्गत स्थान देते हुए यही कहा है "·····मिश्र काव्यरूप गुप्त जी का 'द्वापर' है—न तो इसमे पूर्ण प्रबन्धत्व है और न पूर्णत. स्फुटता। प्रबन्ध की धारा बीच-बीच मे क्षणिक आभास देकर लुप्त हो जाती है। कुछ पात्र तो बिलकुल ही आत्म-निवेदन करते हुये दिखायी पड़ते हैं।—इसमे कहीं कृष्ण की महत्ता का प्रदर्शन है तो कहीं अपने ही जीवन की व्याख्या। परन्तु सम्पूर्ण काव्य का एक संकलित प्रभाव न पड़ता हो ऐसी बात नहीं। मिश्र काव्यरूप को एक विशिष्ट शैली मे निर्मित प्रस्तुत काव्य एक नवीन आकर्षण लिये हुये है।·····जिस परिस्थिति में 'द्वापर' की रचना हुई वह स्वयं कवि के कथनानुसार बड़ी संकल्प-विकल्प पूर्ण स्थिति

थी। यही कारण है, इस रचना का जो रूप कवि ने दिया है वह आज तक तर्क-वितर्क पूर्ण बना हुआ है। न तो वह शुद्ध प्रबन्ध है और न शुद्ध अबन्ध काव्य पर है इन्हीं दोनों के मध्य की रचना जो झुकती अधिक है अबन्ध काव्य की ओर।"

प्रायः उपलब्ध सभी समीक्षकों के विचारों की समीक्षा करते हुये डॉ० कमला कांत पाठक ने अपने शोध-प्रबन्ध में द्वापर को आत्म-संलाप (Dramatic Monologue) मानते हुए यहां कहा है "द्वापर प्रगीति काव्य है; उसकी शैली आत्म-संलापात्मक है।" अपने मत को स्पष्ट करते हुये उन्होंने कहा भी है "अंग्रेज के सुकवि ब्राउनिंग आत्म-संलाप शैली की गीति-कला के सिद्धहस्त कवि थे। द्वापर, यशोधरा और साकेत की गीति-कला का चरमोत्कर्ष है। गुप्त जी के गीति काव्य की यह सिद्धि है। इसमें पात्रों की मनोगतियों को कवि ने आत्म-संलापों के माध्यम से व्यंजित किया है। वे आत्मोद्गार हो हैं और गीति-कला के नमूने। आत्म-कथनात्मक शैली के माध्यम में परिस्थितियों का आत्मीयता पूर्वक चित्रण हो जाता है और व्यक्तित्व का मर्मस्पर्शी विश्लेषण। मनःप्रक्रिया की निर्बाध अभिव्यक्ति संवेदना को प्रमुख, प्रत्यक्ष और सीधे ढंग से उपस्थित करती है। इसमें कथा-प्रवाह के माध्यम अथवा घटनाओं के आवरण की आवश्यकता नहीं रहती।"

हमारी दृष्टि में यशोधरा की भांति द्वापर को भी कवि का एक सर्वथा अभिनव प्रयास ही समझना चाहिए और वह गुप्त जी की रचनाविधि का एक नवीन प्रयोग ही है। इसीलिये समीक्षक उसके सम्बन्ध में अपने पृथक्-पृथक् मत व्यक्त करते है और द्वापर को बन्धावन्ध काव्य मानते हुए भी डॉ० शकुन्तला दुबे ने यह भी कहा है कि "काव्यरूप की दृष्टि से द्वापर अपने स्थान पर अकेला ही खड़ा हुआ है, उसकी समता करने के लिये अन्य काव्य अभी तक इस क्षेत्र में प्रस्तुत नहीं हुआ।" इस प्रकार उन्होंने भी उसे एक प्रयोग ही माना है अतः इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत व हिन्दी समीक्षकों द्वारा किये गये काव्य विभाजन को ध्यान में रखकर हम द्वापर का काव्य-रूप निश्चित नहीं कर सकते क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि से वह किसी भी काव्य-रूप के अनुरूप नहीं जान पड़ता

और न उसमे अपेक्षित लक्षणों का पूर्णतः निर्वाह हो हो सका है। इतना अवश्य है कि अन्य सभी काव्य-रूपों की अपेक्षा वह गीति-काव्य के अधिक समीप जान पड़ता है और चूँकि वह आत्मोद्गार प्रणाली मे लिखा गया है अतः स्वाभाविक हो उसमे आत्माभिव्यंजकता की मात्रा अधिक है तथा कथा-वस्तु, नायक, घटनाएँ, सभी कुछ तो मानसिक अधिकरण में दिखा दी गई है।" डॉ० पाठक ने गीति-कला की दृष्टि से द्वापर की समीक्षा करते हुए कहा भी है "यह स्वानुभूतिमयी आत्मोद्गारात्मक गीति-पद्धति भावाविष्ट भी है, यथा—

चढ़ी बहुत निज नील गगन में, मैंने पार न पाया।
ढुलक पड़ी मैं आप ओस-सी हा, आधार न पाया।
वह भीतर ही रहा, व्यर्थ ये द्वार सजाये मैंने;
श्रुति-अतीत वह, क्यों इस तन के तार बजाये मैंने।

इतना आवेग गुप्त जी की अन्य किसी रचना में नहीं मिलता। यह विशिष्ट मनःस्थिति की रचना है। जीवन में सर्वतोमुखी क्रांति के आह्वान और आत्म-हारा प्रेम की ऐसी सशक्त अभिव्यक्ति उन्होंने अन्यत्र नहीं की। पूरे काव्य मे और विशेषतः गोपी, कुब्जा और विधृता अंशों में प्रगीति-कला का सुन्दर विन्यास हुआ है। विदग्ध भंगिति अथवा वचन-वक्रता का सर्वत्र प्रसार दिखायी पड़ता है, पर वह प्राचीन पद्धति पर निर्मित नहीं है, नया काव्य-कला का आधार लिये हुए है, यथा—

हो-होकर भी हुई न पूरी ऐसी अभिलाषा-सी,
कुछ अटकी आशा-सी, भटकी भावुक की भाषा-सी।

प्रगीति-काव्य के क्षेत्र में द्वापर का विशिष्ट स्थिति है और सौन्दर्य भी उसका अपना है।"

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो द्वापर में उक्त सभी विशिष्टताएँ अपने निखरे हुए रूप मे दृष्टिगोचर होती है और इसमें कोई संदेह नहीं कि द्वापर में

★अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न

१. गीत-काव्य की दृष्टि से द्वापर की समीक्षा कीजिए।

गेयता है तथा अन्विति सम्पूर्ण पद एक भाव विशेष को ही उद्घाटित करता है। साथ ही उसमें कोमल भावनाओं की ही अभिव्यक्ति भी हुई है और शृंगार, करुण, वात्सल्य व शांत रस की ही क्रमशः अधिकता है। चूँकि द्वापर आत्मोद्गार प्रणाली में लिखा गया है अतः उसमें स्वाभाविक ही हृदयग्राही आत्माभिव्यंजना भी विद्यमान है। द्वापर में पद-लालित्य भी विद्यमान है और भावावेश की भी अधिकता है तथा कहीं-कहीं तो कवि ने मनोभावनाओं का सजीव चित्रांकन भी किया है—

धड़क न वक्ष, कक्ष में है वह, फड़क वाम-भुज मेरे ;
मिले मिलन भय अन्त तुझे, तो सफल सभी रुज मेरे।
रहे भ्रांतियाँ, रहे श्रांतियाँ, रहे क्रांतियाँ चाहे ;
नटवर ! तेरा नाट्य-बन्ध निज सन्धि-शांति निर्वाहे।

द्वापर में गीत-काव्य के सभी आवश्यक उपकरण दृष्टिगोचर होते हैं अतः गीति-काव्य की दृष्टि से हम उसे एक सफल कृति ही मानेंगे।

भाव-पक्ष व कला-पक्ष की विशिष्टताओं के साथ-साथ हमें यह भी स्मरण रहना चाहिए कि 'द्वापर' में कवि ने परंपरागत कृष्ण-कथा को नूतन परिधान पहना कर अपनी मौलिक उद्भावना शक्ति का परिचय दिया है और द्वापर की विधृता तो उसकी सर्वथा नवीन देन ही है पर द्वापर के अन्य पात्रों—श्रीकृष्ण, राधा, यशोदा, बलराम, नारद, देवकी, उग्रसेन, कंस, कुब्जा, नंद और सुदामा आदि—का चरित्र-चित्रण भी सर्वथा नवीन है। छन्दयोजना की दृष्टि से विचार करने पर भी हम देखते हैं कि समस्त काव्य १६, १२ के २८ मात्रा वाले 'सार' या ललित पद छन्द में है और 'ग्वालबाल' व 'नारद' शीर्षक अध्यायों में केवल १६, १४ या १६, १३ मात्राएँ कर दी गयी हैं। डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल ने भी अपने शोध-प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना' में द्वापर में प्रयुक्त छन्दों का नाम सार व नाटक कहा है। साथ ही कवि ने सम-सामयिक परिस्थितियों का चित्रण भी किया है और युगाभिव्यक्ति व नारी-भावना की दृष्टि से भी द्वापर का अपना निजी महत्व है।

द्वापर का कवि सर्वतोमुखी क्रांति का आवाहन भी करता है और इस काव्य-

कृति में एक महत्वपूर्ण संदेश भी विद्यमान है।★ गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' के शब्दों में "आत्म-विकास की संगति रखते हुए नारी के अधिकारों की स्वीकृति 'द्वापर' का एक उल्लेख योग्य संदेश है; यह स्मरण रहे कि आत्मशक्ति के विकास की संभावनाओं के अभाव में 'द्वापर' आर्थिक अथवा राजनीतिक आधारों पर नारी का अधिकार नहीं स्वीकार करता। राधा के सामर्थ्य के मनोहर वर्णन ने उसके त्याग को बहुत ऊँचे उठा दिया है; इस क्रांतियुग में हमारी देवियों को वैसे ही वियोग, वैसे ही त्याग के लिए तैयार रहना चाहिए, 'द्वापर' का यह द्वितीय महत्वपूर्ण संदेश है। माता-पिता के लिए यह नहीं उचित है कि वे अपने बच्चों को जीवन भर अपने मनोरंजन की सामग्री समझते रहें; समाज हित के लिए, प्रसन्नता अथवा क्लेशानुभवपूर्वक उन्हें त्याग करना ही पड़ेगा। द्वापर का यह तृतीय स्मरणीय संदेश है। क्रांति को हम दैनिक जीवन का अंग समझने के अभ्यासी बनें, अपने घर का कूड़ा-करकट, समाज के क्षेत्र में इकट्ठा होने वाली गंदी सामग्री नियमित रूप से दूर फेंक दिया करें, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये 'द्वापर' का चतुर्थ संदेश यह है कि क्रांति वस्तुतः कोई बहुत भयंकर वस्तु नहीं है, यदि नित्य ही उसकी आराधना की जाय तो वह अपनी शीतल छाया से हमारे जीवन को अधिक स्वस्थ और सुखमय बना देगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस 'कूड़ा-करकट' की सफाई का उद्देश्य उन गंदगी के निक्षारण से है जो भिन्न-भिन्न सामाजिक आदर्शों के निर्जीव हो जाने के अनन्तर आलस्य और प्रमाद उत्पन्न करने वाली रूढ़ियों के रूप में उपस्थित होती है। अन्य अनेक दिशाओं में भी द्वापर के संदेश हैं जो जीव मात्र के प्रति दया का वितरण करते हैं और प्रत्येक प्रथा की बुद्धि की कसौटी पर कसने की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार गुप्तजी के इस काव्य ने पाठक को स्वतन्त्र-चेता होकर प्रत्येक प्राणी के प्रति न्याय करने का उपदेश दिया है तथा जीवन में स्वास्थ्य और शक्ति संचार का मार्ग दिखाया

★अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न

१. द्वापर का संदेश शीर्षक एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

२. इस कथन को स्पष्ट कीजिये कि "द्वापर का संदेश तो सर्वतोमुखी क्रांति का आवाहन लेकर हमारे सामने प्रस्तुत हुआ है।"

। कवि यहाँ तक कहता है कि क्रांति न हो तो जीवन ही व्यर्थ है; शांति को तो वह एक बहुत साधारण वस्तु समझता है; उसकी दृष्टि में मूल्य रखनेवाली चीज तो क्रांति ही है।

'साकेत' और 'द्वापर' के संदेशो★ में कुछ भिन्नता है; किन्तु ऐसी भिन्नता नहीं जो एक दूसरे को विरोधी के रूप में खड़ा करे। 'साकेत' में आर्य विजय का गान है; आर्य साम्राज्य का गौरव वर्णन है; राज सिंहासन के झगड़े को लेकर वह चला है और उसके लिए राजकुल को बहुत अधिक बलिदान और संकट का सामना करना पड़ा है। यज्ञ और हाम की धूम शिखा मंडित रखने हवा के पक्ष में उसकी गुरु गंभीर वाणी निनादित होती थी, वेदपाठ ही वहाँ सर्वसम्मत आदर्श स्थिति थी—

'गुंजारित होती चले वेदवर वाणी'

किन्तु द्वापर में कवि कहता है—

'वेदवादरत ठंडे जी से सोचो और विचारो'

कितना अंतर है। और फिर भी वास्तव में कोई वैषम्य नहीं है। कवि ने वेद की सीमा और वेद के क्षेत्र को विशाल करके सम्पूर्ण ज्ञान को उसी में गर्भित कर दिया है और प्रकाशवाद से वेद को अनंत विकास सम्पन्न बना कर अनंत की वाणी के रूप में उसकी अपौरुषेयता सिद्ध कर दी है, सम्पूर्ण विश्व के विज्ञान के प्रतिनिधि रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं और ज्ञान सम्बन्धी एक सार्वभौम भावना हम अनुभव करने लगते हैं जो वेद को एक सीमित क्षेत्र ही प्रदान करते हैं और उनके नाम पर संकीर्णता का प्रचार करते हैं वे वेदवादरत तो हैं ही। अतः हमें 'द्वापर' को 'साकेत' के विकास के रूप में ग्रहण करना चाहिए, न कि उसके विरोधी के रूप में।"

इस प्रकार सभी दृष्टियों से विचार करने पर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-कृति द्वापर को निर्विवाद रूप से एक उत्कृष्ट रचना ही मानना होगा

★अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न

१. 'साकेत' और 'द्वापर' के संदेशों की भिन्नताएँ बतलाइए।

और जैसा कि डॉ० देवर्षि सनाढ्य का कहना है "संक्षेप में द्वापर के विषय में ये मान्यतायें बन जाती है :

(१) 'द्वापर' खंडकथाओं का एक संग्रह है, जो कृष्ण को आधार मानकर एकसूत्रता में बाँधती है।

(२) इसमें कृष्ण के 'गोपाल' रूप का लगभग परम्परा-प्राप्त चित्रण हुआ है।

(३) आत्मचरित्र प्रणाली में लिखा गया यह हिन्दी का एक ऐसा काव्य है, जिसमें अनेक चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बड़ा सुन्दर हुआ है।

(४) कवि ने विधृता, राधा, गोपी, नन्द आदि के रूप में नयी कल्पनाएँ भी की हैं।

(५) कवि नारी-जीवन की पीड़ाओं का भावुक चितेरा है, विधृता-चरित्र से उसने 'द्वापर' में भी अपनी भावुकता का परिचय दिया है।

(६) बलि-यज्ञ-निषेध, धरती को देवता स्वीकारना आदि कवि ने नए संदेश 'द्वापर' में दिये है।

(७) खंड-खंड होने से यद्यपि इसकी एकतानता नहीं मिलती, फिर भी कुछ खंडों में इसकी हृदय-स्पर्शी परिणिचना है।

(८) अलंकारों का थोड़ा अनायास योग, कुछ दोष होते हुए भी परिमार्जित भाषा, सीधा छंद एवं नयी अभिव्यक्ति 'द्वापर' के कलापक्ष की विशेषताएँ हैं।

(९) 'साकेत' और 'यशोधरा' के उपरान्त शैली और संदेशात्मक के सम्बन्ध से गुप्त जी की रचनाओं में 'द्वापर' को मान्यता दी जा सकती है।"

द्वितीय खंड
व्याख्या और विशेषताएँ

★पृष्ठभूमि ★संकेत ★शब्दार्थ ★व्याख्या ★अन्य विशेषताएँ
★टिप्पणी ★अलंकार ★तुलनात्मक दृष्टि·····इत्यादि

मंगलाचरण (पृष्ठ ११)

धनुर्बाण·····रग (पृष्ठ ११)

संकेत—वस्तुतः राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त मर्यादावादी महाकवि ही हैं और यही कारण है कि उन्होंने अपनी काव्य-कृतियों में 'मंगलाचरण' की प्राचीन परम्परा का निर्वाह भी किया है। द्वापर में भी इसी परिपाटी का पूर्ण पालन किया गया है तथा कवि ने इस मंगलाचरण में राम व कृष्ण दोनों को एक ही मानते हुए उनकी प्रार्थना की है।

शब्दार्थ—धनुर्बाण = धनुष-बाण। वेणु बाँसुरी।

व्याख्या—कवि भगवान राम को सम्बोधित कर कहता है कि मैं तो तुम्हारे श्याम रूप का ही अनन्य उपासक हूँ और तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसी का भी प्रभाव मुझ पर नहीं पड़ सकता। उसका कहना है कि हे प्रभु राम! तुम चाहे धनुष-बाण लेकर मुझे दर्शन दो या मुरलीधर कृष्ण के रूप में मेरे सामने आओ पर मुझ पर तो जो प्रभाव पड़ना था वह पड़ चुका है और अब मुझ पर अन्य कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसका तात्पर्य यह है कि कवि राम के प्रति अपनी अनन्यता प्रकट करते हुए कहता है कि वह एक बार जिस श्याम रूप को अपने हृदय में स्थान दे चुका है उसकी ही भक्ति जीवन भर करता रहेगा और उसके हृदय की अनन्यता कभी भी समाप्त न होगी। भगवान चाहे धनुर्धारी रूप में उसे दर्शन दें या बाँसुरी बजाते हुए, पर वह तो उनके श्याम रूप का ही उपासक है।

अन्य विशेषताएँ—श्री मैथिलीशरण गुप्त जी वैष्णव हो हैं और उनके आराध्य देवता राम हैं अतः द्वापर के प्रारम्भ में उन्होंने स्वाभाविक ही राम के प्रति अपनी अनन्यता प्रकट करते हुए राम और कृष्ण का एक ही माना है। इस प्रकार कवि की वैष्णव-भावना में उदारता व धार्मिक सहिष्णुता विद्यमान है और कवि का विचार है कि राम और कृष्ण दोनों ही विष्णु के अवतार हैं अतः दोनों को एक ही समझना चाहिए। अवतारवाद का समर्थन व धार्मिक सहिष्णुता के साथ-साथ कवि के समन्वयवादी दृष्टिकोण की झाँकी भी इस मंगलाचरण में दृष्टिगोचर होती है। डॉ० कमलाकांत पाठक के शब्दों में "गुप्त जी ने अपने सभी काव्य-ग्रंथों का मंगलाचरण राम के नाम से ही किया है। पर वे राम और कृष्ण का सांप्रदायिक भेद नहीं मानते।"

तुलनात्मक दृष्टि—कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने एक बार कृष्ण-मंदिर में भगवान् कृष्ण की प्रतिमा के सामने प्रार्थना करते हुए कहा था—

कहा कहौं छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष-बाण लो हाथ॥

श्याम-स्वरूप के प्रति अनन्यता निम्नांकित पंक्ति में में द्रष्टव्य है—

सब दूसरो रंग चढ़ैगो नहीं, अलि साँवरो रंग चढ़्यो सो चढ़्यो।

श्रीकृष्ण (पृष्ठ १२)

राम भजन·····न तरे। (पृष्ठ १२)

पृष्ठभूमि—कवि ने द्वापर की रचना आत्मोद्गार प्रणाली में की है और इस प्रकार द्वापर के प्रत्येक अध्याय में क्रमशः प्रत्येक पात्र अपने-अपने उद्गार व्यक्त करते हैं। चूँकि कृष्ण द्वापर के नायक और केन्द्रवर्ती चरित्र हैं अतः कवि ने मंगलाचरण के उपरान्त पहले खंड में श्रीकृष्ण के उद्गार ही व्यक्त किये हैं।

संकेत—इन पंक्तियों में कृष्ण यह स्पष्ट कर देते हैं कि जो भी उनकी शरण में आता है वह मोक्ष प्राप्त करता है।

शब्दार्थ—पाँचजन्य—श्रीकृष्ण के शंख का नाम।

व्याख्या—कृष्ण का कहना है कि हे मेरे पांचजन्य शंख! तू अब राम का

भजन कर क्योंकि अब मैं अपनी बाँसुरी बजाऊँगा। वस्तुतः कृष्ण के इस कथन में गंभीरता निहित है और उनकी यह उक्ति अर्थपूर्ण ही है। इसका सरल अर्थ समझते समय हमें यह स्मरण रखना होगा कि श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय में कहा गया है कि महाभारत युद्ध के पूर्व जब कौरव-पांडवों की सेना आमने-सामने एकत्र हुई तब अन्य वीरों के समान श्रीकृष्ण ने भी अपने शंख की ध्वनि की थी। कृष्ण के इस शंख का नाम पांचजन्य कहा गया है और जैसा कि सर्व-विदित है महाभारत युद्ध के पूर्व अर्जुन मोहग्रस्त हो गए थे तथा भगवान कृष्ण ने उन्हें गीता का उपदेश दे युद्ध के लिए प्रेरित किया था। कृष्ण ने जो अपने पाचजन्य शंख को राम भजन करने के लिए कहा है उसका अर्थ राम का स्तुति या प्रार्थना से नहीं है अपितु विश्राम करने से है और इससे यही प्रतीत होता है कि कृष्ण अब गीता के कर्मयोगी कृष्ण का-सा स्वरूप प्रकट करना उपयुक्त नहीं समझते अपितु ब्रज के मुरलीधारी कृष्ण का स्वरूप दिखाना चाहते हैं। इसीलिए इनका कहना है कि मैं अपनी बाँसुरी का सुरीला भावपूर्ण तान सुनाना चाहता हूँ और जो भी चाहे इसे सुन कर तृप्त हो जाए। कृष्ण कहते हैं कि मेरी इस मुरली के स्वरों को कोई भी सुन सकता है और मैं किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं मानता तथा जो भी अपने सांसारिक धर्मों को त्यागकर मेरी शरण में आ जाएगा उसे भयभीत होने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। उनका कहना है कि मनुष्य चाहे किसी भी जाति या धर्म का क्यों न हो पर जब वह मेरी शरण आ जाता है तब उसे सांसारिक बाधाओं से भयभीत होने की तनिक भी आवश्यकता नहीं रहती और ऐसा कोई भी पाप नहीं है जो उनके—कृष्ण के—द्वारा दूर न किया जा सके अर्थात् जो भी भगवान कृष्ण की शरण में जाता है उसे मुक्ति मिल जाती है।

अन्य विशेषताएँ—कृष्ण के इस आत्मोद्गार में कवि ने कथावस्तु की ओर संकेत किया है और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि कृष्ण की ब्रज-लीलाओं का वर्णन करना चाहता है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि कवि ने द्वापर के प्रारंभिक सोलह खंडों का नामकरण गोपाल ही किया है अतः इससे भी यही भास होता है कि वह कृष्ण के ब्रज-स्वरूप का ही चित्रण करना चाहता है। साथ

ही इसमें कृष्ण ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जो कोई उनकी भक्ति करता है उसे वह सहर्ष अपनाते हैं।

अलंकार—अनुप्रास।

तुलनात्मक दृष्टि—श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं यह माना है कि दुराचारी भी यदि उनकी भक्ति करता तो वह परम शांति प्राप्त करता है और इसी गीता में पुनः अठारहवें अध्याय में कृष्ण ने कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इसी प्रकार रामचरित मानस के सुन्दरकांड में भी गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान राम से कहलाया है—

जो नर होइ चराचर द्रोही। आवे सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करऊँ सद्य तेहि साधु समाना॥

राधा (पृष्ठ १३-१५)

पृष्ठभूमि—कृष्ण-काव्य की परम्परा में राधा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है अतः द्वापर के कवि ने भी अपनी काव्य-कृति में कृष्ण के पश्चात् राधा से ही आत्मोद्गार व्यक्त कराए हैं और इन उद्गारों में राधा के आदर्श प्रेमिका का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

शरण.....कर्म हरे! (पृष्ठ १३)

संकेत—इन पंक्तियों में राधा ने 'सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' की भावना से अपने समस्त कर्म कृष्णार्पण कर दिए हैं।

शब्दार्थ—विनिमय = बदला। वर्म = कवच।

व्याख्या—राधा कृष्ण को सम्बोधित कर कहती है कि हे कृष्ण! मैं समस्त

धर्मों को छोड़ कर तुम्हारी शरण में आयी हूँ और तुम अपनी मधुर मुरली की ध्वनि मुझे सुना दो जिससे कि मेरा हृदय आनंदविभोर होकर नृत्य करने लगे। सामान्यतया धर्म से कहीं अभिप्राय कर्म से लिया जा सकता है और इससे यह अर्थ भी ग्रहण किया जाना चाहिए कि राधा के कहने का अर्थ यह है कि वह कुल धर्म, वेद मर्यादाओं, लज्जा, मोह व चिन्ता आदि को तजकर कृष्ण के चरणों में आत्म-समर्पण कर रही है। राधा यह भी कहती है कि मैंने अपने आत्म-समर्पण के बदले तुम्हारे वचनों अर्थात् उपदेश रूपी कवच को नहीं चाहा तो और मैं तो बस यही जानती हूँ कि मैंने अपने समस्त कर्म तुम्हीं को अर्पित कर दिए हैं।

अन्य विशेषताएँ—इन पंक्तियों में राधा की आदर्श प्रेम-भावना व्यक्त हुई है और वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टिमार्गी भक्ति के अनुरूप हम राधा को पुष्टि पुष्ट भक्त मान सकते हैं। वल्लभाचार्य ने अणुभाष्य, अध्याय ३, पाद २, सूत्र ५ में कहा भी है कि भगवान की इच्छा से जब जीव के ऐश्वर्यादि छः गुण तिरोहित हो जाते हैं तभी बंध व विपर्यय होता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि कृष्ण-काव्य की परंपरा के अधिकांश कवियों ने राधा व गोपियों द्वारा मुरली के प्रति ईर्ष्याजनित उद्गार व्यक्त कराए हैं पर द्वापर की राधा तो कृष्ण से मधुर मुरली का तान सुनना चाहती है। इसे कवि की मौलिकता ही समझना चाहिए। प्रस्तुत पद्यांश में माधुर्य गुण की अधिकता है और शब्द-सौन्दर्य भी विद्यमान है तथा कवि ने उपयुक्त शब्दों का ही चयन किया है। पदमैत्री की इसी विशिष्टता को देखकर दिनकर जी ने कहा है "राधा की इस उक्ति पर तो बड़े-बड़े महाकाव्य न्योछावर किए जा सकते हैं।"

अलंकार—अनुप्रास।

तुलनात्मक दृष्टि—तुलसी ने भी रामचरित मानस में इसी प्रकार एक स्थान पर कहा है—

सब कर ममता त्याग बटोरी। मम पग मनहिं बाँधि बरि डोरी॥

यह वृन्दावन·····हरे! (पृष्ठ १४)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में राधा ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वृन्दावन

वंशीवट और यमुना तट आदि कृष्ण से सम्बन्धित होने के कारण उसे प्रिय हैं तथा वह अपना यह रंक शरीर भी कृष्ण के अंक मे समर्पित करना चाहती है।

शब्दार्थ—तीर = तट, किनारा। तारांबर = तारों से युक्त आकाश। नीर = जल। शशि = चंद्रमा। सेत = श्वेत, सफेद। त्रिविध समीर = शीतल, मंद व सुगंध आदि तीन गुणों से युक्त वायु।

व्याख्या—राधा कृष्ण को सम्बोधित कर कहती है कि हे कृष्ण! मेरी बस यही अभिलाषा है कि मेरा यह क्षुद्र शरीर तुम्हारे अंक मे ही रहे अर्थात् मैं अपने आपको तुम्हें समर्पित कर देना चाहती हूँ। राधा कहती है कि हे कृष्ण! तुम्हारी यह क्रीडाभूमि वृन्दावन, वंशीवट व यमुना का किनारा सर्वदा मेरे नेत्रों में समाया रहता है अर्थात् जिन स्थलों पर कृष्ण ने विविध लीलाएँ की हैं वह सभी स्थल हमेशा राधा के नेत्रो के सामने विद्यमान रहते हैं और यमुना के श्याम निर्मल जल मे तैरता हुआ तारक समूह से पूर्ण आकाश उन्हे—राधा को—कृष्ण-प्रेम की प्रेरणा देता है। साथ ही चन्द्रमा की शीतल शुभ्र चाँदनी से मंडित श्वेत घन व शीतल, मंद, सुगन्धित समीर सर्वदा उन्हें—राधा को—आह्लादित करती रहती है और वह केवल यही अभिलाषा करती है कि उनका यह क्षुद्र शरीर हमेशा कृष्ण के अंक मे स्थान पाता रहे।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पंक्तियों मे राधा के उद्गारों में अष्टछाप भक्ति की झलक विद्यमान है और इस सम्बन्ध मे हमें यह स्मरण रहना चाहिए कि आचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भक्ति के सम्बन्ध में दो बातें मुख्य मानी हैं—(१) ईश्वर के प्रति सुदृढ़ व उत्कट प्रेम और (२) ईश्वर की महत्ता का निरंतर ज्ञान व ध्यान। राधा के इस कथन मे इन दोनों बातों के दर्शन होते है तथा जैसा कि पुष्टिमार्ग म कृष्ण के साथ ही उनसे सम्बन्धित वस्तुओं से भी प्रेम आवश्यक कहा गया है राधा भी कृष्ण से सम्बन्धित वस्तुओं से अपना प्रेम प्रकट कर रही है। इन पंक्तियों मे कवि ने भारतीय नारी के आदर्श स्वरूप का चित्रांकन करते हुए यह स्पष्ट करना चाहा है कि भारतीय नारी अपना सर्वस्व अपने प्रिय को अर्पित कर देती है। सरल सुबोध भाषा, पद मैत्री व ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से भी यह पद्यांश उत्कृष्ट है और भाषा व भाव का स्वाभाविक संतुलन सा उसमें दीख पड़ता है।

अलंकार—अनुप्रास ।

कैसे तुष्ट····हरे ! (पृष्ठ १४)

संकेत—यहाँ राधा अपनी दीनता प्रकट करते हुए कहती हैं कि कृष्ण उसे भूल न जायँ ।

शब्दार्थ—तुष्ट = संतुष्ट । बुधा = बुद्धिमान, समझदार । मुग्धा = किशोरी, नायिका । मुधा = असत्य, वृथा । क्षुधा = भूख । अलं = पर्याप्त, बस, यथेष्ट ।

व्याख्या—राधा कृष्ण से कह रही हैं कि मै बुद्धिमान नही हूँ अतः तुम्हें भला किस प्रकार संतुष्ट कर सकती हूँ । राधा के कहने का अभिप्राय यह है कि वह इतनी समझदार व विदुषी नहीं है जो विभिन्न विषयों की बातों के द्वारा कृष्ण को संतुष्ट कर सकें और वह तो बस यही नम्र निवेदन कर सकती है कि उसे इस बात से कोई अभिप्राय नहीं है कि कृष्ण उससे संतुष्ट हैं वा असंतुष्ट क्योंकि वह तो यह जानती है कि उसने बिना किसी प्रयोजन के अपने आपको उनके चरणों में न्योछावर कर दिया है । राधा के कहने का अर्थ यह है कि वह तो बिना किसी कारण से कृष्ण के प्रति आसक्ति रखती है अतः मिथ्या बाह्याचारों के सम्बन्ध में कुछ भी चिंतन करना उसे उचित नही जान पड़ता ।

राधा का कहना है कि मै तो कृष्ण का प्रेम पाकर पूर्णतः संतुष्ट हूँ पर मुग्धा होने के कारण मुझे पूर्ण परितोष नहीं प्राप्त होता और मैं यह आकांक्षा भी रखती हूँ कि सर्वदा तुम्हारा प्रेम प्राप्त होता रहे लेकिन मै तुमसे यही अनुरोध करती हूँ कि चूँकि मेरे इस तृप्त प्रणय से तुम्हारी क्षुधा दूर न हो सकेगी अतः तुम मेरे हृदय में अपनी स्मृति की पर्याप्त क्षुधा छोड़कर निश्चित् पथ पर चलते रहना । राधा का कहने का अर्थ यह है कि वह अपने प्रियतम कृष्ण के उच्च लक्ष्य में बाधक नहीं बनना चाहती और वह तो उनकी स्मृति रूपी क्षुधा का पान कर ही संतुष्ट रह जाना चाहती है ।

अन्य विशेषताएँ—राधा ने इन पंक्तियों में अपनी दीनता प्रदर्शित करते हुए स्पष्ट कर दिया है कि वह सरल, अबोध व मुग्धा किसी भी प्रकार अपने प्रिय को संतुष्ट नहीं कर सकती और न उनके कुछ काम ही आ सकती है अतः वह यही उचित समझती है कि उसके प्रियतम अपने निश्चित् पथ से विचलित

न हों और उसके लिए केवल स्मृति रूपी क्षुधा छोड़ जायँ जिससे कि वह उन्हें कभी विस्मरण न कर सके।

टिप्पणी—इस पद्यांश की चौथी पंक्ति में राधा ने स्वयं को मुग्धा कहा है और इस मुग्धा शब्द के दो अर्थ यहाँ ग्रहण किए जा सकते हैं। मुग्धा से सामान्यतः एक अर्थ माहित लिया जा सकता है पर साथ ही हमारे साहित्य-शास्त्रियों ने नायिका भेद का वर्णन करते समय मूलतः नायिका के तीन भेद स्वकीया, परकीया व सामान्या नामक किए हैं और वय क्रम के अनुसार स्वकीया नायिका के मुग्धा, मध्या व प्रौढ़ा नामक तीन भेद माने है। श्री प्रभुदयाल मीतल ने 'व्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद' नामक कृति में 'मुग्धा' का लक्षण देते हुए कहा भी है "जिसके शरीर में नव-यौवन का संचार हो रहा हो ऐसी लज्जा शील नायिका को मुग्धा कहते हैं।"

अलंकार—अनुप्रास और रूपक।

सब सह·····शोध हरे ! (पृष्ठ १५)

संकेत—राधा कृष्ण से अनुरोध कर रही है कि वह उसकी शोध लेते रहें।

शब्दार्थ—बोध = सान्त्वना, ज्ञान। शोध = खोज।

व्याख्या—राधा कृष्ण से कह रही है कि मैं तुम्हारी प्रेम-स्मृति में सब कुछ सहन कर लूँगी अर्थात् यदि मुझे तुम्हारा वियोग भी सहना पड़े तो भी विचलित न होऊँगी और धैर्य पूर्वक सब कुछ सह लूँगी पर तुम्हारे—कृष्ण के—प्रति मेरी प्रेम-भावना हमेशा बनी रहेगी। राधा कृष्ण से कहती है कि तुम उपदेश देते हुए समझाने का प्रयत्न न करना क्योंकि यह तो ज्ञान का अपमान होगा। इसका अर्थ यह है कि राधा हमेशा कृष्ण के विरह में भी उनकी स्मृति के सहारे ही जीवित रहना चाहती है और इसीलिए वह कृष्ण से कहती है कि कृष्ण उन्हें यह उपदेश न दें कि वह उन्हें भूल जाय क्योंकि वह तो अपना सर्वस्व ही उन्हें सौंप चुकी है। चूँकि वह कृष्ण के उक्त कथन को मानने के पक्ष में नहीं है अतः उसका विचार है कि यदि वह उनकी बात सुनी-अनसुनी कर देगी तो इससे ज्ञान का अपमान ही होगा, इसीलिए वह चाहती है कि उसके प्रियतम ज्ञान का अपमान न होने दें। राधा कृष्ण से कहती है कि वह उसकी बातों पर क्रोध न करें और

वह तो बस यही चाहती है कि यदि कभी वह उनका ध्यान करना भूल जाय तो स्वयं कृष्ण उसकी शोध लेते रहें ।

अन्य विशेषताएँ—राधा के इन उद्गारों में प्रेमी हृदय की अनन्यता ही अभिव्यक्त हो रही है और एक सच्चे साधक व भक्त की भाँति राधा अपने प्रिय को कभी भी भूलना नहीं चाहती ।

टिप्पणी—कुछ व्याख्याकारों ने भ्रमवश ज्ञानापमान के स्थान पर मानापमान पाठ शुद्ध समझा है परन्तु ज्ञानापमान ही शुद्ध है क्योंकि भक्ति में तो ज्ञान की उपेक्षा संभव है और भ्रमर सम्बन्धी रचनाओं में इस प्रकार के कई पद मिलते है जिनमें ज्ञान का निरादर किया गया है ।

झुक, वह ·····मानस हंस हरे ! (पृष्ठ १५)

संकेत—इस पद्यांश में कृष्ण के प्रति राधा का आत्म-समर्पण अंकित किया गया है :

शब्दार्थ—वाम = बायाँ । कपोल = गाल । दक्षिण = दाहिना, दायाँ । अवतंस = कर्णफूल, कान में पहना जाने वाला एक आभूषण । अंस = अंश, भाग, कंधा ।

व्याख्या—राधा कृष्ण से कहती है कि मुझे हमेशा तुम्हारा सहारा प्राप्त होता रहे और इस प्रकार मैं तुम्हारे वामांग में सर्वदा विद्यमान रहूँ । कृष्ण के बायें अंग में हमेशा विद्यमान रहने की कामना करते हुए राधा कहती है कि मेरे दाहिने कान का कर्णफूल तुम्हारे बायें कपोल का चुम्बन करे और मैं इसी आनन्द-भावना में लीन हो सम्पूर्ण सृष्टि को सुधि-बुधि भूल जाऊँ । राधा कृष्ण से कह रही है कि तुम्हारे उन्नत कंधों का सहारा हमेशा मुझ अंधी को मिलता रहे और मेरा मानस हंस तुम्हारे अगाध प्रेम-सागर में सर्वदा निमग्न रहे । यहाँ राधा ने जो अपने आपको अंधी कहा है उसमें भक्त की दीनता ही दीख पड़ती है और इसका अर्थ यह है कि वह सम्पूर्ण सृष्टि को भुला अपने प्रिय का सहारा चाहती है ।

अन्य विशेषताएँ—कवि ने इन पंक्तियों में राधा की मिलन भावना व्यक्त की है और वह पुष्टि मार्गीय भक्ति के अनुरूप युगल छवि—राधा-कृष्ण सुषमा—

का चित्रण कर रहा है। राधा के इन उद्गारों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उसकी एकमात्र कामना यही है कि उसका हृदय रूपी हंस हमेशा प्रियतम कृष्ण के प्रेम-सागर में आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करता रहे।

अलंकार—रूपक और लोकोक्ति।

यशोदा (पृष्ठ १६-२८)

पृष्ठभूमि—यशोदा खंड में कवि ने माता यशोदा के मातृत्व की अनूठी अभिव्यंजना की है।

मेरे भीतर·····में बहते ! (पृष्ठ १६-१७)

संकेत—यशोदा कृष्ण को अपने हृदय व बाहर प्रत्येक स्थल में देखती हैं और साथ ही उन्हें अपने पति की उदारता व सहृदयता पर भी प्रेम है।

शब्दार्थ—सचिव = मंत्री।

व्याख्या—यशोदा कृष्ण को सम्बोधित कर कहती हैं कि हे कृष्ण ! तू केवल मेरे हृदय में ही नहीं अपितु सर्वत्र विद्यमान है अर्थात् वह कृष्ण को अपने हृदय में ही विद्यमान नहीं देखता बल्कि उनका यह भी कहना है कि कृष्ण का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त है। यशोदा का कहना है कि कृष्ण को पुत्र रूप में पाकर मेरा जन्म सफल हो गया है और मेरी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो गई हैं तथा मैं अब यही चाहती हूँ कि जो सुख भगवान ने मुझे दिया है वह सभी को प्राप्त हो।

यशोदा पुनः कहती है कि यह कहते-कहते मैं गद्गद् हो जाती हूँ कि मेरे पति अत्यन्त उदार हैं और वह मुझे रानी के समान तथा स्वयं को मन्त्री की भाँति रखते हैं। इसका अर्थ यह है कि नन्द यशोदा की इच्छाओं का समुचित सम्मान करते हैं और उन्हें गृह-कार्य में सहयोग भी देते हैं तथा दोनों मिल-जुल कर गृहस्थी चला रहे हैं। यशोदा का कहना है कि हम दोनों पति-पत्नी आपस में जान-बूझ कर एक दूसरे की झिड़कियाँ भी प्रेमपूर्वक सुनते हैं लेकिन हममें कभी भी मनोमालिन्य उत्पन्न नहीं होता और इस प्रकार हम दोनों प्रेमसागर में प्रेम की थपकियाँ खाते हुए जीवन-पथ पर अग्रसर हो रहे हैं। यशोदा के कहने का अभिप्राय यह है कि हम दोनों पति-पत्नी एक-दूसरे से अगाध प्रेम करते हैं।

अन्य विशेषताएँ—इन पंक्तियों में यशोदा ने पुत्र कृष्ण के प्रति वात्सल्य

शब्दार्थ—नभ = आकाश । मृगांक = चन्द्रमा ।

व्याख्या—यशोदा का कहना है कि बालकृष्ण को आँगन में किलोलें करता देख मुझे यही आभास होता है कि मानों आकाश से चन्द्रमा ही धरती पर उतर आया हो और इस प्रकार मेरी तो यही अभिलाषा है कि जो सुख मुझे प्राप्त हुआ है वही सबको प्राप्त हो । यशोदा का कहना है कि कृष्ण जब मंद स्वर में कुछ गुनगुना उठते है तो मुझे ऐसा जान पडता है कि मानों वह गा रहे है और वह गायक कृष्ण मुझसे कंठ मिलाकर रोता भी है तथा जब मै उसे हाथों पर हिला-हिलाकर थपकी देते हुए सुलाती हूँ तो मुझे अवर्णनीय आनंद प्राप्त होता है। यशोदा कह रही हैं कि मै कृष्ण को प्रतिदिन अपने हाथों से भोजन कराकर इस संसार में जन्म लेने का फल पा जाती हूँ अर्थात् अपने जन्म को सार्थक समझती हूँ और अनिष्ट भावना से मुक्त हो जब पूतना ने कृष्ण को अपना स्तन पान कराया तो उसे कृष्ण के हाथों मृत्यु मिलने से मुक्ति प्राप्त हो गई और उसका जीवन भी सार्थक हो गया ।

टिप्पणी—इन पंक्तियों में पूतना वध की कथा का सांकेतिक चित्रण है । कहते है, कंस ने पूतना राक्षसी को बालकृष्ण का वध करने के लिए गोकुल भेजा था और वह राक्षसी सुन्दर नारी का रूप धारण कर अपने स्तनों मे विष लगा कर कृष्ण के पास पहुँची पर कृष्ण ने उसका स्तन पान करते समय उसे जीवन-मुक्ति प्रदान कर दी और वह स्वर्ग पहुँची ।

अलंकार—उपमा और अनुप्रास ।

मन की·····मैंने पाया । (१९-२०)

संकेत—इस पद्यांश मे यशोदा के मातृ-हृदय की मनोग्राही झाँकी अंकित की गई है ।

शब्दार्थ—ऊधम = गड़बड़, उपद्रव । पति-जाया =पति पत्नी ।

व्याख्या—यशोदा कह रही है कि कृष्ण जब तिरछे होकर मुस्काने लगता है तब मैं समझ जाती हूँ कि वह मेरे मन की बात समझ गया है अर्थात् बालकृष्ण की त्रिभंगी मुस्कान से यह आभास होता है कि उन्होंने माता यशोदा के मन की

बात को समझ लिया है और वह इसीलिए भगवान से यही प्रार्थना करती हैं कि जो सुख उन्हें प्राप्त हुआ है वह सबको प्राप्त होता रहे।

यशोदा कृष्ण की चपल क्रीडाओं का उल्लेख करते हुए कहती है कि बाल कृष्ण अत्यंत नटखट है और उसका कुछ ऐसा स्वभाव हो गया है कि जब तक वह मुझसे मार नहीं खाता तब तक उसको भूख शांत नहीं होती अर्थात् कृष्ण को मार खाने में मजा आता है। यशोदा कह रही है कि कृष्ण उपद्रव करने के बाद एक ओर चुपचाप इस प्रकार खड़े हो जाते हैं कि मानो कोई घटना हो न हुई हो और उस उपद्रव में उनका कोई हाथ हो न हो। यशोदा का कहना है कि किसी भी प्रकार का कोलाहल सुन जब नंद आश्चर्यचकित हो अंदर आते हैं तो कृष्ण पहले ही उनसे कहने लगता है कि देखो यह माँ का झूठ-मूठ का झुठलाना कैसा विचित्र है और मुझे यह सब सहना पड़ता है। यशोदा कहती है कि कृष्ण की इस बात को सुनकर हम दोनों पति-पत्नी हँस पड़ते हैं और मेरी तो यही अभिलाषा है कि जो सुख मुझे प्राप्त है वह सबको प्राप्त हो।

अलंकार—पुनरुक्ति प्रकाश।

मैं कहती हूँ..... ...मने पाया। (पृष्ठ २१)

संकेत—कृष्ण की बाल लीलाओं को देख नंद-यशोदा को जो आनन्द होता है उसी का वर्णन पंक्तियों में किया गया है।

शब्दार्थ—बरजो = रोको। अफरी = संतुष्ट होना।

व्याख्या—यशोदा कहती है कि ग्वालिनों द्वारा उलाहने सुनते-सुनते मैं ऊब उठती हूँ और नंद से यह कहती हूँ कि इसे अब तुम शरारत करने व बाहर जाने से रोको क्योंकि इसके नटखटी कार्यों की रोज शिकायतें सुननी पड़ती हैं तथा यह अपने घर को झाँककर छोड़कर दूसरे के घरों का गुड़ खाता फिरता है अर्थात् घर की अच्छी वस्तुएँ छोड़कर दूसरे के घरों की खराब चीजें खाता है। यशोदा का कहना है कि मेरी यह बात सुनकर वह—नंद—कृष्ण को पुकार कर कहते हैं कि हे बेटा मोहन! तू अब मेरे पास आ जा क्योंकि तेरी माता अब तेरी क्रीड़ाओं से संतुष्ट हो चुकी है और अब मुझे इस आनन्द का उपभोग करने के लिए कह रही है। यशोदा का कहना है कि नंद की इन बातों को सुनकर बालकृष्ण यही उत्तर

देते हैं कि हे पिता ! मैंने भी भला कब खट्टा खाया है और इस प्रकार मैं तो यही चाहती हूँ कि जो सुख मुझे प्राप्त हुआ है वह सुख सबको प्राप्त हो ।

अन्य विशेषतायें—इन पंक्तियों में कवि ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि शिशु की बाल-क्रीड़ाएँ देख कर माता-पिता को स्वाभाविक प्रसन्नता होती है और दोनों अपने पुत्र की बाल-क्रीड़ाओं का आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं ।

अलंकार—पुनरुक्ति प्रकाश ।

तुलनात्मक दृष्टि—सूरदास ने भी इसी प्रकार एक स्थल पर कहा है—

बाल दसा-सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नंद बुलावति ।
अँचरा तर लै ढाँकि, सूर के प्रभु कौं दूध पियावति ॥

मेरे श्याम सलोने·····पाया ! (पृष्ठ २२)

संकेत—इन पंक्तियों में माता यशोदा ने बालकृष्ण की रूप-माधुरी व बुद्धि-चातुर्य का हृदयग्राही चित्रण किया है ।

शब्दार्थ—दृग = नेत्र । अनी = बाण की नोंक ।

व्याख्या—यशोदा कह रही है कि मेरे पुत्र श्याम की सुन्दर बोली अमृत से भी अधिक मधुर है और उसके मुख पर जो टेढ़ा अलकें बिखरी हुई है वह अत्यन्त सुहावनी जान पड़ती हैं तथा उनसे कृष्ण के रूप में भोलापन बढ़ जाता है । यशोदा का कहना है कि कृष्ण के नेत्र हिरण की भाँति सुन्दर हैं पर उनकी तीव्र दृष्टि तीक्ष्ण बाण की नोक से भी अधिक पैनी है । वह कहती हैं कि न केवल कृष्ण का सौन्दर्य बढ़ा-चढ़ा है अपितु वह सूक्ष्मदर्शी भी है और ऐसी कोई बात नहीं है जो उसकी तीव्र दृष्टि से बचती हो तथा वह तो अपनी सूक्ष्म बुद्धि से जटिल से जटिल समस्या का समाधान ढूँढ़ निकालता है । ऐसा जान पड़ता है कि कृष्ण अपने पूर्व जन्मों का भी विद्याबल साथ ही लाया है अर्थात् वह जन्म से ही अपने साथ जन्म-जन्म का विद्या बल लाया है और इसीलिए मैं यह चाहती हूँ कि जो सुख मुझे प्राप्त है वह सबको प्राप्त हो ।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद्यांश में बालकृष्ण की रूप-सुषमा व बुद्धि चातुर्य की मनोरम झाँकी अंकित की गयी है और कवि ने बालकृष्ण के दैवी गुणों का परिचय दे वात्सल्य रस की सफल अभिव्यक्ति की है ।

अलंकार—पुनरुक्तिप्रकाश, अधिक और उपमा ।

उसका लोकोत्तर..... मैंने पाया । (पृष्ठ २३)

संकेत—इन पंक्तियों में यशोदा कृष्ण के साहसपूर्ण कार्यों का उल्लेख करती है ।

शब्दार्थ—लोकोत्तर = साहस = सामान्य व्यक्तियों में न पाया जाने वाला साहस । उपराग = आपत्ति, कष्ट ।

व्याख्या—यशोदा कह रही हैं कि कृष्ण के साहसपूर्ण कार्यों को देखकर और सुनकर यह घबराहट सी होती है कि कहीं स्वयं उसे भी परेशानी न उठानी पड़े पर साथ ही यह देखकर कि उसके अद्भुत कार्यों से संसार में उसकी कीर्ति फैल रही है मुझे नित्य नवीन आनन्द की अनुभूति होती है । यशोदा का कहना है कि कृष्ण का हृदय लोक-सेवा की भावना से पूर्ण है और वह अपने व्रजवासियों पर विपत्ति देखकर सदैव आगे बढ़ता है तथा कभी तो नाग से उलझता है और कभी आग से व्रज की रक्षा करता है तथा सर्वत्र उसे विजय ही प्राप्त होती है । यशोदा कहती है कि चारों ओर यही ध्वनि सुनाई पड़ती है कि हे कन्हैया ! तेरी माता धन्य है और इस प्रकार जो सुख मुझे प्राप्त हुआ है वह भगवान सबको प्रदान करे ।

अन्य विशेषताएँ इन पंक्तियों में कालिय नाग और दावानल की कथाओं की ओर संकेत किया गया है । कहा जाता है कि यमुना में भयंकर विषधारी कालिय नाग निवास करता था और उसके रहने से यमुना का जल विषपूर्ण हो रहा था अतः व्रजवासियों का बड़ा कष्ट था । कृष्ण एक दिन गेंद खेलते समय गेंद ढूँढ़ने के बहाने उस कालीदह में कूद पड़े और उन्होंने कालिय नाग को नाथ कर उसे वहाँ से जाने के लिए विवश कर दिया । इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि जब व्रज के वनों में एक बार घोर आग लग गयी थी और सभी ग्वाल-बाल तथा गायें आग में घिर गयी थीं तब कृष्ण ने उस आग का पान कर उन लोगों की रक्षा की । प्रस्तुत पद्यांश में कृष्ण के समाज-सेवी और लोकसेवी स्वरूप को स्पष्ट कर कवि ने उनके देवत्व की ओर भी संकेत किया

है। साथ ही वात्सल्य व वीर रस की सफल अभिव्यक्ति के साथ-साथ मुहाविरों का काव्यात्मक प्रयोग भी है।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्ति प्रकाश।

कालीदह.....मैने पाया। (पृष्ठ २४)

सकेत— प्रस्तुत पंक्तियों में कृष्ण की बाल-क्रीड़ाओं का चित्रण है।

शब्दार्थ—भिड़ = बर्रे। मठोला = मटकी।

व्याख्या—यशोदा कह रही हैं कि जब मैने कृष्ण को डाँट कर पूँछा कि तू कालीदह में क्यों कूदा था तो हँसते हुए कहा कि तू कहा करती था कि यदि अब फिर कभी माखन चुराया तो व्रजबालाएँ छाकें पर मटकी मे बर्रे रख छोड़ेंगी और इसीलिए मैं जब वहाँ गया तो बर्रे पहले ही निकल पड़ी तथा मैं किसी तरह भाग कर जान बचा सका। यशोदा कहती है कि मेरे छलिया पुत्र कृष्ण ने उलटा मुझ पर दोष लगा दिया और उसकी नन्ही नटखट बातों पर मैं मुग्ध हूँ तथा बार-बार उस पर बलि-बलि जाती हूँ और मेरी यही प्रार्थना है कि भगवान ने जो सुख मुझे दिया है वह सबको प्राप्त हो।

अन्य विशेषताएँ—इन पंक्तियों में कृष्ण की वाग्विदग्धता दर्शनीय है और इनमें वात्सल्य रस की सफल अभिव्यक्ति हुई है।

अलंकार—अनुप्रास।

उसे व्यापती है.....मने पाया! (पृष्ठ २५)

संकेत—इन पंक्तियों में यशोदा राधा के प्रति कृष्ण के अनन्य प्रेम का उल्लेख कर रही हैं।

शब्दार्थ—व्यापती = अनुभव होना। मुँहभारी = मूठना।

व्याख्या—यशोदा का कहना है कि कृष्ण अन्य किसी बात से भयभीत नहीं होते और उन्हें तो बस केवल इसी बात से भय होता है कि यदि उनसे यह कह दिया जाय कि राधा अब तेरे साथ नहीं खेलेंगी। यशोदा कहती हैं कि यह सुनकर कि राधा साथ न खेलेंगी वह अपनी अभी नाच-कूद भूल जाता है और राधा को तनिक भी रूठा हुआ देख वह आधा रह जाता है। यशोदा का कहना है कि कृष्ण की मुरली क्या गाती है इसका अर्थ राधा ही बता पाती है और

मेरी तो बस यही कामना है कि जो सुख मुझे प्राप्त हुआ है वह सबको प्राप्त हो।

अन्य विशेषताएँ—इन पंक्तियों में राधा-कृष्ण की अनन्य प्रेम-भावना का चित्रण है और कवि ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि कृष्ण राधा को कितना अधिक चाहते हैं। चूंकि राधा कृष्ण को आह्लादिनी शक्ति मानी गयी हैं, अतः उनके रूठने पर कृष्ण का आधा रह जाना स्वाभाविक ही है।

बना रहे·····पाया। (पृष्ठ २६)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में यशोदा यह स्पष्ट कर देती है कि कृष्ण से सम्बन्धित होने के कारण ही उन्हें ब्रजभूमि अधिक प्रिय है।

शब्दार्थ—डगर = गली।

व्याख्या—यशोदा का कहना है कि मेरा यह वृन्दावन ही मुझे प्रिय है और यह ऐसा ही बना रहे तथा इतना अधिक सौंदर्य तो अन्य किसी नगर में नहीं है। ब्रज-सुषमा का वर्णन करते हुए यशोदा कहती है कि इस ब्रजभूमि की प्रत्येक गली मेरे लिए स्वर्ग के समान है क्योंकि इन गलियों में चारों ओर कृष्ण की ही विभूति बिखरी हुई है। उनका कहना है कि ब्रज प्रदेश में यमुना की चमकती हुई लहर सौन्दर्य की वृद्धि कर रही है और सुन्दर धूप चाँदी की सी चाँदनी फैला देती है तथा रात्रि स्वर्ण बिखराती है अतः मैं तो परम पिता परमात्मा से यही प्रार्थना करती हूँ कि जो सुख मुझे प्राप्त हुआ है वह सबको प्राप्त हो।

अन्य विशेषताएँ—इन पंक्तियों में ब्रज-सुषमा व ब्रजप्रदेश की विभवता का वर्णन करने के साथ-साथ कवि ने जन्मभूमि के प्रति यशोदा के हृदयानुराग को व्यक्त किया है।

टिप्पणी—जगर-मगर व अगर-तगर जैसी तुकबन्दी के काव्य-सौन्दर्य को क्षति सी पहुंची है।

अलंकार—अनुप्रास।

अहा! बास·····पाया। (पृष्ठ २७)

संकेत—इन पंक्तियों में यशोदा ने अपनी समृद्ध गृहस्थी का वर्णन किया है।

शब्दार्थ—सुवास = सुगंधि । गोट = गौशाला । तरी = नाव । पटतर = समान ।

व्याख्या—यशोदा का कहना है कि यह समस्त व्रजप्रदेश हरा-भरा प्रतीत होता है और यहाँ की घास भी सुगंधपूर्ण है, भरी-पुरी गौशालाएँ हैं तथा गायें दूध से युक्त हैं । यशोदा कह रही है कि मेरी सम्पूर्ण गृहस्थी दूध दही से पूर्ण है और मुझे जीवन के सभी सुख प्राप्त हैं तथा मैं तो अपने पुत्र कृष्ण की माता होते हुए भी उनकी दासी कहलाना ही पसंद करती हूँ । यशोदा का कहना है कि इस संसार में ऐसी कोई भी स्त्री नहीं है जिसे मेरे समान सुख प्राप्त हो अर्थात् कृष्ण की माता होने का जो गौरव मुझे प्राप्त है वह अन्य किसी भी स्त्री को प्राप्त नहीं है पर कृष्ण की माता होते हुए भी मैं अपने आपको अभिमानिनी नहीं समझती और सच तो यह है कि कृष्ण की माता होने में मुझे कृतज्ञता की ही अनुभूति होती है तथा मैं तो भगवान से यही प्रार्थना करती हूँ कि जो सुख मुझे प्राप्त हुआ है वह सबको प्राप्त हो ।

टिप्पणी—कुछ टीकाकारों ने पाँचवीं पंक्ति का यह अर्थ भी किया है कि यशोदा के कहने का अर्थ यह है कि उनकी गृहस्थी क्षीरसागर के समान आनन्द-दायी है परन्तु यह अर्थ गलत है और क्षीरोदधि का अर्थ दूध-दही मानना ही स्वाभाविक है ।

अलंकार—अनुप्रास, वीप्सा ।

बाहर मे.....पाया । (पृष्ठ २८)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में यशोदा ने अपनी परिपूर्णता की ओर संकेत करते हुए इसका श्रेय कृष्ण को दिया है ।

शब्दार्थ—जन-मान्य = जन-साधारण के मध्य आदरणीय । मराल = हंस । अंबुज = कमल । शुक्ति = सीपी ।

व्याख्या—यशोदा का कहना है कि कृष्ण के ही कारण अर्थात् कृष्ण की माता होने के फलस्वरूप सारे समाज में मेरा सम्मान है और मेरा घर भी धन-धान्य से पूर्ण है तथा इस नवीन वैभव के प्राप्त होने के फलस्वरूप मैं हमेशा दान करने के लिए प्रस्तुत रहती हूँ । यशोदा कह रही हैं कि मेरा हृदयरूपी मानसरोवर

हिलोरें ले रहा है और कृष्णरूपी कमल ही मेरे हृदयरूपी सागर में हंस की भांति विद्यमान है और कृष्ण का पुत्र रूप में पाकर मैं मुक्तिरूपी सीपी में मनमाना भोग भोग रही हूँ। यशोदा के कहने का अर्थ यह है कि कृष्ण को अपने पुत्र-रूप में पाकर अब भवसागर से मुक्त होने का इच्छा मेरे लिए व्यर्थ है क्योंकि जिस प्रकार स्वाती के नक्षत्र के जल से सीपी में स्वयं ही मोतियों की सृष्टि होती है उसी प्रकार भगवत्प्रेम से भक्त को मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है और इस मुक्ति के लिए सन्यासी संसार को त्यागकर तपसाधना करते हैं परन्तु मुझे तो इस संसार में रहते हुए मुक्ति प्राप्त हो गई है। यशोदा पुनः यही कहती है जो सुख भगवान ने मुझे दिया है वह सबको प्राप्त हो।

अन्य विशेषताएँ—इन पंक्तियों में एक ओर तो यशोदा द्वारा यह कहलाकर कि मैं हमेशा ब्रज में ही निवास करूँ, कवि ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि सम्पूर्ण गृहस्थ का यह धर्म है कि वह वैराग्य धारण करने के दौरान अवश्य ही अपने और दूसरों के कर्म, ज्ञान, योग व भक्ति में से प्रभु प्राप्ति के लिए भक्ति को ही श्रेष्ठ मानकर चलना है क्योंकि इसी से प्रभु प्राप्ति सहज संभव है।

अलंकार—रूपक।

तुलनात्मक दृष्टि—'नारदभक्तिसूत्र' में स्पष्टतया कर्म, ज्ञान व योग से भक्ति को श्रेष्ठ मानते हुए कहा गया है—

सातु, कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥ २५ ॥ फलरूपत्वात् ॥२६॥

इतना ही नहीं वेदों में भी भक्ति की महत्ता स्वीकार की गई है और ऋग्वेद में तो कहा ही गया है—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥

विधृता (पृष्ठ २६-४२)

पृष्ठभूमि—जैसा कि डॉ० उमाकांत ने अपने शोध-प्रबंध 'मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता' में कहा है "द्वापर का यह प्रसंग वास्तव में कवि का अपनी उद्भावना है। संकेत तो उसे श्रीमद्भागवत से ही मिला है—किन्तु इस रूप में उसका विस्तार कवि ने स्वयं किया है। कृष्ण सखाओं को

भोजन देने जाती हुई अपनी कृष्ण-अनुरक्ता पत्नी को एक याज्ञिक ब्राह्मण बल-पूर्वक रोकता है। वह कृष्ण को 'छैल छोकड़ा' तथा अपनी पत्नी के सात्विक अनुराग को पाप-वासना मान कर अनेक दुर्वचन कहता है। कृष्ण की अनन्य भक्तिन वह विधृता उसी समय भौतिक शरीर छोड़ अपने आराध्य से जा मिलती है। पर मरने से पहले कुछ मर्म वचन कहती है। इस प्रसंग में इन वचनों का ही विशेष महत्त्व है।"

वस्तुतः 'विधृता' नाम स्वयं गुप्तजी का दिया हुआ है और उन्होंने इस संबंध में अपनी काव्यकृति 'द्वापर' के निवेदन में लिखा भी है "श्रीमद्भागवत के दशम् स्कंध के तेईसवें अध्याय मे एक कथा है। श्रीकृष्ण अपनी मंडली के साथ वन में दूर निकल गये थे। वहाँ उनके बंधुओं को भूख लगी। निकट ही एक स्थान पर यज्ञ हो रहा था। उन्होंने भोजन की प्राप्ति के लिए, उन्हें वही भेजा। परन्तु याज्ञिक ब्राह्मणों ने उन्हें दुत्कार दिया। भगवान ने फिर उन्हें यज्ञशाला में भेजा। परन्तु इस बार पुरुषों के नहीं, स्त्रियों के निकट। वहाँ उनकी अभिलाषा पूरी हो गई। स्त्रियो ने विविध व्यंजन लाकर भगवान को भी भोग अर्पण किया। इसी कथा के अंतर्गत एक कथा और है। एक ही श्लोक में वह कह दी गई है। एक ब्राह्मण ने बलपूर्वक अपनी वनिता को रोक लिया। नैवेद्य समर्पण तो दूर वह भगवान के दर्शन भी न पा सकी। इस दुःख से उसने शरीर छोड़ दिया। शुकदेव जी ने लिखा है—

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्त यथा श्रुतम्।
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्॥

इस सम्बन्ध में इतना ही है। खेद है इस 'विधृता' का नाम नहीं मिला। अतएव, इसके सम्बन्ध को रचना का यही शीर्षक देना पड़ा।" इस प्रकार इस खण्ड में कवि ने इसी विधृता के मर्मस्पर्शी आत्मोद्गार व्यक्त किए हैं।

राम.....गया है। (पृष्ठ २६)

संकेत—उस पद्यांश में विधृता ने कृष्ण के समीप जाने से रोकने पर अपने क्षोभपूर्ण उद्गार व्यक्त किए हैं।

शब्दार्थ— गैल = रास्ता, पथ।

व्याख्या—विधृता अपने पति को सम्बोधित कर कहती है कि तुम मुझे कृष्ण के पास जाने से रोककर मुझ पर घोर अत्याचार कर रहे हो और तुम्हारा यह कार्य निस्संदेह निंदनीय है क्योंकि एक ओर तो तुम मुझे अबला कहते हो और दूसरी ओर बलपूर्वक मुझे रोकते हो। विधृता के कहने का अभिप्राय यह है कि जो स्वयं अबला है अर्थात् बलहीन है उसके साथ शक्तिप्रयोग अनुचित ही है और उसका पति जो उसे बलपूर्वक रोक रहा है वह उसके प्रति शोभनीय नहीं है।

विधृता पुनः कहती है कि हिंसक कार्यों को करते-करते जहाँ कि एक ओर तुम्हारे हृदय में दया की भावना नहीं रही वहाँ दूसरी ओर शायद तुमने लज्जा भी त्याग दी है क्योंकि मुझ अबला पर बल-प्रयोग करते समय तुम्हें लज्जा भी नहीं आई। वह पुनः कहती है कि तुम भले ही बलपूर्वक मेरे शरीर को यहाँ रोक लो लेकिन मेरे मन पर तो तुम्हारा कोई भी वश नहीं है और मेरा मन तो जिस ओर उसे जाना था उसी ओर चला गया है अर्थात् मेरा मन कृष्ण के पास पहुँच चुका है।

अन्य विशेषताएँ—इन पंक्तियों में विधृता के कृष्णानुराग को दृढ़ता व नारी के प्रति पुरुष समाज की संकीर्ण मनोवृत्ति और अत्याचारपूर्ण व्यवहार की झाँकी दृष्टिगोचर होती है तथा सरलतम शब्दावली में उत्कृष्ट भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से यह पद्यांश उल्लेखनीय है।

टिप्पणी—यद्यपि 'गैल' स्थानीय शब्द है और उसे बुंदेलखंडी शब्द कहा जाता है पर ब्रजभाषा में भी उसका प्रयोग होता रहा है और रसखान, बिहारी व देव आदि ने उसका प्रयोग किया भी है अतः यहाँ भी गैल का प्रयोग अनुचित नहीं कहा जा सकता।

अलंकार—वीप्सा।

लोहित नेत्र·····पायो। (पृष्ठ ३०)

संकेत—इन पंक्तियों में विधृता ने अपने पति की क्रूर मनोवृत्ति का उल्लेख किया है।

शब्दार्थ—लोहित नेत्र=कोध, के कारण तप्त लोहे की भाँति नेत्र। खर=तीक्ष्ण, तेज। वीभत्स=घृणायुक्त। अशुचि=अपवित्र।

व्याख्या—विधृता अपने पति को सम्बोधित कर कहती है कि तुम्हारी पशु-प्रवृत्ति जाग्रत हो उठी है अर्थात् मनुष्यता के स्थान पर तुम्हारा पशुत्व जाग उठा है और यही कारण है कि तुम मुझे कृष्ण के पास जाने की इच्छा प्रकट करने के कारण कलंकित समझते हो। विधृता का कहना है कि हे भगवान! मेरे पति में न जाने कौन सा नया प्राणी प्रविष्ट हो उठा है कि उसके नेत्र क्रोधावेश के कारण तपते हुए लोहे के समान लाल हो रहे हैं, नथुने फड़क रहे हैं और मुखाकृति अत्यन्त विकृत हो गई है तथा वाणी भी तीक्ष्ण जान पड़ती है। विधृता के कहने का अभिप्राय यह है कि उसका पति अब स्वाभाविक मानव प्राणी नहीं जान पड़ता अपितु मनुष्यता के स्थान पर पशुता जाग्रत हो जाने से वह आज एक क्रूर प्राणी प्रतीत होता है और इसीलिए वह केवल रौद्रता की प्रतिमा ही नहीं अपितु घृणास्पद व अपवित्र भी है। विधृता अपने पति को सम्बोधित कर कहती है कि तुम जाकर स्नान करो जिससे कि तुम्हारा शरीर पवित्र हो और तुम्हें शान्ति प्राप्त हो तथा मैं भी अब कृष्ण के पास जाने योग्य नहीं रही क्योंकि मेरा शरीर तुम्हारे संसर्ग से अपवित्र हो चुका है।

अलंकार—कहा जाता है कि कुशल कलाकार पदार्थ का अनुभूति करने के उपरान्त सुन्दर अंशों का चयन कर उनको इस प्रकार योजना करता है कि एक नूतन व पूर्ण चित्र-सा अंकित हो जाता है और इस प्रकार कविता में चित्रण कला का विशेष महत्त्व है। चित्रणकला की ही यही कुशलता इन पंक्तियों में भी दृष्टिगोचर होती है।

अलंकार- अनुप्रास।

पर सुनले.....खड़ी हूँ! (पृष्ठ ३०)

संकेत—इन पंक्तियों में विधृता शरीर त्याग के लिए दृढ़ संकल्प जान पड़ती है।

शब्दार्थ—सम्भवतः = शायद।

व्याख्या—विधृता अपने पति से कह रही है कि मैं इस अन्तिम समय में कुछ कहना चाहती हूँ और मेरी तुमसे यह प्रार्थना है कि तुम उसे सुन लो क्योंकि यदि तुमने मेरी इन बातों को नहीं सुना तो फिर कभी भी तुम्हें कुछ भी सुनने

का अवसर न प्राप्त होगा अर्थात् जब मैं ही जीवित न रहूँगी तो फिर तुमसे अपनी बात भला मैं कैसे कह पाऊँगी। वह पुनः कहती है कि मेरा मन तो पहले ही कृष्ण के पास पहुँच चुका है और इस प्रकार मेरी मृत्यु पहले ही हो चुकी है तथा अब मैं कुछ क्षणों के लिए जीवित हूँ और सच तो यह है कि तुमसे कुछ कहने के लिए ही मेरे प्राण शरीर में अटके हैं।

अलंकार—स्वाभावोक्ति।

टिप्पणी—इन पंक्तियों में विधृता के अंतर्द्वन्द्व का मर्मस्पर्शी चित्रण है।

हम तुम.....स्वाहा ! (पृष्ठ ३१)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में विधृता अपने क्षोभपूर्ण उद्गार प्रकट करते हुए पति-पत्नी के समानाधिकार की ओर संकेत करती है।

शब्दार्थ—अध्वर = यज्ञ।

व्याख्या—विधृता का कहना है कि पत्नी अर्द्धांगिनी कही जाती है और इस प्रकार पति के आधे शरीर पर उसका अधिकार होता है लेकिन उसके पति ने जो उसे कृष्ण के समीप जाने से रोका है वह वास्तव में अन्याय ही है और इस प्रकार उसने इस यज्ञ को भंग कर दिया है जो कि वह दोनों मिलकर कर रहे थे। चूँकि हमारे यहाँ धर्मशास्त्रों में यह माना गया है कि पति-पत्नी दोनों मिलकर जब कोई यज्ञ करते हैं तभी उस यज्ञ का फल प्राप्त होता है अतः विधृता इसी ओर संकेत कर अपने पति से कहती है कि उसने उसे बलात् रोककर न केवल उसका पतित्व अर्थात् पत्नी के अधिकार को क्षण भर में नष्ट कर दिया अपितु यह यज्ञ भी भंग हो गया क्योंकि इसमें स्वयं उसकी—विधृता की—इच्छाओं की पूर्ति नहीं हुई।

विधृता का कहना है कि कृष्ण ने अपने सखाओं द्वारा भोजन हो मँगवाना था और यज्ञ के अवसर पर याचक को दान देना धर्मशास्त्रों में भी माना गया है परन्तु उसके पति ने उसे जो कृष्ण के समीप जाने से रोक दिया वह न केवल उसके पत्नीत्व के अधिकारों का हनन है अपितु यज्ञ भंग भी है। उसका कहना है कि क्या मैं पत्नी न होकर दासी मात्र थी जो एक मुट्ठी भर अन्न देने का अधिकार भी नहीं रखती थी और इस प्रकार अब तो न केवल मेरा सर्वस्व ही

नष्ट हो गया अर्थात् पत्नीत्व की मर्यादा भंग हो गई अपितु यह यज्ञ भी भंग हो गया है।

अन्य विशेषताएँ—इन पंक्तियों में विधृता के अन्तर्द्वन्द्व का सजीव चित्रण करते हुए कवि ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि पुरुष पत्नीत्व के सम्बन्ध को कितना क्षणभंगुर समझता है और वह अपनी जिस पत्नी को वेदविधि व पवित्र मंत्रों और देवताओं को साक्षी बनाकर स्वीकार करता है उसे एक दासी मात्र मानता है तथा उसकी इच्छाओं का तनिक भी मूल्य नहीं समझता। इस पद्यांश में हमारी प्राचीन संस्कृति की ओर भी संकेत किया गया है कि यज्ञ के अवसर पर दान देना आवश्यक है और याचकों को वापिस लौटा देना पाप है।

अलंकार—अनुप्रास, वीप्सा।

वह गुण·····नारी। (पृष्ठ ३१)

संकेत—इन पंक्तियों में विधृता ने मनुष्य की कामुकता व चाटुकारिता की ओर संकेत किया है।

शब्दार्थ—चाटुकारिता = चापलूसी। गिरा = वाणी।

व्याख्या—विधृता अपने पति से कह रही है कि विवाह के जिस पवित्र बंधन में हम दोनों जकड़े हुए थे उसे तुमने स्वयं आज तोड़ दिया है अर्थात् विवाह की पवित्र वेदी पर पुरुष नारी को पूर्णतः सहयोग देने की प्रतिज्ञा करता है लेकिन आज उसने—उसके पति ने—उसे दान देने से वंचित कर उसके अधिकारों का हनन किया है अतः विधृता अपने पति से पूँछती है कि क्या पुरुष नारी का हाथ झकझोरने के लिए ही पकड़ता है? यहाँ झकझोरने से अभिप्राय जबर्दस्ती से है और इसीलिए वह यह भी कहती है कि विवाह-मंडप में जो प्रतिज्ञाएँ पुरुष द्वारा की जाती हैं उनमें कामुकता य चाटुकारिता ही होती है या कर्त्तव्यपरायणता की भी कुछ गंध रहती है?

विधृता अपने पति से पूँछ रही है कि आखिर नारी पुरुष से किस बात में कम है जो उसे यह अपमान सहना पड़ता है और सच तो यह है कि नारी पुरुष से भी अधिक महान् है। अपने कथन को स्पष्ट करते हुए वह कहती है कि नारी शब्द ही में नर शब्द की अपेक्षा दो मात्राएँ अधिक हे अतः शाब्दिक दृष्टि से भी

वह नर से महान् है और गुणों की भी दृष्टि से उसका महत्व नर से कुछ कम नहीं है क्योंकि नर स्वयं नारी से ही उत्पन्न होता है।

अन्य विशेषताएँ—इन पंक्तियों में कवि ने वैदिक विवाह-पद्धति की ओर संकेत करते हुए कहा है कि पत्नी का पति के समकक्ष स्थान है पर पुरुष समाज हमेशा नारी पर अत्याचार करता है और कामुकता व चाटुकारिता ही पुरुषों में अधिक पायी जाती है। नारी की महत्ता सिद्ध करने वाली इन पंक्तियों में कवि ने नारी-हृदय का वास्तविक द्वन्द्व अंकित किया है।

अलंकार—अनुप्रास और यमक।

तुलनात्मक दृष्टि—इब्सन की एक नाट्य कृति में एक नारी पात्र ने भी इसी प्रकार कहा है—"तुमने मुझसे कभी प्यार नहीं किया। तुम मेरे प्रेम में रहकर केवल अपनी तबियत बहलाते रहे।"

अहा·····नारी ! (पृष्ठ ३२)

संकेत—वेद-वाक्य का आधार ले विधुता ने यहाँ पुरुष समाज का अधिकार-लिप्सा पर व्यंग्य किया है।

शब्दार्थ—यत्र नार्यस्तु··· = जहाँ नारी का सम्मान होता है वहाँ देवता रहते हैं।

व्याख्या—विधुता अपने पति से कहती है कि तुमने अपने कृत्यों से प्राचीन धर्मग्रंथों का भी अपमान किया है क्योंकि धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि जहाँ नारी का सम्मान होता है वहाँ देवता रहते हैं लेकिन तुमने मुझ पर संदेह कर इस कथन की प्रामाणिकता पर भी संदेह किया है। विधुता व्यंग्य करते हुए कहती है कि यदि तुम धर्मशास्त्रों के इस कथन की सार्थकता स्वीकार करते तो निस्संदेह तुम्हारे यज्ञ में भाग लेने देवता भी आते परन्तु तुम्हारी कथनी व करनी में बहुत बड़ा अंतर है और तुम पत्नी को दासी मात्र समझते हो। वह अपनी शोचनीय दशा पर क्षोभ करते हुए कहती है कि नारी को अबला समझकर पुरुष उसका अपमान करता है और उसे अविश्वास की प्रतिमा समझता है तथा अब कुछ ऐसी दशा हो गई है कि यदि नारी पुरुष के अत्याचारों का विरोध करने में समर्थ नहीं होती तो उसे अपना जीवन समाप्त कर देना पड़ता है।

अन्य विशेषताएँ—प्रस्तुत पद्यांश में कवि ने प्राचीन धर्मग्रंथों को साक्षी मानते हुए नारी की महानता स्वीकार की है और पुरुष के अत्याचारपूर्ण व्यवहार का उल्लेख किया है।

अलंकार—वीप्सा, अनुप्रास।

तुलनात्मक दृष्टि—भारतीय संस्कृति के निष्णात आख्याता श्री मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी प्रारंभिक कृतियों में ही नारी को पुरुष के कार्यों में समभाग लेने वाली अर्द्धांङ्गिनी मानते हुए कहा है—

निज स्वामियों के कार्य में समभाग जो लेतीं न वे,
अनुरागपूर्वक योग जो उसमें सदा देतीं न वे,
तो फिर कहातीं किस तरह अर्द्धांङ्गिनी सुकुमारियाँ,
तात्पर्य यह अनुरूप ही थीं नरवरों के नारियाँ॥

—भारत-भारती : मैथिलीशरण गुप्त

जहाँ दीयता·····पालक है! (पृष्ठ ३२)

संकेत—इन पंक्तियों में विधृता ने अपने हृदय की उस व्यथा का चित्रण किया है जो उसके यहाँ से याचक के खाली हाथ लौटने पर उसे हुई।

शब्दार्थ—दीयतां = देना। भुज्यतां = भोग करना।

व्याख्या—विधृता का कहना है कि हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति में भोग को गौण और दान को प्रमुख माना गया है अर्थात् हमारे यहाँ दान देना ही प्राणिमात्र का धर्म रहा है तथा दान देने के उपरान्त ही भोग करना आवश्यक कहा गया है। उसका कहना है कि हमारे यहाँ दान लेने देवता तक आते रहे हैं और वह स्वयं अतिथि बनकर आते थे परन्तु अब मनुष्य तो केवल अपने स्वार्थ को ही पूरा समझता है और इस इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं है कि याचक उसके द्वार से खाली हाथ लौट गये हैं। वह कहती है कि पुरुष के इसी अनाचार का परिणाम है कि आज यज्ञ-भूमि में अतिथि रूप में आए हुए बालक भी भूखे लौट गये और उन्हें मुट्ठी भर अन्न भी नहीं दिया गया जब कि अतिथि-सत्कार का महत्व वेदों में भी स्वीकार किया गया है तथा हमारे द्वार पर अतिथि

रूप में आने वाले बालक हमारी प्राचीन पवित्र परम्परा के पोषक व आश्रयदाता ही हैं।

टिप्पणी—इन पंक्तियों में प्राचीन भारतीय संस्कृति के आदर्शों को स्पष्ट किया गया है और दान देना ही मनुष्य का धर्म माना गया है।

अलंकार—अनुप्रास।

धर्म · ·····यह तो ? (पृष्ठ ३३)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में विधृता ने पति से कहा है कि याचक को खाली हाथ लौटाना धर्म-विरुद्ध है।

शब्दार्थ—साध रहे हो = साधना कर रहे हो।

व्याख्या—विधृता पति से कहती है कि हमारे प्राचीन धर्मग्रंथों में दान देना सबसे बड़ा धर्म कहा गया है और इस प्रकार आज धर्म याचक के रूप में स्वयं तुम्हारे द्वार पर आया था लेकिन तुमने उसे खाली हाथ लौटा कर उसकी उपेक्षा की है अतः अब तुम इस यज्ञ के द्वारा कौन सी साधना कर रहे हो ? विधृता के कहने का अर्थ यह है कि भूखों को भोजन देना सबसे बड़ा यज्ञ धर्म है और याचक तो स्वयं द्वार पर आये थे परन्तु उसके पति ने उसे भोजन न दे धर्म-विरुद्ध ही कार्य किया है अतः इस यज्ञ द्वारा वह और कौन सी साधना कर रहा है क्योंकि उसने तो पहले ही धर्म-विरुद्ध आचरण किया है। वह अपने पति से पूछती है कि तुम मुझे यह बतलाओ कि याचकों को भोजन देने के निमित्त कृष्ण के पास जाते समय मैं कौन-सा भयंकर पाप कर रही थी जो तुमने मुझे रोक दिया ?

टिप्पणी—इन पंक्तियों में दान का महत्व स्पष्ट किया गया है।

अलंकार—अनुप्रास।

अधिकारों·····बैठे हो ! (पृष्ठ ३३)

संकेत—यहाँ विधृता ने नारी के अधिकारों का प्रश्न उठाया है।

शब्दार्थ—स्वत्व = अधिकार।

व्याख्या—विधृता कहती है कि इस सृष्टि में प्रत्येक को अपने अधिकारों के भोगने का अधिकार है और पुरुष की भाँति नारी के भी कुछ अधिकार हैं तथा दोनों ही अपने-अपने अधिकारों को भोग सकते हैं पर उनका दुरुपयोग नहीं

कर सकते। उसका कहना है कि अर्द्धाङ्गिनी होने के नाते उसके भी कुछ अधिकार हैं और इस प्रकार वह भूखे याचकों को भोजन देने तथा कृष्ण के दर्शन के लिए जाने का अधिकार रखती थी परन्तु पति ने उसे बलात् रोक कर अपने अधिकारों का दुरुपयोग किया है। वह कह रही है कि मैं तो धार्मिक कार्य समझ पुण्य प्राप्ति की लालसा से ही कृष्ण के पास जा रही थी परन्तु तुमने मेरे इस पुण्य-कार्य को भी शंकित दृष्टि से देख जो कार्य वरदान के समान था उसे पाप समझा।

अलंकार—अनुप्रास।

तुलनात्मक दृष्टि—गुप्त जी पुरुष और नारी में अधिकारी-अधिकृत का सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते तथा दोनों के तुल्याधिकारों को मान्यता प्रदान करते हैं और उन्होंने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए कहा भी है—

आधे का अधिकार उचित हो उन्हें मिला है,

.....

छोटों की माँ, और बड़ों की वे बेटी हैं,
समवयस्कों की बहन, कहाँ किसकी चेटी हैं।

—राजा-प्रजा : मैथिलीशरण गुप्त

जिनमें पशुवध.....हो। (पृष्ठ ३४)

संकेत—इन पंक्तियों में कवि ने विधृता के माध्यम से पशु-वध का विरोध किया है।

शब्दार्थ—मख = यज्ञ। लोलुपता = लालच।

व्याख्या—विधृता अपने पति से कह रही है कि जिन यज्ञों में पशुबलि देते-देते तुम्हारा हृदय शुष्क हो गया है और तुममें दया व कोमलता की भावना नहीं रही उन्हीं यज्ञों का भगवान करे इन्हीं बालकों द्वारा नाश हो अर्थात् इन हिंसापूर्ण यज्ञों का होना बंद हो जाय जो मनुष्य की कोमलता को नष्ट कर उसे क्रूर बना देता है। उसका कहना है कि इन यज्ञों में स्वर्ग-प्राप्ति ही ध्येय रहता है परन्तु वह लालच सर्वथा निंदनीय है जिसमें कि हम अपने स्वार्थ के लिए क्रूरतापूर्वक निरीह पशुओं का वध करते हैं तथा उचित तो यह है कि हमारे

कर्म में क्षमता व धर्म में ममता हो अर्थात् हमारा कर्म न्याय-युक्त धर्म के आधार पर होना चाहिए।

टिप्पणी—कवि ने यहाँ हिंसापूर्ण यज्ञों का विरोध कर क्षमतामय कर्म व सुसमतामय धर्म का महत्व स्पष्ट किया है।

अलंकार—अनुप्रास।

किंवा कटता·····न तारें। (पृष्ठ ३४)

संकेत—यहाँ अपने क्षोभपूर्ण उद्गारों को व्यक्त करते हुए विधृता ने कृष्ण के प्रति अपनी अनन्यता प्रकट की है।

शब्दार्थ—सांग = समस्त अंगों से युक्त, सम्पूर्ण। सुरांगनाएँ = देवबालाएँ। उपेन्द्र = विष्णु।

व्याख्या—विधृता अपने पति से कह रही है कि संभवतः तब तक पापी का पाप अधूरा ही रहता है जब तक कि वह पापी स्वयं नष्ट नहीं हो जाता और इस प्रकार पाप की भी एक सीमा होती है तथा क्रमशः पाप बढ़ते-बढ़ते नष्ट अवश्य होता है अतः इसी प्रकार इन कर्मकांडपूर्ण यज्ञों का भी विध्वंस अवश्य होगा क्योंकि इनमें निरीह पशुओं की बलि दी जाती है। वह अपने पति से कहती है कि भले ही तुम्हारा यह दूषित यज्ञ सम्पूर्ण हो पर यह भी सत्य है कि उसका नाश अवश्य होगा और चाहे तुम्हारे इस यज्ञ से प्रसन्न हो सुरबालाएँ आकर नृत्य व गायन करें तथा इन्द्र भी आयें लेकिन मैं तो भगवान विष्णु अर्थात् कृष्ण को ही अपना आश्रय समझती हूँ और वह चाहे मेरा उद्धार करें या न करें पर मैं उन्हीं के सहारे हूँ।

टिप्पणी—कर्मकांडी हिंसात्मक यज्ञों का विरोध करते हुए कृष्ण के प्रति अनन्यता प्रकट की गई है।

अलंकार—अनुप्रास।

व्रतियों·····लीला! (पृष्ठ ३५)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में विधृता ने मनुष्य के शंकालु स्वभाव की ओर संकेत किया है कि वह नारी के सत्कर्मों को भी शंकापूर्ण दृष्टि से देख उसे दुःशीला व छलना कहता है।

शब्दार्थ—श्रोत्रिय = वेदाध्ययन करने वाले। होत्री = यज्ञ करने वाले। दुःशीला--चरित्रहीन।

व्याख्या—विधृता अपने पति को सम्बोधित कर कहती है कि तुम पुरुष हो और वेदाध्ययन करने वाले यज्ञकर्त्ता हो अतः अपनी सुशीलता की आड में भोली-भाली कुल-ललनाओं के प्रति अश्लील विचार व्यक्त करते हो। विधृता के कहने का अभिप्राय यह है कि ग्वाल-बालों की याचना पर कृष्ण के पास भोजन लेकर जाना अनुचित न था परन्तु उसके वेदाध्यायी पति ने उस पर जो संदेह प्रकट किया है वह कदापि उचित नहीं है। वह कहती है कि पुरुष स्वभाव से ही इतना शंकालु होता है कि अपनी पत्नी के सत्कर्मों को भी संदेह-शील दृष्टि से देखता है और इसीलिए मैं भूखों को भोजन देने के लिए जाने की इच्छा प्रकट करने पर दुःशीला अर्थात् चरित्रहीन कही गयी और मनुष्यों का यह लीला धन्य हो है जो कि वह ललना को छलना समझता है अर्थात् नारी पर संदेह करता है।

अन्य विशेषतायें—कवि ने यहां नारी के प्रति सम्मान की भावना अभिव्यक्त करते हुए पुरुषों की संदेहशील मनोवृत्तियों का व्यंग्यात्मक चित्रण किया है और व्यंग्यात्मक शैली, सुगठित शब्द-योजना तथा ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से भी यह पद्यांश प्रशंसनीय है।

अलंकार—अनुप्रास।

हाय! वधू.....वह लाई? (पृष्ठ ३६)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में कवि ने विधृता के क्षोभपूर्ण उद्गार प्रकट करते हुए मानव-समाज की वासनात्मक प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है।

शब्दार्थ—बाँटे = हिस्से में, भाग में।

व्याख्या—विधृता कह रही है कि यह कितने दुःख की बात है कि नारी के वधू बनने पर उसे वर से भेंट रूप में वासनामात्र ही प्राप्त होती है अर्थात् पति अपने पत्नी को वासना-पूर्ति का साधन ही समझता है और वह उसे वासनात्मक दृष्टि से ही प्रेम करता है तथा कामुकता से ओत-प्रोत पुरुष नारी के नग्न रूप को ही निहारना चाहता है। इसका अर्थ यह है कि पुरुष ने स्त्री का भोग-विलास का साधन समझा है और उसे वासना की दृष्टि से ही देखा है पर विधृता का

कहना है कि यदि हम विचारपूर्वक देखें तो नारी के अन्य कई पवित्र रूप भी है और वह माँ, पुत्री व बहन भी है लेकिन कामुक पुरुष उसके इन रूपों को प्रधानता न देकर उसके नग्न सौन्दर्य को ही वासनापूर्ण दृष्टि से निहारना चाहता है।

अन्य विशेषताएँ—इन पंक्तियों में विधृता के अंतर्द्वन्द्व का वास्तविक चित्रण करते हुए कवि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि नारी केवल पत्नी ही नहीं अपितु माँ, पुत्री और बहिन भी होती है तथा हमें उसके इन रूपों पर भी ध्यान देना चाहिए।

अलंकार—अनुप्रास और वीप्सा।

श्याम सलोने·····तुमने। (पृष्ठ ३६)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में विधृता ने कृष्ण के प्रति अपनी अनुराग भावना की ओर संकेत किया है।

शब्दार्थ—मधुप = भ्रमर, भँवरा। वेदज्ञ = वेदों के ज्ञाता।

व्याख्या—विधृता अपने पति को सम्बोधित कर कहती है कि यदि यह मान लिया जाय कि वास्तव में मेरा मन श्याम के मधुर रूप पर ललचा गया था तो फिर यहाँ यह भी स्मरणीय है कि महत्व मन का ही होता है और हमारा शरीर चाहे कहीं भी रहे पर मन जिसका है उसका ही हो जाता है। विधृता के कहने का अभिप्राय यह है कि उसका शरीर भले ही कृष्ण के पास न पहुँच सका हो पर मन तो उन तक पहुँच ही चुका है और अपनी इस बात की पुष्टि करते हुए वह कहती है कि जिस प्रकार दूर से भी फूल की सुगंधि भँवर के पास आ जाती है उसी प्रकार मुझसे दूर होते हुए भी मेरा मन रूपी भ्रमर कृष्ण के प्रणय कुसुम के पराग का पान कर रहा है। वह कहती है कि मुझे तो बस आश्चर्य इस बात पर है कि वेदों के ज्ञाता होते हुए भी तुम इस रहस्य को न समझ सके।

अलंकार—अनुप्रास और रूपकातिशयोक्ति।

तुलनात्मक दृष्टि—इसी प्रकार एक कवि ने भी गोपियों से कहलाया है—

रंग दूसरो ओर चढ़ैगो नहीं अलि साँवरे रंग रंग्यो सो रंग्यो !

छैल छोकड़ा·····भय का ? (पृष्ठ ३६)

संकेत—इन पंक्तियों में विधृता ने कृष्ण का महत्व अंकित किया है।

शब्दार्थ--प्रेमवाद्य = प्रेम रूपी बाज । सशय = सदेह, शंका ।

व्याख्या—विधृता अपने पति से कह रही है कि जिस कृष्ण को तुम साधारण सा 'छैल छोकड़ा' कहते हो वह वास्तव में साक्षात् प्रेम-प्रतिमा है और अपने भक्तों के लिए सर्वदा प्रेमरूपी बाजी बजाता रहता है अर्थात् भक्तों के प्रति हमेशा अपना प्रेमपूर्ण व्यवहार रखता है और जो उसका भजन जिस प्रकार करता है वह उसे उसी प्रकार अपनाता है ।

विधृता अपने पति को सम्बोधित कर कहती है कि तुम जो कृष्ण को दोष दे रहे हो उसमें तुम्हारा कोई भी दोष नहीं है क्योंकि यह द्वापर युग ही ऐसा है और इस युग में संदेह की ही प्रधानता है तथा संशयशील मनुष्य स्वयं अपनी स्थिति ही भूल जाता है अतः जब उसे अपना ही ध्यान नहीं रहता तो फिर स्वाभाविक ही उसे हर बात पर शका होती है क्योंकि यदि उसे अपनी स्थिति का ध्यान रहता तो फिर संशय उसका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकते ।

टिप्पणी--कवि ने यहाँ द्वापर का अर्थ संशय मानकर यह स्पष्ट करना चाहा है कि द्वापर युग में मानव-मात्र की भावनाएँ संशययुक्त हो गयी थीं और इसीलिए सत्कर्म भी कभी-कभी शकापूर्ण दृष्टि से देखे जाते थे ।

अलंकार—रूपक और अनुप्रास ।

हुए·····मानव ! (पृष्ठ ३७)

संकेत—इन पंक्तियों में कृष्ण का गुण-कथन एक लोकसेवी मानव के रूप में किया गया है ।

शब्दार्थ—शुचि = पवित्र ।

व्याख्या—विधृता का कहना है कि कृष्ण साधारण व्यक्ति नहीं हैं अपितु उन्होंने वत्स व धेनुक आदि गो-घातक हत्यारे राक्षसों का वध कर समाज की पीड़ा को दूर कर दिया है और इस प्रकार कृष्ण राक्षसों का संहार करने वाले व समाज-कल्याण के लिए प्रयत्नशील एक महापुरुष हैं । विधृता अपने पति को सम्बोधित कर कहती है कि तुम यज्ञ मे पशु-बलि करते हुए भी अपने आपको पवित्र मानकर कृष्ण को उपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखते हो लेकिन तुम्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि कृष्ण ने जिन वत्सासुर व धेनुक आदि राक्षसों का वध किया है वह

साधारण राक्षस नहीं थे अपितु समाज के लिए घातक थे और सच तो यह है कि अब समाज के लिए कृष्ण जैसे लोकोपकारी मानव की आवश्यकता है जो लोक-हित के लिए किए जाने वाले यज्ञ में दानवों की बलि दे।

टिप्पणी—कवि ने प्रस्तुत पद्यांश में कृष्ण को लोकोपकारी समाज-सेवी के रूप में अंकित किया है और इस प्रकार परम्परागत कृष्ण-चरित्र-चरिण की अपेक्षा उसकी उक्ति में नवीनता है।

अलंकार—रूपक।

रहे लोक जताओ.....(पृष्ठ ३७)

संकेत—विधृता ने इन पंक्तियों में इस पृथ्वी को स्वर्ग मानते हुए आततायी व्यक्तियों का विनाश ही लोकनेता का लक्ष्य माना है।

शब्दार्थ—लोक की व्यथा = सांसारिक कष्ट। अवध्य = जिसका वध न हो सकता हो।

व्याख्या—विधृता अपने पति से कहती है कि तुम अपने आपको वेदज्ञानी समझ कर कर्मकांडी होने का दावा करते हुए वेदों के ही विवाद मे उलझे हुए तो अतः तुम्हें सांसारिक कष्टों की किंचित् मात्र भी चिंता नहीं है अर्थात् तुम यह जानना ही नहीं चाहते कि इस सृष्टि में कौन सुखी है और कौन दुखी।

विधृता का कहना है कि नरक समझी जानेवाली इसी धरती से होकर स्वर्ग का मार्ग गया है अर्थात् यदि मनुष्य इस पृथ्वी पर उत्तम कर्म करता है तभी वह स्वर्ग प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार इस पृथ्वी की व्यथा दूर करने पर ही मनुष्य को स्वर्ग प्राप्त हो सकेगा। वह कहती है कि सांसारिक हित व समाज-कल्याण की दृष्टि से प्रत्येक आततायी का वध होना चाहिए और कोई भी आततायी ऐसा नहीं है जिसका वध न किया जाय तथा शक्तिपूर्वक आततायियों का वध ही उचित है लेकिन तुम अपनी शक्ति का दुरुपयोग इन हिंसात्मक यज्ञों में करते हो।

टिप्पणी—गुप्त जी ने यहाँ पृथ्वी को ही स्वर्ग का मार्ग मानते हुए प्रत्येक व्यक्ति को लोकहित की प्रेरणा दी है।

अलंकार—अनुप्रास।

तुलनात्मक दृष्टि—गुप्त जी ने साकेत में भी इसी पृथ्वी पर स्वर्ग की कल्पना करते हुए राम से कहलाया है—

मैं नहीं यहाँ संदेश स्वर्ग का लाना।
इस भूतल ही को स्वर्ग बनाने आया॥

—साकेत : मैथिलीशरण गुप्त

हाँ, हाँ, गाली.....बलिहारी। (पृष्ठ ३८)

संकेत—यहाँ विधृता ने कृष्ण का महत्व बतलाते हुए उन्हें वैदिक ही माना है।

शब्दार्थ—निन्दक—निन्दा करने वाले।

व्याख्या—विधृता अपने पति को सम्बोधित कर कह रही है कि तुम कृष्ण के महत्व को न समझने के कारण ही उन्हें गाली दे रहे हो और गालियाँ देने के अतिरिक्त तुम उन्हें और कुछ दे भी क्या सकते हो क्योंकि तुम्हारी जैसी भावना है उसी के अनुरूप तुम प्रत्येक का देखते हो लेकिन तुम्हें यह न भूलना चाहिए कि कृष्ण की निन्दा करते हुए भी अन्त में तुम उनके ही होगे। इसका अर्थ यह है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाती है अतः विधृता कह रही है कि उसके पति भले ही अभी कृष्ण की निन्दा कर लें परन्तु अन्त में उन्हें कृष्णार्पण ही होना पड़ेगा। वह पुनः कहती है कि वेद भी उसी कृष्ण का गुणगान करते है परन्तु अत्यंत खेद की बात है कि तुम वेदज्ञानी होते हुए भी कृष्ण का महत्व नहीं समझते और जिस कृष्ण की खोज में वेद हमेशा लगे रहते है पर उनकी थाह न पाने पर उसकी ही बलिहारी कर रोते हैं उसी के लिए तुम कटूक्तियों का प्रयोग करते हो।

टिप्पणी—विधृता ने यहाँ यह मान लिया है कि कृष्ण वैदिक देवता है और प्रत्येक को अन्त में उनका महत्व स्वीकार करना पड़ता है।

अलंकार—वीप्सा।

तुम्हें वेद.....कल्याणी। (पृ० ३८)

साकेत—विधृता ने इन पंक्तियों में यह स्पष्ट कर दिया है कि अपनी संकुचित दृष्टि के कारण ही उसका पति वेदों में कृष्ण को न पा सका।

शब्दार्थ—परिमित = सीमित । अनंत = जिसका अंत न हो, अविनाशी विष्णु ।

व्याख्या—विधृता अपने पति को सम्बोधित कर कह रही है कि तुम जो वेदज्ञानी होने का दावा करते हो वह मिथ्या है क्योंकि तुम वेदों के ज्ञाता होते हुए भी उसमे कृष्ण को न पा सके अतः मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुमने अपने संकुचित दृष्टिकोण से वेदों को सीमित कर लिया है पर तुम्हें यह न भूलना चाहिए कि वेद का कोई अंत नही है तथा यदि तुम कुछ देर ध्यानपूर्वक इस बात पर विचार करोगे तो उसे समझ सकोगे । विधृता का कहना है कि उस अविनाशी ब्रह्म की वाणी कुछ छन्दों तक ही सीमित नहीं है बल्कि वह तो नित्य ही नवीन भावों से युक्त हो गुणान्वित होती रहती है अर्थात् ब्रह्म की कल्याणमयी वाणी सर्वदा नित्य नूतन भावों से विभूषित होती रहती है ।

टिप्पणी—कवि ने यहाँ विधृता के माध्यम से वेद शब्द की व्यापक व्याख्या की है ।

अलंकार—अनुप्रास, पुनरुक्तिप्रकाश ।

नित्य·····नई विचारो । (पृ० ३६)

संकेत—विधृता ने यहाँ यह स्पष्ट किया है कि कृष्ण को अवैदिक समझना उचित नहीं है ।

शब्दार्थ—सृष्टा = निर्माता, बनाने वाला । वेदवादरत = वेदों के विवाद में उलझे हुए ।

व्याख्या—विधृता कहती है कि कृष्ण पूर्ण ब्रह्म के अवतार हैं और नित्य-प्रति इस सृष्टि को अपने नवीन कार्यों से विभूषित करते हैं अर्थात् यह सृष्टि उन्ही की लीलाओं से व्याप्त है और वह भी नित्यप्रति नवीन क्रीड़ाएँ करते है । उसका कहना है कि वह प्रत्येक काल व प्रदेश मे नवीन यंत्रों की रचना करने वाले हैं तथा तुम्हें (उसके पति को) धैर्यपूर्वक इस बात पर विचार करना चाहिए कि क्या राम व कृष्ण को अवैदिक कहा जा सकता है क्योंकि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उन्हें आर्य-संस्कृति का पोषक वैदिक देवता ही मानना उचित है । वह अपने पति से स्पष्टतया कह देती है कि वेदों के विवाद में उलझे रहने के

कारण ही तुम्हें राम और कृष्ण अवैदिक जान पड़ते हैं अन्यथा यदि तुम शांति-पूर्वक विचार करो तो उन्हें वैदिक मानना ही युक्ति-संगत जान पड़ेगा।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्तिप्रकाश।

श्रुति-दर्शी.....कृषि से। (पृ० ३९)

संकेत—इन पंक्तियों मे विधृता ने आर्य-संस्कृति का महत्व सिद्ध करते हुए कृष्ण को वैदिक कहा है।

शब्दार्थ—श्रुति-दर्शी = वेदों का श्रुतियों के ज्ञाता। दम्भी = घमंडी। ऋचा = वेदमंत्र। अक्षय = जिसका कभी नाश न होता हो, अमर।

व्याख्या—विधृता अपने पति से कह रही है कि वैदिक श्रुतियों के मर्मज्ञ हमारे प्राचीन ऋषि अत्यंत सरल स्वभाव के थे और उन्हें किंचित् मात्र भी दम्भ व अभिमान न था तथा उन्होंने स्वयं ही नेति-नेति की घोषणा भी की। इसका अर्थ यह है कि हमारे वैदिक ऋषियों ने यह मान लिया था कि जिस प्रकार ब्रह्म ने नित्य नवीन रूप धारण कर संसार को सुख प्रदान किया था उसी प्रकार कृष्ण ने भी जन-कल्याण हेतु अवतार धारण किया है अतः उन्हें अवैदिक कहना उचित न होगा।

वह पुनः कहती है कि हमारे वाल्मीकि और व्यास आदि ऋषि भी अपना कुछ कम महत्व नहीं रखते तथा उन्होने जो अपनी सुन्दर भावनाओं-रूपी कृति मानव समाज को दी है उसके लिए युगों तक यह मानव समाज आभारी रहेगा। यहाँ यह स्मरणीय है कि वाल्मीकि ने राम का चरित्रांकन किया है और व्यास ने कृष्ण का, अतः राम व कृष्ण के लोकरंजनकारी कृत्यों से हमारा मानव समाज उपकृत ही हुआ है और आज भी उनकी लोक-हितकारी घटनाओं का अध्ययन व श्रवण कर प्रत्येक को सुख प्राप्त होता है इसीलिए उन्हें अवैदिक कहना अन्याय ही है।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्तिप्रकाश।

पाप शांत.....नर का। (पृष्ठ ४०)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में विधृता ने अपने पति पर यह आक्षेप किया है कि

उसके समान संदेहशील प्राणियों के कारण ही सीता को भी निर्वासित होना पड़ा था।

शब्दार्थ—यथार्थ = वास्तविक, सत्य। अज = अज्ञानी। नृप = राजा।

व्याख्या—विधृता अपने पति से कहती है कि यह सोचना भी पाप की बात है कि सीता को राम ने त्याग दिया था और जो भी इस बात को सत्य समझता है वह भाग्यहीन व अज्ञानी है क्योंकि राम ने सीता का त्याग केवल मर्यादा की रक्षा हेतु ही किया था। उसका कहना है कि सीता के निर्वासन की इस घटना में भी तुम जैसे प्रतिक्रियावादी शंकाशील व्यक्ति का ही हाथ था जिसने कि सीता पर व्यर्थ का दोषारोपण किया और राम ने प्रजा-अनुरंजन के लिए राजा की कर्तव्य-परायणता को प्रमुखता देते हुए पत्नी के प्रति प्रेम होते हुए भी उसे निर्वासित कर दिया।

टिप्पणी—सीता-निर्वासन की घटना को कवि ने यहाँ सर्वथा नवीन रूप मे प्रस्तुत किया है और राम को इसके लिए तनिक भी दोषी नहीं माना है।

अलंकार—अनुप्रास और वीप्सा।

राम-कृष्ण·····जानो। (पृष्ठ ४०)

संकेत—यहाँ विधृता अपने पति की संकीर्ण दृष्टि पर व्यंग्य कर रही है।

शब्दार्थ—छान्दस = वेदपाठी।

व्याख्या—विधृता अपने पति से कह रही है कि वेदपाठी होने के कारण तुम्हारी दृष्टि अत्यन्त संकुचित हो गई है और तुम केवल इन्द्र, वरुण को ही देवता समझते हो तथा राम व कृष्ण का महत्व नहीं स्वीकार करते। उसके कहने का अभिप्राय यह है कि वेदज्ञ होने के कारण वह हर बात पर विवाद करते हैं और संकीर्ण दृष्टि से ही किसी भी वस्तु को देखते हैं तथा चूँकि वेदों में इन्द्र व वरुण का महत्व ही सर्वाधिक है अतः तुम राम व कृष्ण के महत्व को नहीं स्वीकार करते। विधृता का कहना है कि मैं तुमसे साफ-साफ यह कहे देती हूँ कि तुम भले ही अभी मेरी यह बात न मानो कि कृष्ण ब्रह्म हैं और नीरस वेदपाठी होने के कारण ही तुम कृष्ण का महत्व अस्वीकार करो लेकिन तुम्हें यह ध्यान मे रखना चाहिए कि कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं।

अलंकार—अनुप्रास ।

आगे-पीछे·····भरा है । (पृष्ठ ४१)

संकेत—इन पंक्तियों में विधृता ने कर्मकांड की आलोचना की है ।

शब्दार्थ—क्रोधान्ध = क्रोध में अंधे होना । भांड़ों = बर्तनों । घट = घड़ा, हृदय ।

व्याख्या—विधृता अपने पति को सम्बोधित कर कहती है कि जब तुम वर्तमान को ही नहीं देख पाते तो फिर भूत व भविष्य पर विचार करने में कैसे समर्थ हो सकते हो अर्थात् जब तुम प्रत्यक्ष कृष्ण के दैवी कार्यों को नहीं समझ पाते तो प्राचीन वेदों का महत्व भला कैसे हृदयंगम कर सकते हो । वह अपने पति से कह रही है कि यदि तुम तनिक भी विवेक से काम लेते तो इस प्रकार क्रोध में अंधे होकर ऊटपटांग बकते हुए मेरे साथ जबर्दस्ती न करते और तुम्हें यह न भूलना चाहिए कि जो आनन्द कृष्ण-प्रेम में है वह तुम्हारे इन यज्ञादि के कर्मकांडों में नहीं है । विधृता का अपने पति से कहना है कि जब तुम्हारे हृदय में अविश्वास की ही अधिकता हो गई है तब भला तुम विवेकपूर्वक कोई कार्य कैसे कर सकते हो ?

अलंकार—रूपक ।

अविश्वास·····पाप-पिटारी । (पृष्ठ ४१)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में नारी की दयनीय स्थिति का चित्रण किया गया है ।

शब्दार्थ—पाप-पिटारी = पाप पूर्ण ।

व्याख्या—विधृता का कहना है कि यह कितने खेद की बात है कि मनुष्य के हृदय में नारी के प्रति घोर अविश्वास की भावना भरी हुई है और वह नारी पर अविश्वास ही करता है तथा यही कारण है कि इस समाज में पुरुषों का स्वायित्व होने के कारण पुरुषों के तो सौ अपराध भी क्षमा हो जाते हैं पर नारी का साधारण सा अपराध भी निंदनीय समझा जाता है और पुरुष उसके साथ कठोरतापूर्वक व्यवहार करता है । विधृता कहती है कि नारी पर अविश्वास करने वाला मनुष्य नारी में ही उत्पन्न होता है और माता होते हुए भी बेचारी नारी

पुरुष की दृष्टि में पापपूर्ण पिटारी ही है। विधृता के कहने का अभिप्राय यह है कि नारी पत्नी ही नहीं माता भी है और जिस स्त्री-जाति पर पुरुष अत्याचार करता है तथा जिसे अविश्वास की दृष्टि से देखता है वही पुरुष को उत्पन्न भी करती है।

टिप्पणी—इन पंक्तियों में कवि ने नारी की शोचनीय परिस्थितियों का चित्रण कर नारी का महत्व स्वीकार किया है।

अलंकार—अनुप्रास और वीप्सा।

आती नहीं·····जावेगा। (पृष्ठ ४२)

संकेत—यहां कवि ने विधृता के माध्यम से शिव की पत्नी सती के अपमान की कथा का सांकेतिक उल्लेख किया है।

शब्दार्थ—लख = लक्ष्य, दृष्टि। अलख = ब्रह्म। रुद्र = महादेव, शंकर। हर = शंकर।

व्याख्या—विधृता कह रही है कि भगवान की लीला ही कुछ ऐसी अपार है कि वह कभी भी किसी की समझ में नहीं आती और इस प्रकार यह देख कर आश्चर्य होता है कि भगवान भी परम्परा से पुरुषों को नारी का अपमान करने का अवसर दे रहा है पर यहाँ यह भी न भूलना चाहिए कि नारी का अपमान करने वाले को कठोर दंड भी सहना पड़ता है।

विधृता का कहना है कि सती भी पिता दक्ष द्वारा अपमानित होने पर यज्ञ-कुंड में कूद कर जल मरी थीं और अब मुझे भी अपमानित होकर अपना शरीर नष्ट करना पड़ रहा है लेकिन हे ब्राह्मण देवता! तुम भयभीत न हो क्योंकि जिस प्रकार सती की मृत्यु का समाचार सुनकर महादेव के गणों ने आकर दक्ष प्रजापति का यज्ञ विध्वंस कर दिया था उसी प्रकार यहां कोई भी तुम्हारा यज्ञ विध्वंस करने न आयेगा। वह कहती है कि जिस प्रकार भगवान शंकर ने समुद्र-मंथन के समय जहर पी लिया था उसी प्रकार नारी-अपमान के इस हलाहल का पान हमारे कृष्ण भी कर लेंगे और वह तुम्हारे इस व्यवहार के लिए तुम्हें कुछ भी दंड न देंगे।

टिप्पणी—सती दक्ष प्रजापति की कन्या थीं और उनका विवाह भगवान

शंकर के साथ हुआ था। यज्ञ के समय दक्ष ने अपनी अन्य कन्याओं को तो निमंत्रण भेजा लेकिन सती को नहीं बुलाया। इतना होते हुए भी सती यज्ञ में पहुँची परन्तु जब उन्होंने देखा कि वहाँ उनके पति शंकर के लिए यज्ञ का तनिक भी भाग नहीं है तो इसे अपना अपमान समझ वह यज्ञकुंड में कूद पड़ीं। उनके इस बलिदान की कथा को सुनकर शंकर जी को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने गणों को भेजकर दक्ष का यज्ञ विध्वंस कर दिया।

अलंकार—यमक और अनुप्रास।

जाती हूँ.....आना ! (पृष्ठ ४२)

संकेत—इन पंक्तियों में विधृता आत्म-बलिदान के लिए प्रस्तुत जान पड़ती है।

शब्दार्थ—समक्ष = सामने।

व्याख्या—विधृता अपने पति से कह रही है कि अब मैं मरने वाली हूँ और अब एक क्षण भी जीवित रहने की मेरी अभिलाषा नहीं है तथा तुम जो अन्याय कर रहे हो उसके सामने मैं कभी भी नहीं झुक सकती। विधृता के कहने का अभिप्राय यह है कि उसके पति ने उसे जो कृष्ण के पास नहीं जाने दिया वह नारी जाति का अपमान ही है और वह इस अन्याय के विरोध में बलिदान करने के लिए प्रस्तुत है तथा एक आर्य नारी की भाँति बलिदान हो अपना लक्ष्य समझती है। वह कहती है अपने आत्म-बलिदान द्वारा मुझे उस अमर लोक की प्राप्ति हो जायगी जहाँ से इस धरती पर मुझे फिर न लौटना पड़ेगा अर्थात् मरकर मैं अपने आराध्य को पा लूँगी।

अलंकार—अनुप्रास।

बलराम (पृष्ठ ४३-६५)

पृष्ठभूमि—बलराम कृष्ण के ज्येष्ठ भ्राता थे पर पौराणिक साहित्य में उनका चित्रण एक उद्दंड पात्र के रूप में हुआ है लेकिन 'द्वापर' के बलराम अपने आत्मोद्गारों में भावी समाज के निर्माण की झाँकी अंकित करते हैं। साथ ही कवि ने बलराम के माध्यम से कई सामयिक समस्याओं का समाधान भी प्रस्तुत किया है।

उलटा·····जाओ (पृष्ठ ४३)

संकेत—इन पंक्तियों में बलराम की चिंतित मुद्रा का चित्रण किया गया है।

शब्दार्थ—वेणु = बाँसुरी, वंशी, मुरली।

व्याख्या—कवि का कहना है बलराम एक कुंज में चिंतामग्न कुहनियों के बल बाँसुरी पर अपनी ठोड़ी रखे हुये लेटे हैं और वह अपने सभी साथियों अर्थात् ग्वालबालों को सम्बोधन कर कहते हैं कि हे सुबल, विशाल, अंशु, ओजस्वी, वृषभ, बरूथम तुम यहाँ यमुना तट पर वट वृक्ष के नीचे बैठकर कुछ देर मेरी बात सुन जाओ।

टिप्पणी—चित्रणकला की दृष्टि से यह पद्यांश उल्लेखनीय है।

अलंकार—अनुप्रास।

खेल-कूद·····हमारे। (पृष्ठ ४४)

संकेत—इस पद्यांश में बलराम ग्वालबालों को आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रहे हैं।

शब्दार्थ—भावी = भविष्य का, आगे आने वाला समय।

व्याख्या—बलराम अपने साथियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हमें अपना सारा समय खेल-कूद में ही नहीं नष्ट कर देना चाहिए बल्कि अपने भावी जीवन का कार्यक्रम भी निश्चित् कर लेना चाहिये। उनका कहना है कि इस युवावस्था में ही हम सबको कुछ कर डालने का दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए क्योंकि अभी हमारी यह युवावस्था आज व साहस से पूर्ण है और हमारे हृदय में नूतन रक्त संचरित हो रहा है।

बलराम ग्वालबालों से कहते हैं कि यदि तुममें कुछ भी शक्ति है तो समाज व देश को कुछ करके दिखा दो और जिस प्रकार उगते हुये तारे अपनी आभा बिखेरते हैं उसी प्रकार तुम्हें भी अपने कृत्यों से समाज में नवीन रक्त संचरित करना चाहिये और कुछ कर डालने की प्रतिज्ञा करनी चाहिए।

अन्य विशेषताएँ—इन पंक्तियों में प्रेरणादायिनी शक्ति है और साथ ही सम-सामयिकता भी है। कहते हैं कि द्वापर का रचनाकाल भारतीय राष्ट्रीय

क्रांति का युग था और नवयुवकों में राष्ट्रीयता की नूतन लहर उत्पन्न हो रही थी तथा भारतीय नवयुवक देश के लिए सर्वस्व अर्पित करने को कटिबद्ध हो रहे थे अतः यहाँ बलराम के माध्यम से कवि ने क्रांति का आह्वान ही किया है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

जावेंगे अवश्य·····जावे। (पृष्ठ ४४)

संकेत—बलराम अपने साथियों को आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रहे है।

शब्दार्थ—पितरो = पूर्वजों।

व्याख्या—बलराम का कहना है कि हम अपने प्रिय पूर्वजो के मार्ग का ही अवलम्बन करेंगे अर्थात् उसी मार्ग से जायेंगे जिस मार्ग से हमारे पूर्वज गए है परन्तु हमारा प्रगति-रूपी रथ रूढ़िवाद के कीचड़ मे नही फँसेगा अर्थात् हम अपनी कार्य-प्रणाली मे पूर्वजों के गौरव की रक्षा करते हुए भी रूढ़ियो को तोड़ते हुए आगे बढ़ते चले जायेंगे तथा रूढ़िवादी दृष्टिकोण के कारण हमारा पथ कभी भी संकीर्ण व अपरिष्कृत न हो सकेगा और हम इसी प्रकार आगे बढ़ते हुए चतुर्मुखी प्रगति कर सकेंगे। बलराम का कहना है कि हम इस बात के लिये सर्वदा प्रयत्न-शील रहेंगे कि जल, थल और नभ आदि सभी स्थलों पर हमारी प्रगति हो अर्थात् पृथ्वी, पाताल व स्वर्ग तीनों लोकों मे हमारा गौरव अक्षुण्ण बना रहे।

टिप्पणी—कवि ने यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि प्राचीन संस्कृति की उपासना का अर्थ रूढ़िवादिता को अक्षरशः स्वीकार करना नही है और इस प्रकार हमें युगानुरूप ही हर वस्तु पर विचार करना चाहिए तथा चतुर्मुखी प्रगति ही हमारा लक्ष्य हो।

अलंकार—अनुप्रास।

नहीं देखते····· होगी। (पृष्ठ ४५)

संकेत—इन पंक्तियो मे रूढ़ियों का विरोध किया गया है।

शब्दार्थ—गतानुगतिक = अनुसरण करनेवाला।

व्याख्या—बलराम कह रहे है कि हमारे पूर्वज भी युगानुरूप ही कार्य करते थे अर्थात् वह काल-गति का देख प्रत्येक कार्य करते थे और इसीलिये उन्होंने समय व अवसर के अनुकूल प्रत्येक कार्य किया है तथा वह यहाँ जैसी अवस्था

देखते थे वैसी ही व्यवस्था उस स्थान के लिए करते थे। बलराम का कहना है कि हम सबको भी यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि उद्योगी पुरुष दूसरों का अनुकरण नहीं करता अपितु अपने साहस से समस्त बाधाओं को दूर करता हुआ आगे बढ़ता है और इसीलिए हमें भी यह न सोचना चाहिए कि हमारे पूर्वजों का क्या दृष्टिकोण रहा है बल्कि युग के अनुरूप प्रयत्न करते हुए आगे बढ़ना चाहिए तथा नव-सृष्टि के निर्माण में ध्यान देना ही हमारा लक्ष्य हो।

टिप्पणी—कवि यहाँ प्राचीनता को समयानुरूप परिवर्तन के साथ अंगीकार करने का पक्षपाती है।

पितर नहीं.....ले लें। (पृष्ठ ४५)

संकेत—कवि यहाँ परम्परावाद का खंडन कर रहा है।

शब्दार्थ—टटका = ताजा। सीठा = फीका। शर्करा = शक्कर। मोदक = लड्डू।

व्याख्या—बलराम का कहना है कि हमारे पूर्वज भी प्रगति पर आस्था रखते थे और वह भी सड़ी-गली रूढ़ियों में परिवर्तन कर आगे बढ़ते थे अतः हमारा भी यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि सारतत्वों को ग्रहण करते हुए आगे बढ़ें। बलराम अपने कथन को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार बासी खाने की अपेक्षा ताजा-मीठा भोजन ही उपादेय होता है उसी प्रकार प्राचीन रूढ़ियाँ चाहे कितनी ही अच्छी क्यों न हों पर यदि वह युग के अनुकूल नहीं हैं तो उन्हें त्यागना ही उचित है और जिस प्रकार शक्कर से केवल लड्डू ही नहीं बनते अपितु अन्य कई स्वादिष्ट मिष्ठान्न भी बन सकते हैं उसी प्रकार एक ही तथ्य को समयानुरूप परिवर्तित कर लाभप्रद बनाया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि एक ही प्रकार के स्वाद में अनेक भेद होते हैं और प्रत्येक व्यक्ति उनमें से मनचाहा ग्रहण करता है उसी प्रकार हमारे पूर्वजों ने भी जो कार्य अपने समय के अनुरूप किए हैं उन्हें समयानुकूल ग्रहण करना ही हमारे लिए उचित होगा और तभी हम उन्हें उपयोगी भी बना सकते हैं।

अन्य विशेषताएँ—कवि ने यहाँ रूढ़िवादिता का खंडन करते हुए प्राचीन वस्तुओं को समयानुरूप ग्रहण करना ही उचित समझा है।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद्यांश मे 'टटका' जैसे स्थानीय शब्दो का भी प्रयोग किया गया है।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्तिप्रकाश।

मुनियों.....मरण है। (पृष्ठ ४६)

संकेत—यहाँ यह माना गया है कि प्राचीन ऋषियों की प्रत्येक बात को रूढ़ि के रूप में ग्रहण करना भ्रम ही है।

शब्दार्थ—रज्जु = रस्सी।

व्याख्या—बलराम कह रहे हैं कि यह भी सम्भव है कि हमारे प्राचीन मुनियों को भी भ्रम हो सकता है और यह तो यह है कि उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप ही अपने कार्य किए थे या मान्यताएँ निर्धारित की थीं अतः यदि हम उनके कृत्यों मे भ्रम समझकर उनमे परिवर्तन करना चाहते हों तो इसका यह अर्थ नही है कि हम उनके प्रति अनादर की भावना व्यक्त करते है क्योंकि यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि भ्रम व्यक्ति का सर्वनाश कर देता है इसलिए भ्रम को दूर करना अनुचित नहीं है। उदाहरण देते हुए वह कहते है कि रस्सी का सर्प समझने का भ्रम करना भले ही विनोद की बात हो पर यदि हम सर्प को ही रस्सी समझेंगे तो यह हमारा भ्रम ,हमारे सर्वनाश का कारण बनेगा। इसका अर्थ यह है कि भ्रमपूर्ण प्राचीन रूढ़ियों को बिना यथोचित परिवर्तन के ग्रहण करना मृत्यु ही को स्वीकार करना है।

अलंकार—अनुप्रास, भ्रम और संदेह।

बन्धन-कर्तनार्थ.....रहेगी! (पृष्ठ ४६)

संकेत—बलराम यहाँ ग्वालबालों से कहते हैं कि उन्हे पूर्वजों द्वारा दिए गए सारतत्व को स्वच्छ रूप मे परिवर्तित करना चाहिए।

शब्दार्थ—बंधन-कर्तनार्थं = बन्धनों को काटने के लिए।

व्याख्या—बलराम का कहना है कि हमारे पूर्वजों ने तत्कालीन समाज व स्थिति को ध्यान में रखते हुए हमे सारतत्व केवल इसीलिए दिया था कि हम अपने अज्ञानता रूपी बन्धनों को काट सकें पर इस सारतत्व के साथ ही हम सबके

उन्होंने उसका भार-दायित्व भी सौंपा था अर्थात् पूर्वजों ने ही यह स्पष्ट कर दिया था कि उस सारतत्व को जितना ही स्वच्छ, पवित्र व शुद्ध रखा जायगा उतना ही उसकी शक्ति बढ़ेगी अन्यथा यदि रूढ़ि के रूप में उसे ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया तो हमारे हाथ में धूलि व राख के अतिरिक्त कुछ भी तरह पायेगा।

टिप्पणी—कवि ने यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि हमें पूर्वजों द्वारा प्रदान किये गए ज्ञान को वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित कर ही ग्रहण करना चाहिए।

अलंकार—उदाहरण।

भूमि पूर्वजों·····दोगे। (पृ० ४७)

संकेत—कवि बलराम के माध्यम से प्राचीन सारतत्वों को समयानुसार परिवर्तित कर स्वीकार करने को प्रेरणा दे रहा है।

व्याख्या—बलराम ग्वालबालों को सम्बोधित कर कहते हैं कि यह सत्य है कि यह भूमि पूर्वजों की है पर हमारा भी तो यह कर्तव्य हो जाता है कि पूर्वजों द्वारा दी गई इस भूमि को अपने परिश्रम द्वारा जोत-खोद कर उपजाऊ बनावें। उनका कहना है कि हमें यह न भूलना चाहिए कि हमारे पूर्वजों का सम्पूर्ण श्रम व प्रत्येक कार्य इसीलिए महत्वपूर्ण था कि उससे हमें परिश्रम करने की प्रेरणा मिलती है और हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने परिश्रम व उद्योग से इस धरती को फल, फूलों और हरीतिमा से युक्त कर दें। बलराम कह रहे हैं कि यदि हम ऐसा करते हैं तभी हम सपूत कहलाने के सच्चे अधिकारी हैं और हमारे पूर्वज भी इस कार्य से अपने आपको कृतज्ञ समझेंगे।

टिप्पणी—कवि ने यहाँ यह स्पष्ट करना चाहा है कि हमारे पूर्वज तो क्षेत्र में सारतत्व दे गये हैं और यह तो हमारा कर्तव्य है हम उन सारतत्वों में युगानुरूप परिवर्तन कर आगे बढ़ें।

अलंकार—अनुप्रास।

मिला हमें·····छोड़ेंगे हम। (पृ० ४७)

संकेत—यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि यदि हमें पूर्वजों के कार्यों को

समयानुकूल परिवर्तन किए बिना ही अपनावेंगे तो हमें उनसे कुछ भी लाभ न होगा।

शब्दार्थ– रोपण—नवीन वृक्ष लगाना, नवीन कार्यों को करना।

व्याख्या—बलराम ग्वालबालों को सम्बोधित कर कहते हैं कि यह हमारा सौभाग्य है कि पूर्वज हमारे लिए हरा-भरा उपवन छोड़ गये है और अब हमारा यह कर्तव्य है कि अपने श्रमजल की धारा से इस उपवन को सींच कर और भी अधिक विकसित करें। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि पूर्वज जिस हरे-भरे उपवन को छोड़ गए हैं उसके फलों को ग्रहण करने के साथ-साथ हमें उसके विकास पर भी ध्यान देना चाहिए क्योंकि यदि हम उसके फल ही खाते रहे और हमने उसके विकास पर तनिक भी ध्यान न दिया तो फिर निस्संदेह वह हरा-भरा उद्यान नष्ट हो जायगा। बलराम कह रहे हैं कि हम पूर्वजों द्वारा छोड़े गए इस हरे-भरे उपवन को सींचने, नए वृक्ष लगाने और काट-छाँट करने से उदासीन हो जाएँगे तो निस्संदेह इस उपवन में झाड़-झंखाड़ ही रह जाएँगे अतः हमारा यह कर्तव्य है कि पूर्वजों की परम्पराओं को समयानुकूल परिवर्तित कर अपनावें क्योंकि ऐसा करने पर ही हम अपना लाभ कर सकेंगे।

अलंकार—रूपक और अनुप्रास।

जीर्ण.....सड़ेंगी। (पृ० ४८)

संकेत—इन पंक्तियों में यह माना गया है कि जीर्ण वस्तुओं के सदृश परम्पराओं को बिना किसी परिवर्तन के स्वीकार कर लेने से हमारी उन्नति न हो सकेगी।

शब्दार्थ—मानस-गोमुखी = हृदय-रूपी गोमुखी गंगा-धारा। निरवधि = बिना किसी विराम के, लगातार।

व्याख्या—बलराम ग्वालबालों को सम्बोधित कर कह रहे है कि जिस प्रकार जीर्ण-शीर्ण वस्तुओं के प्रति मोह कर उनका संग्रह करने से घर में कूड़ा-कर्कट एकत्र हो जाता है उसी प्रकार प्राचीन परम्पराओं को बिना सोचे-समझे स्वीकार करने से हमारे समाज में विनाशकारी तत्व एकत्र हो जाएँगे अर्थात् हमारे समाज का विनाश हो जाएगा। अपने कथन की पुष्टि में वह कहते है कि आज

जो फूलों का हार सुन्दर व कोमल जान पड़ता है कल वही मुरझाकर कूड़ा बन सकता है अतः इसी प्रकार आज जो वस्तु उपयोगी प्रतीत होती है वह भविष्य में व्यर्थ व अनुपयोगी भी हो सकती है अतः हमें चाहिए कि प्रगति पथ पर निरंतर बढ़ते रहें। बलराम कह रहे हैं कि यदि हमारे हृदय की गोमुखी से निरंतर नहीं बहती रहेगी तो जीवन-धारा धूल-युक्त गड्ढों में ही पड़ी रह कर नष्ट हो जाएगी अर्थात् यदि हमारी विचारधारा का प्रवाह रुक गया तो हमारे जीवन मे नीरसता ही छा जाएगी क्योंकि नदी का प्रवाह रुक जाने पर बदबू पड़ी सड़ती रहती है और गंदा बू आती है।

टिप्पणी—कवि ने रूढ़िवादी प्राचीन दृष्टिकोण का विरोध करते हुए मानव-समाज की प्रगति के लिए विचारों की प्रगति को भी आवश्यक माना है।

अलंकार—अनुप्रास, वीप्सा, रूपक और दृष्टान्त।

एक समय·····जाती है। (पृष्ठ ४८)

संकेत—इस पद्यांश मे प्रत्येक वस्तु का समयानुकूल ग्रहण करना ही युक्तिसंगत माना गया है।

शब्दार्थ—ग्राह्य = स्वीकार। त्याज्य = त्यागने योग्य। ऊष्मा = गर्मी।

व्याख्या—बलराम का कहना है कि किसी समय जो वस्तु उपयोगी जान पड़ने के कारण स्वीकार करने योग्य होती है वही दूसरे समय मे अनुपयोगी प्रतीत होती है और इसका साधारण सा उदाहरण यों दिया जा सकता है कि जो कम्बल ठंड के दिनों मे अत्यधिक उपयोगी जान पड़ता है वही गर्मी के दिनों में भार-स्वरूप लगता है और उन दिनों कोई भी कम्बल स्वीकार नहीं करता। इसी प्रकार जो पूर्वा पवन गर्मी मे अच्छा लगती है वही जाड़े व बरसात के दिनों मे सीलन उत्पन्न कर देती है अतः इससे स्पष्ट है कि प्राचीन रूढ़ियाँ समाज के लिए उपकारी नहीं कही जा सकतीं।

अलंकार—दृष्टान्त और उपमा।

रंग के·····जलधर भी। (पृष्ठ ४९)

संकेत—इन पंक्तियों में प्रत्येक कार्य को समयानुरूप ही उपयोगी व अनुपयोगी मानने पर जोर दिया गया है।

शब्दार्थ—अशिव = अमंगल, अशुभ ।

व्याख्या—बलराम अपने साथियों से कह रहे हैं कि जो रंग के छोटे होली के दिनों में अत्यंत सुन्दर प्रतीत होते हैं वही दीवाली की रात में धब्बों की भाँति बुरे जान पड़ते हैं और कल्याणकारी मंगल भी अमंगल के रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा असमय घिरे हुए बादल दिन को दुर्दिन में बदल देते हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार रंग के छोटे होली के दिनों में ही अच्छे लगते हैं और दीवाली में वह धब्बे जान पड़ते हैं उसी प्रकार प्राचीन काल की सभी बातें वर्तमान के लिए उपयोगी नहीं हो सकतीं और उनमें भी परिवर्तन अपेक्षित है।

अलंकार—दृष्टांत और पुनरुक्तिप्रकाश ।

रहे व्यक्तियों·····करो तुम । (पृष्ठ ४६)

संकेत—कवि ने यहाँ रूढ़ियों की सीमा को पार कर आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है।

शब्दार्थ—सिन्धु = समुद्र, सागर।

व्याख्या—बलराम ग्वालबालों को सम्बोधित कर कहते हैं कि हमें रूढ़ियों की सीमा तोड़कर आगे बढ़ते रहना चाहिए क्योंकि इस संसार में शक्ति की सीमा कोई नहीं है और यह तो प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने उद्योग व साहस से इस प्रकार आगे बढ़े कि मर्यादा भी भंग न हो। वह अपने साथियों को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि मैं प्रगति-पथ पर भले ही पिछड़ जाऊँ लेकिन तुम सब आगे बढ़ते रहना और यह न भूल जाना कि यदि हमारे पूर्वज नदियों को तैर कर पार करते थे तो हममें समुद्र को तैर कर पार करने की क्षमता होनी चाहिए और यदि हम सब प्राचीन रूढ़ियों का खंडन करते हुए साहसपूर्वक आगे बढ़ते रहेंगे तभी हम मानवता का कल्याण कर सकेंगे।

अलंकार—दृष्टांत ।

पूर्वज थे·····लूटेंगी । (पृष्ठ ५०)

संकेत—इन पंक्तियों में यह प्रेरणा दी गई है कि हमें पूर्वजों द्वारा प्रदत्त ज्ञान से सारतत्व ग्रहण करते हुए युगानुरूप उनका उपयोग करना चाहिए।

शब्दार्थ—सतत = लगातार, निरंतर ।

व्याख्या—बलराम अपने साथियों से कह रहे हैं कि हमारे पूर्वजों ने श्रम व साधना द्वारा मनचाहा मूलतत्व अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर लिया था लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि उसके द्वारा प्रतिपादित तत्वज्ञान की जो विभिन्न शाखाएँ अब प्रचलित हैं उनकी उपयोगिता इस युग में भी उसी प्रकार बनी हुई है। उनका कहना है कि यह मत तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि उनके उस तत्व-ज्ञान की शाखाएं क्रमशः प्रस्फुटित होती रही हैं और भविष्य में भी प्रस्फुटित होती रहेंगी अतः हमे चाहिए कि उनमे से उपयोगी सामग्री को ही अपने लिए ग्रहण करें क्योंकि ऐसा करने पर ही हम समाज की भलाई कर सकते हैं। वह कहते है कि हमें यह न भूलना चाहिए कि भविष्य में भी हमारी संतान हमेशा नित्य नवीन रस का आस्वादन करना चाहेगी और इसीलिए हमारा लक्ष्य यही होना चाहिए कि रूढ़िवादिता से कोसों दूर हो समाज के लिए उपयोगी तत्वों को स्वीकार करें।

टिप्पणी—कवि ने यहाँ प्राचीन ऋषि-मुनियों के तत्वज्ञान को स्वीकार कर ज्ञान की विविध शाखाओं की ओर संकेत करते हुए रूढिवाद व प्रामाण्यवाद का विरोध किया है।

अलंकार—अनुप्रास।

यदि हार्दिक·····स्वयं ही। (पृ० ५०)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश मे यह माना गया है कि हृदय, बुद्धि व क्रिया का पूर्ण समन्वय ही मनुष्य को सफलता दिला सकता है।

शब्दार्थ—प्रमाण = सबूत, ज्ञान का हेतु।

व्याख्या—बलराम का कहना है कि यदि हमारा हृदय यह मान ले कि भावी पीढ़ियाँ हमेशा नित्य नवीन आनन्द का आस्वादन करती रहेंगी और हमारी बुद्धि भी इसे स्वीकार करे व आत्मा द्वारा भी इसका समर्थन हो तो सम्पूर्ण विरोध ही समाप्त हो जाय तथा किसी भी प्रकार का विरोध दृष्टिगोचर न हो। इसका अर्थ यह है कि यदि मनुष्य अपनी हार्दिक विचारधारा को बुद्धि का अनु-मोदन पा प्राणप्रण से उसे पूर्ण करने में लग जाय तो उसके मार्ग की समस्त बाधाएँ दूर हो जाएँगी और निश्चय ही उसे सफलता होगी। बलराम ग्वालबालों

से कह रहे हैं कि कर्तव्य-पालन करते हुए मृत्यु को भी अंगीकार करने में मनुष्य का कल्याण होता है अर्थात् मनुष्य वही है जो कर्तव्य की बलिवेदी पर अपनी जान दे-दे अतः तुम सब भी किसी कार्य को करते समय यह जानने का प्रयास न करो कि उसे तुम्हारे पूर्वजों ने किया है या नहीं अपितु अपनी शक्ति व उद्योग से उसे पूरा करो। इस प्रकार हमें इस बात का प्रमाण खोजने का प्रयास न करना चाहिए कि अमुक कार्य हमारे पूर्वजों ने किया होगा तभी हम करेंगे अपितु स्वयं उसे पूर्ण कर स्वयं ही उसका प्रमाण बन जाना चाहिए।

टिप्पणी—इन पंक्तियों में कवि ने एक ओर तो मनुष्य मात्र को कर्तव्य की बलिवेदी पर अपने आपको न्यौछावर कर देने को प्रेरणा दी है और दूसरी ओर हृदय, बुद्धि व आत्मा की समरसता भी स्वीकार की है।

तुलनात्मक दृष्टि—प्रसाद ने भी इच्छा, ज्ञान व क्रिया का समन्वय आवश्यक मानते हुए कहा है—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सकें वह विडम्बना है जीवन की।

—कामायनी : जयशंकर 'प्रसाद'

पीछे पितर·····जन का। (पृ० ५१)

सकेत—कवि ने यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि भूतकाल के आधार पर यदि हम अपने वर्तमान का निर्माण करें तभी हमारा भविष्य उज्ज्वल हो सकता है।

व्याख्या—बलराम कह रहे हैं कि इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे पूर्वजों ने हमें कार्य करने की प्रेरणा दी है पर हमें यह भी न भूलना चाहिए कि हमारा भविष्य तो अभी विद्यमान नहीं है बल्कि वह तो अभी आनेवाला है अर्थात् हमारा भविष्य कुछ निश्चित् नहीं है और यदि हम वर्तमान पर विचार किए बिना ही कार्य करते रहेंगे तो हमारे समान भाग्यहीन व अंधा कोई दूसरा न होगा। इसका अर्थ यह है कि हमारे वर्तमान जीवन में ही भविष्य के बीज निहित हैं और हम अपने वर्तमान जीवन में ही भावी जीवन का आयोजन करते हैं अतः यदि हम हाथ पर हाथ रखे बैठे रहें और हमने अपने वर्तमान जीवन में सावधानी नहीं

दिखायी तो निस्सन्देह हमें भविष्य में कटु परिणाम सहने होंगे। बलराम का कहना है कि हमें भूतकाल से यह प्रेरणा मिलती ही है कि हमारे पूर्वजों ने कितना परिश्रम किया था और हमें यह भी न भूलना चाहिए कि अपने अतीत की सुख-समृद्धि के आधार पर ही हमारा वर्तमान जीवन सुखी है अतः यदि हम अपने भविष्य को सुखी देखना चाहते हैं तो हमें वर्तमान जीवन को भी सुसम्बद्धता-पूर्वक चलाना होगा।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्तिप्रकाश।

भिन्नाहार-विहार.....कृतियाँ ? (पृष्ठ ५१)

संकेत—कवि यहाँ युगानुकूल दीख पड़नेवाले परिवर्तनों की ओर संकेत कर रहा है।

शब्दार्थ—भिन्नाहार = विभिन्न प्रकार के खान-पान। समयाचार = समय के अनुसार आचरण करना।

व्याख्या—बलराम का कहना है कि युगानुकूल आहार-विहार में भी परिवर्तन होता है और इसमें कोई संदेह नहीं कि युग-परिवर्तन के अनुरूप यह परिवर्तन उचित ही माने जाएँगे अर्थात् एक युग में जो परम्पराएँ चलती रहती हैं वह दूसरे युग से बहुत कुछ परिवर्तित भी हो जाती हैं और इसीलिए आहार-विहार में भी स्वाभाविक ही परिवर्तन होते रहते है। बलराम कह रहे हैं कि युगपरिवर्तन का अभाव बुद्धि व विचारधारा पर भी पड़ता है और इसीलिए युगपरिवर्तन के अनुरूप हमारी बुद्धि व विचारों में भी परिवर्तन होते रहते हैं तथा अचार-विचार मे भी भिन्नता सी आ जाती है। इसका अर्थ यह है कि किसी युग में हम किसी वस्तु के प्रति जो धारणा रखते हैं वह अन्य दूसरे युग में बदल भी जाती है और इसीलिए युग के अनुकूल हमारे धैर्य आदि मानवीय गुणों में भी भिन्नता आती है तथा मानवीय आकृति व स्वभाव में भी परिवर्तन होता है अतः स्वाभाविक ही मनुष्य की क्रियाओं अर्थात् कार्यों व कृतित्व में भी परिवर्तन होता है।

टिप्पणी—कवि ने यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि युग के अनुरूप मानवीय बुद्धि विचारधारा व कृतित्व में भी परिवर्तन अपेक्षित है।

अलंकार—अनुप्रास।

अपने युग.....पड़ा है। (पृष्ठ ५२)

संकेत—इन पंक्तियों में अपने युग का महत्व प्रतिपादित किया गया है।

शब्दार्थ—सजग = सावधान, सचेत। दुर्बलता = कमजोरी।

व्याख्या—बलराम ग्वालबालों को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि अपने युग का महत्व स्वीकार न करना आत्महीनता ही होगी अर्थात् यदि हम अपने वर्तमान को हीन समझते हैं तो यह हमारी आत्महीनता ही है क्योंकि इससे हमारे हृदय में दुर्बलता व हीनता की भावना उत्पन्न होती है। उनका कहना है कि हमारे लिए तो वही युग बड़ा है जिसमें कि हम उत्पन्न होते हैं और हमें यह न भूलना चाहिए कि हमारे इस वर्तमान युग में हमारे सामने विस्तृत कर्मक्षेत्र उपस्थित है अतः हमें साहसपूर्वक कर्म करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए।

टिप्पणी—कवि ने वर्तमान का महत्व स्पष्ट करते हुए यहाँ यह प्रतिपादित करना चाहा है कि हम जिस युग में उत्पन्न हुए हैं हमारे लिए वही महत्वपूर्ण है और हमें अपने सम्मुख पड़े हुए विस्तृत कर्मक्षेत्र को देख कर प्रसन्न होना चाहिए।

अलंकार—अनुप्रास।

हीन हो.....समझें। (पृष्ठ ५२)

संकेत—इन पंक्तियों में प्रत्येक युग का समान महत्व माना गया है।

शब्दार्थ—पतित = गिरा हुआ, नीच।

व्याख्या—बलराम अपने साथियों से कह रहे हैं कि कोई भी समय व युग हीन नहीं है क्योंकि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वर्तमान युग में जो मंद-मंद गरजते हुए बादल हैं वही प्राचीन युग में थे और अतीत काल की भाँति वर्तमान युग में भी सायं, प्रातः, रात, दिन, ऋतुएँ व सूर्य-चन्द्र आदि हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार हमारा विगत प्राकृतिक विभवता से युक्त था उसी प्रकार वर्त्तमान युग भी है और इसीलिए हमें यह न सोचना चाहिए कि हमारा अतीत ही वैभव युक्त था तथा वर्तमान युग में हम अमुख कार्य को करने में असमर्थ है। बलराम का कहना है कि कोई भी कार्य पतित नहीं कहा ज

सकता और सच तो यह है कि यदि हम किसी भी कार्य का मर्म नहीं समझते तो स्वयं ही पतित कहे जाएँगे ।

टिप्पणी—कवि ने यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य को कोई भी कार्य हीन नहीं समझना चाहिए ।

वह अतीत·····पल में । (पृष्ठ ५३)

संकेत—यहाँ वर्तमान का अर्थ प्रतिपादित किया गया है ।

व्याख्या—बलराम कह रहे है कि यह माना जा सकता है कि हमारे पूर्वजों का युग अत्यन्त महान् था और उसकी महानता निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा सकती है लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि हम सबको वर्तमान युग में ही रहना है अतः हमें प्राचीन युग के सम्बन्ध में न सोचकर वर्तमान युग के सम्बन्ध में ही सोचना चाहिए । बलराम कहते हैं कि हम इसी युग की भूमि व वायुमंडल में उत्पन्न हुए हैं और हमें इसी युग में अपना जीवन व्यतीत करते हुए भविष्य की उज्ज्वलता पर ध्यान देना है अतः यदि हम सब दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करेंगे तो न केवल हमारा वर्तमान सुख व सम्पन्नता से युक्त होगा अपितु भविष्य भी उज्ज्वल रहेगा क्योंकि हमें यह न भूलना चाहिए कि हमारे सामने क्षण-क्षण में ऋद्धि-सिद्धि उपस्थित है अर्थात् हम अपने कार्यों से ही अपना वर्तमान व भविष्य उज्ज्वल बना सकते है ।

टिप्पणी—कवि ने अपने युग का महत्व स्वीकार करने की प्रेरणा देते हुए भावी जीवन को उज्ज्वल बनाने का संकेत दिया है ।

बिगत हुआ·····कितने ! (पृष्ठ ५३)

संकेत—इस पद्यांश में वर्तमान युग का महत्व स्वीकार करने की प्रेरणा दी जा रही है ।

व्याख्या—बलराम कहते कि पूर्वजों का प्राचीन युग तो बीत चुका है और अब हमारे लिए वर्तमान ही सब कुछ है तथा यदि हम विचारपूर्वक देखें तो यह हमारा वर्तमान युग ही नवीनता से पूर्ण है और इसमें ही उन्नति, विकास व प्रगति के नूतन अध्याय खुले हुए हैं । उनका कहना है कि यदि हम वर्तमान

युग में ही यथोचित परिवर्तन कर अपने विकास की ओर ध्यान दें तो हमारा जीवन अतीतकाल की भाँति वैभव-सम्पन्न हो सकता है।

अलंकार—अनुप्रास।

बड़ा गोप-पद..... मन में। (पृष्ठ ५४)

संकेत—इन पंक्तियों में गोप-पद अर्थात् ग्वाल-जीवन की महत्ता स्वीकार की गयी है।

व्याख्या—बलराम अपने साथियों को सम्बोधित कर कहते हैं कि हमें गोप-पद को हीन न समझना चाहिए और इस प्रकार अपने को ग्वाला समझ कर हीनता न दिखायी चाहिए क्योंकि हमारे समान ही प्राचीन ऋषि-मुनि भी अपना जीवन व्यतीत करते थे। बलराम का कहना है कि मानवता विशाल भवनों में नहीं अपितु व्यक्ति में निवास करती है और यदि हम दृढ़ संकल्प के साथ कोई भी कार्य करें तो यह मानवता सरलतापूर्वक प्राप्त हो सकती है।

टिप्पणी—कवि ने यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि हमें अपने साधारण जीवन को भी देव तुल्य जीवन के समान समझना चाहिए क्योंकि हमारे ऋषि-मुनि भी सादा जीवन ही व्यतीत करते थे और हमें अपने सामान्य जीवन पर भी गर्व करना चाहिए। साथ ही उसका यह भी विचार है कि विशाल भवनों में मानवता का निवास नहीं होता अपितु मानवता तो मनुष्य के मन में रहती है और यदि हम मन से किसी भी बात की आकांक्षा करें तो हमारी कामना अवश्य पूर्ण हो सकती है।

पुरखों के.....छोड़ेंगे। (पृष्ठ ५४)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में यह स्पष्ट किया गया है कि हमें अपने पूर्वजों व देवताओं के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए कर्तव्यारूढ़ होना चाहिए।

व्याख्या—बलराम ग्वालबालों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि पूर्वजों और हममें कोई भी अन्तर नहीं है तथा उनकी सभी समानतायें व विषमतायें हमारे अन्दर ही उपस्थित हैं अर्थात् हमें यह न सोचना चाहिए कि हमारे पूर्वज हमसे भिन्न थे अपितु हम सबको हमेशा यह ध्यान में रखना चाहिए कि हम भी उन्हीं के अनुकूल हैं। इसका अर्थ यह है कि हमारे पूर्वज जिन कार्यों को कर

सकते थे उन्हें हम भी कर सकते हैं और इसके लिए हमें अपना साहस न खोना चाहिए। बलराम का कहना है कि हमें अपने प्रतिष्ठित देवताओं के प्रति भी कृतज्ञता दिखानी चाहिए क्योंकि उन देवताओं की कृपा से ही हम जीवन धारण कर सके हैं पर इसका यह अर्थ नहीं है कि देवताओं के प्रति कृतज्ञ होने के साथ-साथ हम कर्तव्य से मुँह मोड़ लें अपितु हमें चाहिए कि हमेशा कर्तव्य में रत रहें क्योंकि यदि हम अपने कर्म-कौशल से मुख मोड़ लेंगे तो फिर निश्चय ही वरुण देवता भी हमारा विनाश कर देंगे।

अलंकार—अनुप्रास।

बन्धु कहीं·····किये हो। (पृष्ठ ५५)

संकेत—यहाँ बलराम अपने उद्गारों को स्पष्ट कर रहे हैं।

शब्दार्थ—हाला = शराब। हली = हल धारण करने वाला; अर्थात् बलराम।

व्याख्या—बलराम अपने साथियों से कहते हैं कि मेरी इन बातों को सुनकर तुम यह न समझ बैठना कि मैंने शराब पी रखी है क्योंकि तुम्हें मेरे विचारों में नवीनता की गंध दृष्टिगोचर होगी और इसलिए तुम शायद मेरे विचारों को नशे की बहक समझ बैठो पर साथ ही तुम्हें यह भी न भूलना चाहिए कि कभी-कभी शराबी भी अच्छी बातें करता है और उसकी बातें उपयोगी भी हो सकती हैं। अपने कथन को स्पष्ट करते हुए वह कह रहे हैं कि शराब पीना बुरा नहीं है और शराबी से कोई भय ही होना चाहिए क्योंकि भय तो केवल इसी बात में है कि उस व्यक्ति ने कहीं अधिक शराब न पी लिया हो अर्थात् वह सुरापान से अंधा न हो गया हो। उनका कहना है कि उस असुरापी से अर्थात् जिसने शराब नहीं पी है जो कि पीने का दंभ रचता है शराबी कई गुना श्रेष्ठ है क्योंकि वह हितकारी बातें भी करता है।

अलंकार—अनुप्रास।

न हो एक·····मरता। (पृष्ठ ५५)

संकेत—कवि यहाँ कर्मण्यता का महत्व प्रदिपादित कर रहा है।

शब्दार्थ—भुवन = संसार।

व्याख्या—बलराम कह रहे हैं कि यदि किसी मनुष्य में उन्माद, धुन व काम करने को लगन न हो तो वह व्यक्ति समाज के लिए उपयोगी नहीं है और न उससे संसार को कोई लाभ ही हो सकता है क्योंकि जिसमे उन्माद, धुन व लगन आदि गुण होगे वह हमेशा कर्तव्य करने मे ध्यान देगा और समाज को लाभ पहुँचाएगा। बलराम का कहना है कि जिनमें उन्माद, धुन व लगन आदि गुण न होंगे वह सब कुछ देखता व समझता हुआ भी कुछ नही कर पाता और इस प्रकार का व्यक्ति तो कर्मक्षेत्र के लिए भार ही है अतः उसे डूब मरना चाहिए।

टिप्पणी—इन पंक्तियों में मनुष्य मात्र के लिए उन्माद, धुन व लगन आदि गुण आवश्यक कहे गये है।

तुम मेरे·····जानो। (पृष्ठ ५६)

सकेत—प्रस्तुत पद्यांश मे शुद्ध प्रजातांत्रिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है।

शब्दार्थ—अनुगामी = अनुसरण करने वाला।

व्याख्या— बलराम ग्वालबालों को सम्बोधित कर कहते है कि मुझे इस बात पर स्वाभाविक ही गर्व है कि तुम सब मेरे अनुगामी हो और मुझे प्यार करते हो लेकिन इस यह अर्थ नहीं है कि तुम मेरी सभी बातों को अक्षरसः स्वीकार कर लो क्योंकि तुम्हें तो मेरी अनुचित बातो का विरोध करने का भी अधिकार है। बलराम के कहने का अभिप्राय यह है कि हम अपने नेता की सभी बातों को समझ-बूझ कर ग्रहण करें और किसी भी बात का अंधानुकरण न करें। बलराम अपने साथियों से कहते है कि तुम सबको चाहिए कि पहले मेरी सभी बातों को सोच-समझ कर ग्रहण करो और तदुपरान्त उन्हे यदि अपने लिए उचित समझो तभी उनका अनुकरण करो क्योंकि यदि इस प्रकार तुम सब मेरी बातें सोच-समझ कर अपनाओगे तो फिर उनका अनुसरण करने का पूर्ण भार भी तुम पर ही होगा।

अलंकार—अनुप्रास।

कर्मों की·····सत्ता। (पृष्ठ ५६)

संकेत—प्रस्तुत पंक्तियों में कर्म की महत्ता मानी गई है।

व्याख्या—बलराम कह रहे हैं कि यह विशाल जगत् तो एक कर्मक्षेत्र है और यहाँ जो जैसा कर्म करता है वह वैसा ही फल प्राप्त करता है अर्थात् हम सबको अपने कर्मों के अनुसार ही फल प्राप्त होते हैं और यदि हम अच्छे कर्म करेंगे तो फल भी हमें अच्छे प्राप्त होंगे अन्यथा दुष्कर्मों के परिणाम भी हमें बुरे ही सहने पड़ेंगे। बलराम का कहना है कि देवता भी कर्म करने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं और उनके कर्मों को निर्धारित करने वाला कोई अन्य ही है अर्थात् एक ऐसी अज्ञात सर्वमान्य शक्ति भी है जो देवताओं पर भी नियंत्रण रखता है तथा उनके कर्म निर्धारित करती है। बलराम कहते हैं कि अग्नि का महत्व तभी तक है जब तक उसमें दाहक शक्ति होती है और यदि आग में से ताप निकल जाय तो फिर उसका कुछ भी महत्व न रहेगा तथा यज्ञ करने वालों के लिए उसकी सत्ता स्वीकार्य न होगी।

टिप्पणी—कवि ने यहाँ यह मान लिया है कि देवताओं का कर्मनियन्ता भी कोई अन्य ही है और डॉ० फतहसिंह ने प्राचीन धर्मग्रन्थों से उदाहरण देते हुए कहा भी है "देवों के दो वर्ग से किये गये हैं—एक वर्ग के लिए तो समष्टि बोधक देवः शब्द आता है और दूसरे वर्ग के लिए इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं के व्यक्तिगत नामों का प्रयोग होता है। अतः कहा गया है कि देवता लोग पहले कभी मरा भी करते थे (ऋ० वे० ११, ५, १६; १४, ११, ६; श० ब्रा० १०, ४, ३३) और बाद में उन्होंने अमरत्व को प्राप्त किया (ऋ० वे० १०, ५३, १०; ४, ५४, २; वा० सं० ३३, ५४ इत्या०) वही बात इन्द्र (ऐ० ब्रा० ८, १४, ४, अग्नि ऐ० ब्रा० ३, ४) और प्रजापति आदि देवताओं तक के लिए भी कही गई है।" साथ ही कर्म का महत्व भी कवि ने कुशलतापूर्वक इन पंक्तियों में स्पष्ट किया है।

तुलनात्मक दृष्टि—प्रसाद जी ने भी देवों का नियन्ता किसी अन्य विराट शक्ति को मानते हुए कहा है—

वह विराट था हेम घोलता नया रंग भरने को आज ;
कौन ? हुआ यह प्रश्न अचानक और कुतूहल का था राज।

विश्वदेव, सविता व पूषण सोम मरुत चंचल पवमान ;
वरुण आदि सब घूम रहे हैं किसके शासन में अम्लान ?
किसका था भ्रू-भंग प्रलय सा जिसमें ये सब विकल रहे ;
अरे प्रकृति के शक्ति चिह्न ये फिर भी कितने निबल रहे।
विकल हुआ सा काँप रहा था, सकल भूत चेतन समुदाय ;
उनकी कैसी बुरी दशा थी वे थे विवश और निरुपाय।
देव न थे हम और न ये हैं, सब परिवर्तन के पुतले ;

—कामायनी : जयशंकर 'प्रसाद'

गीता में भी कर्म का महत्व स्वीकार करते हुए कहा गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्तव कर्मणि॥

—श्रीमद्भगवद्गीता, अ० २, श्लोक ४७

जो देवों.....सहती हैं। (पृष्ठ ५६)

संकेत—इन पंक्तियों मे मानव जीवन को कर्मक्षेत्र मानते हुए कर्म को ही सर्वोपरि कहा गया है।

व्याख्या—बलराम ग्वालबालों को सम्बोधित कर कहते हैं कि देवताओं का जो भाग है हम वह उन्हें सम्मानपूर्वक अवश्य दे देंगे और जो कुछ हमें उनसे लेने की आवश्यकता पड़ेगी उसे कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करेंगे। इसका अर्थ यह है कि हम दूसरों का भाग नहीं लेना चाहते बल्कि हमें जो अधिकार है उसी के अनुरूप अपना भाग ले रहे हैं और देवताओं का भाग भी हम उन्हें सम्मानपूर्वक सौंपने के पक्ष में हैं। बलराम का कहना है कि मानव जीवन तो एक कर्मक्षेत्र ही है और कर्म करना ही हमारा ध्येय होना चाहिए तथा समय-समय पर जो दैवी बाधाएँ हमारे रास्ते पर आएँगी हम उन्हें सहयोगपूर्वक सहन करेंगे। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि प्राचीन व नवीन ज्ञान और संस्कृति का परस्पर आदान-प्रदान होता रहता ही है तथा सम्पूर्ण प्रजा को चाहिए कि मार्ग में जो भी दैवी बाधाएँ आवें उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सहा जाय।

तुलनात्मक दृष्टि—गुप्तजी ने अपने 'दिवोदास' नामक काव्यरूपक में

भी दिवोदास से यही कहलाया है कि देवताओं को घर बैठ कर अपने यज्ञ भाग को भोगने का अधिकार है—

देव मात्र घर बैठ भोगें निज मख-भाग-पराग।
किन्तु पंच-तत्वों का हमको है कितना अधिकार,
करे न कोई कभी कहीं भी उसमें विघ्न-विकार।

—पृथ्वीपुत्र : मैथिलीशरण गुप्त

सह सकना·····अचीती। (पृष्ठ ५७)

संकेत—इन पंक्तियों में सहनशीलता को मानवमात्र का आवश्यक गुण मानकर संघशक्ति का महत्व प्रतिपादित किया गया है।

शब्दार्थ—इष्ट = चाहा हुआ, जिसकी इच्छा की गयी हो। संघ-सम्पदा = सामूहिक शक्ति। दावानल = भीषण अग्नि। धार = विपत्ति। अचीती = अनसोची, जिस पर ध्यान भी न गया हो।

व्याख्या—बलराम अपने साथियों से कह रहे हैं कि कर्मक्षेत्र में हमें जो दैवी बाधाएँ सहना पड़ें उनसे हमें भयभीत न होना चाहिए क्योंकि सहनशीलता ही मनुष्य का सर्वप्रमुख गुण है और सहनशक्ति से बढ़कर कोई अन्य शक्ति नहीं है तथा इसके अतिरिक्त हमे और किसी प्रकार की अभिलाषा भी न करनी चाहिए। बलराम ब्रजमंडल के कष्टों का सांकेतिक उल्लेख करते हुए कहते हैं कि सामूहिक शक्ति के आधार पर ही हमने कठोर विपत्तियों से छुटकारा पाया है और अपनी इसी सामूहिक शक्ति के बल पर हम तृणावर्त्त की आँधी व दावानल की विपत्ति से छुटकारा पा सके अतः हमें यह न भूलना चाहिए कि न जाने कब किसी अनसोची विपत्ति का सामना हमें पुनः करना पड़े इसलिए सहनशीलता व सामूहिक शक्ति-निर्माण ही हमारे लिए आवश्यक है।

टिप्पणी—कवि यहाँ वर्तमान युग के लिए संघशक्ति को ही सबसे बड़ी शक्ति मानता है और उसने पौराणिक घटनाओं का भी उल्लेख किया है। कहते हैं कंस ने कृष्ण को नष्ट करने के लिए तृणावर्त्त नामक एक राक्षस को भेजा था जिसने कि ब्रजमंडल में एक भयंकर आँधी का रूप धारण कर प्रवेश किया और इस आँधी से जब ब्रजवासी भयभीत होने लगे तब कृष्ण ने सबसे मिल-

जुल कर उसका सामना करने के लिए कहा और उनकी बात मानकर वह उस आँधी से अपनी-अपनी रक्षा कर सके। इसी प्रकार एक बार ब्रज में भीषण आग लग गयी थी जिसका सामना भी ब्रजवासियों ने सामूहिक रूप से ही किया था।

अलंकार—अनुप्रास।

अपने मरने-जीने.....परिवर्तनशील। (पृष्ठ ५८)

संकेत—इन पंक्तियों में संसार की परिवर्तनशीलता को स्वीकार किया गया है।

शब्दार्थ—लेखें = समझें। गिरि = पर्वत। जगती = धरती, पृथ्वी।

व्याख्या—बलराम ग्वालबालों को सम्बोधित कर कहते हैं कि यह संसार तो परिवर्तनशील है यहाँ परिवर्तन का अर्थ ही वास्तविक उन्नति है अतः हमें मृत्यु व जीवन को भी नियति का परिवर्तन समझना चाहिए। उनका कहना है कि मरना-जीना तो एक प्रकार से प्राकृतिक परिवर्तन ही है अर्थात् इस सृष्टि मे मरना-जीना लगा ही रहता है और जो आज उत्पन्न हुआ है कल अवश्य ही नष्ट भी होगा क्योंकि इस सृष्टि में परिवर्तन का चक्र अपनी अविराम गति से चलता रहता है। उदाहरण देते हुए वह कहते हैं कि आज सृष्टि में जहाँ ऊँचे-ऊँचे पर्वत हैं कल वहीं समुद्र भी हो सकते हैं और अपने इस परिवर्तन में ही सृष्टि अपना नवीन रूप धारण करती है।

तुलनात्मक दृष्टि—स्वयं मैथिलीशरण जी गुप्त ने परिवर्तन को उन्नति मानते हुए एक स्थल पर कहा भी है **"परिवर्तन ही यदि उन्नति है तो हम आगे बढ़ते जाते हैं"** और परिवर्तन का महत्व स्वीकार करते हुए पंत जी भी यही कहते हैं—

तुम्हारा ही अशेष व्यापार,
हमारा भ्रम, मिथ्याहंकार;
तुम्हीं में निराकार साकार,
मृत्यु-जीवन सब एकाकार !

अहे महा बुधि ! लहरों से शतलोक, चराचर,
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर;
तुंग-तरंगों-से शत युग, शत शत कल्पान्तर,
उगल, महोदर में विलीन करते तुम सत्वर;
शत-सहस्र रवि-शशि, असंख्य ग्रह, उपग्रह, उडुगण,
जलते, बुझते हैं स्फुलिंग-से तुममें तत्क्षण;
अचिर विश्व में अखिल दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरंतन;
अहे विवर्तन-हीन विवर्तन !

—पल्लव : श्री सुमित्रानंदन पंत

नियति का महत्व भारतीय व यूरोपीय साहित्य दोनों में ही समान रूप से माना गया है तथा संस्कृत-साहित्य में तो नियति के स्वरूप की विवेचना भी की गई है और **योगवाशिष्ठ** के प्रकरण २, सर्ग १०, श्लोक १ में कहा भी गया है—

यथास्थितं ब्रह्मतत्वं सत्ता नियतिरुच्यते ।
सा विनेतुर्विनेत्वं सा विनेय विनेयता ।।

इसी प्रकार एक पाश्चात्य विद्वान् ने भी नियति के प्रभुत्व को स्वीकार करते हुए कहा है—

इन्द्र वृष्टि.....किसका । (पृष्ठ ५८)

संकेत—कवि ने इन पंक्तियों में आदर्श की अपेक्षा यथार्थ को अपनाना ही आवश्यक माना है ।

शब्दार्थ—वृष्टि = वर्षा । उर्वि = पृथ्वी ।

व्याख्या—बलराम अपने साथियों से कहते हैं कि यह सत्य है कि इन्द्र वर्षा करते हैं लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि उस वर्षा का उपयोग हम पृथ्वी-वासी ही करते हैं अर्थात् इन्द्र देवता जो जल धरती पर बरसाते हैं उसका सदुपयोग मनुष्य बैठा हुआ आकाश की ओर ताकता रहे तो फिर वह कुछ भी न कर सकेगा । इसका अर्थ यह है कि आकाश की ओर देखने से ही वर्षा नहीं होगी और

यदि वर्षा हो चुकी हो तथा वह आकाश की ओर देखता हुआ चुपचाप निष्क्रिय बैठा रहे तो फिर उस जल का वह कुछ भी उपयोग न कर सकेगा। इस प्रकार वह मनुष्य होते हुए भी जड़ ही बना रहेगा। बलराम का कहना है कि जल-वृष्टि तो निश्चय ही धरती पर होगी और आकाश तो इस वर्षा में केवल सहयोगी मात्र ही देता है तथा यदि हम विचारपूर्वक देखें तो यह जल पृथ्वी का ही जो आकाश के पास संचित होता रहता है और कालांतर में धरती पर वर्षा द्वारा आता है। इस प्रकार पृथ्वी व आकाश का यह विभाजन केवल सुविधा की ही दृष्टि से है अन्यथा दोनों की विभूतियों का समन्वय फलदायी होता है।

टिप्पणी—इन पंक्तियों में पृथ्वी व स्वर्ग की विभूतियों का समन्वय कर कर्मण्यता की भावना को श्रेय माना गया है।

अलंकार—अनुप्रास।

अंतरिक्ष.....भरणी। (पृष्ठ ५६)

संकेत—इन पंक्तियों में धरती का महत्व स्वीकार किया गया है।

शब्दार्थ—वसुधा = धरती, पृथ्वी। आश्वासी = जिसे आश्वासन प्राप्त हुआ हो। धात्री = धारण करने वाली।

व्याख्या—बलराम अपने साथियों से कह रहे हैं कि हम सभी आकाश के नहीं बल्कि इस धरती के निवासी हैं और हमें इस पृथ्वी का निवासी होने के कारण अपने आपको गौरवान्वित भी समझना चाहिए क्योंकि इस धरती की सरस सुगन्ध व गुणों की आकांक्षा देवता भी करते हैं। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि हमें पृथ्वी का निवासी होने पर गर्व होना चाहिए और हम यह न सोचें कि स्वर्ग ही सब कुछ है क्योंकि स्वयं देवता भी इस पृथ्वी पर जन्म लेने की अभिलाषा रखते हैं।

बलराम पृथ्वी का महत्व स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि यह पृथ्वी गोरूप-धारिणी है अर्थात् जिस प्रकार गाय हमारी मनोकामनाएँ पूर्ण करती है उसी प्रकार अन्न, धन व हरियाली से पूर्ण यह धरती मनुष्य की सभी इच्छाओं को

पूर्ण करने की क्षमता रखती है। साथ ही यह चर-अचर सब कुछ धारण करती है और समस्त संसार का पालन करने वाली है तथा वह इतनी अधिक उदार है कि सम्पूर्ण सृष्टि का भार ग्रहण कर उसका पालन भी करती है।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद्यांश में कवि ने धरती का महत्व मुक्तकंठ से स्वीकार किया है और मनुष्यों को यह प्रेरणा दी है कि वह स्वर्ग की चिंता करना छोड़ धरती का महत्व स्वीकार करें। काव्यगत विशिष्टताओं की दृष्टि से भी यह अंश उल्लेखनीय है और उसमें रागात्मकता व ध्वन्यात्मकता आदि गुणों के साथ-साथ शब्द-सौष्ठव भी विद्यमान है।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्तिप्रकाश।

सर्वंसहा·····बाँटे। (पृष्ठ ५६)

संकेत—इन पंक्तियों में पृथ्वी के महत्व का वर्णन करते हुए कवि ने श्रम की उपयोगिता प्रतिपादित की है।

शब्दार्थ—सर्वंसहा = सब कुछ सहन करनेवाली। आयुध = अस्त्र।

व्याख्या—बलराम ग्वालबालों को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि हमारी यह धरती अत्यन्त सहनशीला है अर्थात् यह सब कुछ सहन करने की क्षमता रखती है और इसमें क्षमता करने की भावना भी बहुत अधिक है तथा इसे ममता की साक्षात् प्रतिमा ही मानना चाहिए। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि हमारी पृथ्वी माता की भाँति प्रत्येक व्यक्ति के साथ समता व स्नेह की व्यवहार करती है और जो भी उसकी शरण में आता है उसे अपनी गोद में ले लेती है। वह अपने साथियों से कहते है कि इस पृथ्वी की उन्नति करना ही हमारा सर्वाधिक महान् व पुनीत कर्त्तव्य है अतः हम सब का अस्त्र हल ही होना चाहिए और हल धारण करके ही हम इसके काँटों को दूर कर सकते हैं तथा इन तृणों के नष्ट हो जाने पर हम अपने हर प्रयत्नों से पृथ्वी को हरी-भरी बना सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य कठिनाइयों व कष्टों को दूर कर इस भूलोक में ही आनन्द पा सकता है।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्ति प्रकाश।

अपने ब्रज·····वारो । (पृ० ६०)

संकेत—इन पंक्तियों में जन्मभूमि का महत्व स्पष्ट करते हुए देश-प्रेम व राष्ट्रीयता की भावना अभिव्यक्त की गई है।

व्याख्या—बलराम का कहना है कि हमारी जन्मभूमि ब्रज में सर्वविभूतियाँ सुलभ है अर्थात् हमे इधर-उधर भटकने की अपेक्षा अपनी इस जन्मभूमि मे प्राप्त होने वाली समस्त वस्तुओं मे ही सतोष करना चाहिए। उनका कहना है कि हम सब ग्वालबाल अपनी गायों का दूध पीकर वीर बनें और अकेले ही सैकड़ो अन्यायी कंसों को ललकारें तथा अपनी पुण्यभूमि ब्रज पर अपना तन, मन, धन सब कुछ न्यौछावर कर दें। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य को अपनी जन्मभूमि से सर्वाधिक प्रेम होना चाहिए और यदि मनुष्य चाहे तो वह सैकड़ों अन्यायियो का सामना अकेले ही कर सकता है।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्ति प्रकाश।

यही हमारे·····गोवर्धन तो। (पृष्ठ ६०)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में बलराम ने गोवर्धन पर्वत का महत्व प्रतिपादित किया है।

व्याख्या—बलराम अपने साथियों से कह रहे है कि हमे इस ब्रजभूमि के गोवर्धन पर्वत को ही अपना सर्वप्रमुख देवता मानना चाहिए और चाहे कैसी ही परिस्थितियाँ क्यों न आवें हमे अपने इस देवता को न भुला देना चाहिए कारण कि हमारा जितना अधिक कल्याण इनसे संभव है उतना अन्य किसी देवता से नही। उनका कहना है कि गोवर्धन के अतिरिक्त हमारा कोई अन्य देवता नही है जिसे कि हम आहुति दें और हमे यह न भूल जाना चाहिए कि जिस आकाश में रहने वाले ब्रह्म की हम कल्पना करते है वह स्वयं देवत्व से भी परे हैं तथा हम गरलतापूर्वक उस तक नही पहुँच सकते। वह कहते है कि यदि हमारी भावना सच्ची होगी तो हम कंकर में भी भगवान शिवशंकर के दर्शन कर सकते हैं और फिर यह गोवर्धन तो एक पर्वत ही है अतः हम सबको उसकी उपासना ही करनी चाहिए।

टिप्पणी—कवि ने यहाँ उपासना में भावना का महत्व माना है।

पुरखे·····तामस हो ! (पृष्ठ ६१)

संकेत—इन पंक्तियों में कर्मकांड व हिंसात्मक यज्ञों की आलोचना की गई है।

व्याख्या—बलराम कह रहे हैं कि हमारे पूर्वज त्याग-भावना से युक्त होकर यज्ञ करते थे लेकिन आधुनिक कर्मकांडी यज्ञों में तनिक भी त्याग की भावना नहीं रही अपितु भयंकर हिंसा व घमंड ही विशेष रूप में दीख पड़ता है अर्थात् इन यज्ञों में त्याग के स्थान पर स्वार्थपूर्ति को ही प्रधानता दी गई है और यज्ञ करने वालों की तृष्णा रुधिर के झरनों से भी शांत नहीं होती अर्थात् यज्ञ में पशुबलि देते समय रक्त के झरने से बहने लगते हैं पर इससे याज्ञिकों[1] की शांति नहीं होती और वह उत्तरोत्तर अत्याचार करते हैं।

बलराम अपने साथियों से कहते हैं कि सच तो यह है कि मनुष्य देवी-देवताओं की उपासना की आड़ लेकर अपनी स्वार्थी प्रवृत्तियों का ही पोषण करता है अर्थात् मनुष्य अपनी राक्षसी व पाशविक प्रवृत्तियों की पूर्ति हेतु यज्ञ का बहाना बनाता है परन्तु यह भी सत्य है कि उसे इसमें अमृत कदापि नहीं मिल सकता क्योंकि वह तो देवी-देवताओं का विष के समान मृतक पिंड ही है जो उसे निस्संदेह नष्ट कर देगा। बलराम कह रहे हैं कि धर्म सर्वत्र ही सात्विक रूप में रहता है और जो साहसी व शक्ति-सम्पन्न हैं वह अवश्य यज्ञ जैसी राजसी उपासना को अपनावें पर यदा-कदा तामसी कर्म करने वाला सात्विक योगी ही धर्म का पालन कर सकता है।

टिप्पणी—इन पंक्तियों में हिंसात्मक यज्ञों का विरोध करते हुए धर्म की सात्विकता पर प्रकाश डाला गया है।

ब्राह्मण था·····देगा ? (पृष्ठ ६२)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में विधृता की कथा का सांकेतिक चित्रण मात्र है।

शब्दार्थ—वृक = भेड़िया। नक्र = मगर।

व्याख्या—बलराम ग्वालबालों से कह रहे हैं कि हमारी समझ में नहीं

आता कि हम उस याज्ञिक को ब्राह्मण कहें या भेड़िया जिसने कि निर्दयता व निर्लज्जतापूर्वक अपनी पत्नी को कृष्ण के पास जाने से रोक दिया और उसका यह कार्य उसी भेड़िए के समान है जो कोमल हिरणी को दबोचता है। कवि ने यहाँ उस ब्राह्मण को भेड़िया और उसकी गृहणी को कोमल हिरणी मानते हुए कहा है कि उस ब्राह्मण का कार्य भेड़िए के समान था और उसकी क्रूरता व निर्लज्जता के कारण ही वह ब्राह्मणी कोमल हिरणी की भाँति घर में छटपटाती रह गई। बलराम अपने साथियों से पूछते है कि क्या ऐसा क्रूर व भाग्यहीन ब्राह्मण मंत्रजाल के बल पर स्वर्ग प्राप्त कर सकता है और फिर वह स्वयं कहते हैं कि जहा तक मेरा विचार है वह ब्राह्मण वैतरणी नदी की भयंकर भँवरों व घड़ियाल आदि पशुओं से अपनी रक्षा करने मे असमर्थ ही रहेगा।

टिप्पणी – कहते है कि स्वर्ग जाते समय रास्ते में वैतरणी नदी पड़ती है और जो उसे पार कर लेता है वही स्वर्ग जा सकता है।

अलंकार—अनुप्रास, उपमा और रूपक।

इष्ट एक.....बलिदानी ! (पृष्ठ ६२)

संकेत—इन पंक्तियों मे हिंसात्मक यज्ञों का विरोध किया गया है।

शब्दार्थ—हय-मेध हेतु = घोड़े की मृत्यु के लिये। यूप = यज्ञ-स्तम्भ। शृगाल = सियार।

व्याख्या—बलराम अपने साथियों से कह रहे है कि विशाल साम्राज्य हेतु हमारे यहाँ जिस अश्वमेध यज्ञ का प्रचार था उसमें भी केवल एक ही अश्व प्राप्त था पर आधुनिक युग में तो सौ-सौ पशु यज्ञ-स्तम्भ से बँधे पड़े है और उनकी चर्बी वहीं पड़ी मिलती है। बलराम का कहना है कि कुल-श्रेष्ठ मानव होते हुए भी हम शृगाल हो गये हैं कारण कि पशु का माँस खाते हैं और इस प्रकार सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर की उपासना छोड़कर पशुबलि के समर्थक हो गये हैं अर्थात् हिंसक हैं।

टिप्पणी—कवि ने यहाँ कर्मकांडी याज्ञिकों की मनोवृत्ति की कटु आलोचना की है।

यज्ञ-वेदियाँ.....अनुमोदन हो। (पृष्ठ ६३)

संकेत—कवि बलराम के माध्यम से यहाँ हिंसात्मक यज्ञों का विरोध कर रहा है।

शब्दार्थ—कौटिक = कौतिक, भाला चलाने वाली। कौटिक कुटिया = हत्या करने का स्थान, हत्याघर। आदन = पके हुये चावल, भात।

व्याख्या—बलराम का कहना है कि यह यज्ञ-वेदियाँ नहीं है अपितु उन्हें हत्या करने का स्थान ही समझना चाहिये अर्थात् याज्ञिकों में अब पहले जैसी शुद्ध त्याग की भावना नहीं रहा और वह तो यज्ञ के बहाने अपनी हिंसात्मक प्रवृत्तियों का पोषण करते हैं अतः यह यज्ञ-कुंड हिंसा करने के स्थान ही है जहाँ कि निरपराध व असहाय पशुओं की बलि दी जाती है। बलराम कह रहे हैं कि देवता तो भक्ति व श्रद्धा का ही देखते है और वह व्यंजनों से आकर्षित व प्रसन्न नहीं होते अर्थात् हम भक्ति व श्रद्धापूर्वक देवताओं को जो भी अर्पण कर देते है वह स्वीकार कर लेते है अतः यह कहना कि इन पशुयज्ञो से देवता प्रसन्न होते होंगे उचित नहीं है। बलराम कहते हैं कि देवताओ के समर्पण के लिये तो दूध, दही, घी, शक्कर, देवान्न व चावल आदि ही पर्याप्त है और वेद की श्रुतियों में इन वस्तुओं को देवताओं की उपासना हेतु उचित माना गया है तथा इनका विरोध नहीं किया गया अतः हमें चाहिये कि इन्हीं के द्वारा देवों की उपासना करें क्योंकि श्रुतियाँ भी इनका समर्थन करती है और हिंसात्मक यज्ञों को बन्द कर दें।

अलंकार—अनुप्रास और संदेह।

जिसको जब.....करना! (पृष्ठ ६३)

संकेत—इन पंक्तियों मे कवि ने देवोपासना के लिए बाह्याचारों की व्यर्थता स्वीकार करते हुए कहा है कि जिसे जो कुछ भी सरलतापूर्वक प्राप्त हो उसी का नैवेद्य चढ़ाना चाहिये।

शब्दार्थ—रसना = जीभ, जिह्वा। मिस = बहाना। आत्मघाती = अपने हाथों स्वयं अपना संहार करना।

व्याख्या—बलराम कह रहे हैं कि देवताओं की उपासना के लिए हमें किसी भी प्रकार का आडम्बर करने की आवश्यकता नहीं है और इस प्रकार देवताओं के सम्मुख नैवेद्य चढ़ाते समय किसी भी दुर्लभ पदार्थ की आवश्यकता नहीं है क्योंकि भगवान तो भक्त की श्रद्धा व भक्ति ही देखते हैं अतः हमें जो कुछ भी सरलता व सुविधापूर्वक प्राप्त हो जाय उसका ही नैवेद्य चढ़ाना चाहिये और नैवेद्य चढ़ाने के बहाने अपनी जीभ की लोलुपता को शांत करना अपना उद्देश्य न होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि बहुत से लोग यह कहते फिरते हैं कि भगवान को अमुक वस्तु का प्रसाद चढ़ना चाहिये परन्तु वास्तव में वह अपनी जीभ की लोलुपता-वश ही देवताओं को नैवेद्य चढ़ाते हैं। इस प्रकार नैवेद्य चढ़ाने के बहाने पशुहिंसा भी उचित नहीं है क्योंकि देवता साधारण पूजा-पाठ व वस्तुओं से प्रसन्न हो जाते हैं। बलराम का कहना है कि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जन्म-मरण कुछ भी नहीं है और जीने-मरने का मैं कुछ भी महत्व नहीं मानता क्योंकि आत्मा तो अजर-अमर है और उसका न तो कभी जन्म ही होता है और न विनाश ही होता है अर्थात् जन्म-मरण एक बहती हुई धारा के दो रूप हैं तथा मृत्यु के बाद नवीन जीवन धारण करना संभव ही है और इसी प्रकार जो पैदा होता है वह मरता भी है। बलराम कह रहे हैं कि जो व्यक्ति हिंसा करता है या किसी को भी आघात पहुँचाता है वह आत्मघाती ही है और स्वयं अपने आप का हत्यारा है।

अलंकार—अनुप्रास और अपन्हुति।

गो-द्विज-द्वेषी.....होगा। (पृष्ठ ६४)

संकेत—इन पंक्तियों में बलराम अपने साथियों में उत्साह की भावना जाग्रत कर उन्हें अन्यायी कंस का विरोध करने के लिए प्रेरणा दे रहे हैं।

व्याख्या—बलराम ग्वालबालों से कह रहे हैं कि गायों और ब्राह्मणों के द्वेषी कंस का अत्याचार अब अपनी चरम सीमा को पहुँच रहा है और वह दुष्ट अत्याचारी गायों व ब्राह्मणों का दमन करने के साथ-साथ यज्ञ की मूल पवित्र भावना को भी नष्ट कर हिंसा को प्रश्रय दे रहा है। उनका कहना है कि कंस अपने इन कार्यों से स्वयं अपने लिए मृत्यु को आमंत्रित कर रहा है और इस

प्रकार उसकी मृत्यु निश्चित् ही है अतः हम सबको इस बात का खेद न होना चाहिये कि हम सब सामान्य ग्वालबाल हैं बल्कि हमें तो अपने गोप-पद पर गर्व होना चाहिये और वास्तव में गोप-पद किसी से भी कम नहीं है तो तथा उत्साह-पूर्वक अत्याचार का दमन करने के लिये अपने आपको बलिदान देने के हेतु तैयार रहना चाहिए। इस प्रकार बलराम अपने साथियों को अत्याचार का दमन करने के लिये प्राणों का बलिदान देने के लिये हमेशा तैयार रहने को कहते हैं।

अलंकार—अनुप्रास।

न्याय-धर्म.....अजा हो। (पृष्ठ ६४)

संकेत—इन पंक्तियों में कवि ने आदर्श प्रजा की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए बलराम द्वारा ग्वालबालों को सत्य की रक्षा के लिये अन्याय का विद्रोह करने की प्रेरणा दी है।

शब्दार्थ—ऋत-हित = सत्य के लिये। अलग अन्यान्य। अजा = बकरा। नियोज्य = जो नियुक्त करने योग्य हो, नियुक्त किया हुआ।

व्याख्या—बलराम अपने साथियों से कहते हैं कि तुम्हें न्याय व धर्म के लिये हमेशा लड़ने को तैयार रहना चाहिये और इस प्रकार तुम सब सत्य को पहिचान कर निर्भयतापूर्वक अन्यायी राज्य-शासन व अत्याचारी राजा से युद्ध करने के लिए प्रस्तुत रहो। इसका अर्थ यह है कि हम सब न्याय, धर्म व सत्य की रक्षा के लिये अन्यायी राजा का विरोध भी कर सकते हैं और अवसर पड़ने पर उससे लड़ भी सकते हैं। बलराम ग्वालबालों को सम्बोधित कर कहते हैं कि यदि तुम सब संगठित होकर अटल, दृढ़-सम्पन्न प्रजा बनो तो राजा की नियुक्ति करने का अधिकार भी तुम्हें ही है अर्थात् तुम्हीं अपना राजा चुन सकते हो और यदि तुम अत्याचार का सामना नहीं करते तो निश्चय ही तुम्हारी दशा बलि-दान के बकरे से अधिक नहीं है क्योंकि राजा तुम्हारे साथ निर्दयतापूर्वक व्यवहार ही करता है।

टिप्पणी—प्रस्तुत पद्यांश में कवि ने प्रजा को संगठित होकर अन्यायी राजा का विरोध करने की प्रेरणा दी है और इस प्रकार इन पंक्तियों में सभसामयिकता है राष्ट्र पर बलिदान होने की भावना भी है।

प्रस्तुत·····रहो हम को। (पृष्ठ ६५)

संकेत—इन पंक्तियों में बलराम अपने साथियों के हृदय में क्रांति की भावना जाग्रत कर रहे हैं।

व्याख्या— बलराम अपने साथियों को सम्बोधित कर कहते हैं कि तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि कृष्ण अब अत्याचारी व अन्यायी कंस को भस्म करने के लिए नवीन यज्ञ की रचना करने ही वाले हैं अतः हम सबको वेद-विहित रूढ़ि परम्पराओं के प्रति विद्रोह करने के लिए तैयार रहना चाहिए। उनका कहना है कि कंस के पाप का घड़ा भर चुका है अतः अब उसका विनाश निश्चित ही है और अब हम सब मिलकर निर्मम मोह के प्रति विद्रोह करेंगे तथा हमें आगे बढ़ने से कोई नहीं रोक सकता। बलराम कह रहे हैं कि हम अब यमराज को भी चुनौती देने का साहस रखते हैं और यदि हमें प्रलय के भयंकर दृश्य भी देखने पड़ें तो नवीन सृष्टि का निर्माण करने के लिए हम उनका भी स्वागत करने को प्रस्तुत हैं अर्थात् नूतन सृष्टि-निर्माण के लिए प्रलयंकारी विद्रोह करने का उत्साह भी हम सबमें है।

अलंकार—अनुप्रास और रूपक।

ग्वालबाल (पृष्ठ ६६-७४)

पृष्ठभूमि— कृष्ण के जीवन-वृत्त से ग्वालबालों का स्वाभाविक ही घनिष्ट सम्बन्ध है अतः द्वापर के कवि ने अपनी कृति में 'ग्वालबाल' नामक खंड की योजना कर उन ग्वालबालों के आत्मोद्गारों में कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित कतिपय घटनाओं का चित्रण किया है।

अरे पलट·····गिरिधारी-गोपाल की। (पृष्ठ ६६-६७)

संकेत—इन पंक्तियों में ग्वालबाल कृष्ण को अपना भ्राता मानते हुए उनके महत्व का वर्णन कर रहे हैं :

शब्दार्थ—अच्युत = अविनाशी।

व्याख्या—ग्वालबाल परस्पर वार्तालाप करते हुए कहते हैं कि हमारे इस कृष्ण ने तो समय की गति ही परिवर्तित कर दी है और हम सभी अपने उस

गिरिधारी गोपाल पर बलि-बलि जाते हैं। उनके कहने का अर्थ यह है कि कृष्ण ने अपने शौर्यपूर्ण कार्यों से युग की गति को ही परिवर्तित कर दिया है और कई अनहोनी घटनाएँ कर दिखायी हैं। ग्वालबाल कहते है कि कृष्ण अविनाशी है और उन्होंने हम सबको नूतन गति व प्रेरणा प्रदान की है तथा वह इतने शक्तिशाली है कि चाहे जो भी स्थिति व स्थान हो वह सब कुछ ठीक कर लेते है अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति में वह कुशलतापूर्वक कार्य करने में दक्ष है। ग्वालबाल कह रहे हैं कि कृष्ण चतुर नागर नटवर होते हुए भी हम सबके शिरमौर है अर्थात् हम सबको शिरोधार्य है। या हमे यों भी कह सकते है कि वह सब ग्वालबालों के लिए पूज्य है और सभी ग्वालबाल उनके हाथी-घोड़े हैं तथा यमुना उनकी पालकी है। अंत में वह पुनः कहते हैं कि हम सब उस गोवर्धनधारी गोपाल की जय-जयकार पुकारते है और उस पर बलि-बलि जाते हैं।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्तिप्रकाश।

हम मृग.....गोपाल की। (पृष्ठ ६७-६८)

संकेत—इन पंक्तियों में ग्वालबाल कृष्ण से अपने अभिन्न सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए उन्हें लोकत्राता के रूप में अंकित कर रहे है।

शब्दार्थ—मद = कस्तूरी। कोट = कीड़े-मकोड़े।

व्याख्या—ग्वालबाल कहते हैं कि हम सबका कृष्ण से अभिन्न सम्बन्ध है और उनसे हमारा सम्बन्ध कभी भी समाप्त नहीं हो सकता है तथा यदि हम हिरण है तो कृष्ण हिरण की नाभि में रहने वाली कस्तूरी के समान है। उनका कहना है कि कृष्ण से सम्बन्ध रहने के कारण ही हम सब अमर से है और कृष्ण के गुण व शौर्य की गंध से भय के कीट आप ही आप भाग गए तथा न जाने कितने ही मोह के वशीभूत अंधे होकर कितने ही राक्षस उनके सामने नष्ट हो गए। साथ ही कृष्ण का वक्षस्थल अत्यन्त पुष्ट है और उनकी छाती की तुलना किसी ढाल से भी नहीं की जा सकती है अर्थात् ढाल की अपेक्षा वह न केवल बहुत ही दृढ़ है अपितु जब भी ग्वालबालों पर विपत्ति पड़ती है तो वही इन विपदाओं का सामना भी करते हैं। इस प्रकार ग्वालबाल कहते हैं कि हम सबको उस गिरधारी गोपाल पर बलिहारी जाकर उनकी जय-जयकार करनी चाहिए।

अलंकार—उपमा, रूपक और अनुप्रास।

मुरली·····गोपाल की। (पृष्ठ ६८)

संकेत—यहाँ ग्वालबाल कृष्ण का स्मरण लोकरक्षक व लोकरंजक नेता के रूप में कर रहे हैं।

शब्दार्थ—असि = तलवार। हेम = स्वर्ण। शिखि-शेखर = मोर का मुकुट धारण करने वाला।

व्याख्या—ग्वालबाल कहते हैं कि मुरली ही कृष्ण की अपूर्व तलवार है और कृष्ण-प्रेम का विजयी भी है अर्थात् मुरली बजाकर वह—कृष्ण—सबको अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और सब उससे प्रेम करते हैं। उनका कहना है कि कृष्ण गोधन के धनी हैं और वह उदार भी हैं तथा उनका हाथ स्वर्ण का है अर्थात् वह उदारतापूर्वक स्वर्ण तक लुटाते हैं। साथ ही कृष्ण के माथे पर मोर मुकुट शोभायमान है और उन्हें सबके कल्याण की चिंता भी रहती है तथा उनकी श्यामता को देख यद्यपि राधा उन पर प्रेमजनित खीझ प्रकट करती है लेकिन उसने सभी श्यामता को अपने भाल का बिन्दु बना रखा है। इसका यह अर्थ भी किया जा सकता है कि इसी श्यामता से राधा प्रेम करती है। ग्वालबाल कह रहे हैं कि हम सब गिरिधर गोपाल पर बलिहारी होकर उसकी जय-जयकार करते हैं।

अलंकार—रूपक, अनुप्रास और लोकोक्ति।

खेल उसी का·····गिरिधारी-गोपाल की। (पृष्ठ ६९)

संकेत—इन पंक्तियों में ग्वालबाल अपना जीवन कृष्ण से अभिन्न मानते हैं।

व्याख्या—ग्वालबाल कह रहे हैं कि कृष्ण ही इस संसार की समस्त क्रीड़ाओं के सूत्राधार है और वह स्वयं खिलाड़ी व खिलौना हैं तथा उन्हीं के सब खेल हैं अर्थात् इस जगत की सभी क्रीड़ाएं उन्हीं पर निर्भर हैं। ग्वालबाल कहते हैं कि हमारी तो बस यही अभिलाषा है कि हम सब उनके साथ ही खेलते रहे और हमारी हार-जीत का निर्णय राधा द्वारा हो तथा हमें इन सांसारिक कष्टों की तनिक भी चिंता न हो क्योंकि कृष्ण जैसा साथी पाकर हमें स्वाभाविक ही

सांसारिक जंजालों की चिंता न करती चाहिए और हम सब ग्वालबाल उन्हीं कृष्ण पर बलिहारी जाकर उनकी जय-जयकार पुकारते हैं।

अलंकार—अनुप्रास।

चोरों को.....गिरिधारी-गोपाल की। (पृष्ठ ६६-७०)

संकेत—इन पंक्तियों में कृष्ण की माखन-चोरी लीला का सांकेतिक वर्णन है।

व्याख्या—ग्वालबाल कह रहे हैं कि हम सब कृष्ण के साथ विभिन्न लीलाओं में भाग लेते रहे हैं इसी और प्रकार व्रज-गोपियों का माखन चुराने भी हम सब जाते रहे हैं तथा हमारे इस समूह को चोर-मंडली कहा जाता है पर वास्तव में हम सब विनोद के धनी ही हैं अर्थात् विनोदवश ही माखन चुराते हैं। इसका अर्थ है कि माखन चुराना हमारा उद्देश्य नहीं रहता अपितु हम तो कौतुकवश ही कृष्ण के साथ माखन चोरी करने जाते हैं और चूंकि स्वयं गोपियाँ ही माखन चोरी होने पर प्रसन्न होती हैं अतः हम सरलता से माखन चुराने में सफल हो जाते हैं पर कभी-कभी छींके तक पहुँचकर भी पता लगाने की आशंका से हम सब भाग खड़े हैं। ग्वालबाल कहते हैं कि जिसमें आनन्द रस की प्राप्ति होती है वह बात भी बुरी नहीं है अर्थात् माखन-चोरी का हमारा यह कार्य अनुचित नहीं है और हम सब कृष्ण पर बलिहारी जाकर उनकी जय-जयकार पुकारते हैं।

अलंकार—संदेह।

उस दिन.....गिरिधारी-गोपाल की। (पृष्ठ ७०-७१)

संकेत—इन पंक्तियों में विधृता की कथा का सांकेतिक उल्लेख कर कृष्ण के गौरवपूर्ण कार्यों का उल्लेख किया गया है।

व्याख्या—ग्वालबाल कहते हैं कि एक दिन कृष्ण के साथ वन में विचरण करते समय जब हम सब लोगों को बड़ी भूख लगी तो कृष्ण ने हमें वहाँ भेजा जहाँ कि यज्ञ हो रहा था और हमने उनसे भोजन की प्रार्थना की तो उन याज्ञिक ब्राह्मणों ने हमें वैसा ही वापिस लौटा दिया। उनका कहना है कि उन ब्राह्मणों द्वारा दुत्कारे जाने पर जब हम कृष्ण के पास वापिस लौटे तो उन्होंने हमसे कहा

कि अब उन याज्ञिकों की स्त्रियों से भोजन के लिए कहो क्योंकि हो सकता है उनसे हमें भोजन प्राप्त हो जाय और कृष्ण की यह बात सुनकर जब हम उन द्विज-स्त्रियों के पास गये तो उन्होंने हमें अन्नपूर्णा बन भोजन अर्पित किया। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार माता अन्नपूर्णा भूखो को भोजन प्रदान करती है उसी प्रकार वह स्त्रियाँ भी अन्नपूर्णा बन गयी और इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोई भी माता किसी भी बच्चे का भूखा नहीं देख सकती अतः उन स्त्रियों ने हमारे प्रति माता का सा स्नेह दिखाया। ग्वालबाल कहते है कि उन स्त्रियों के पास हमें भेजने की अनोखी सूझ तो कृष्ण की ही थी और हमें उनकी इस विशाल बुद्धि की प्रशंसा ही करनी चाहिए तथा उनके इन्हीं गुणों के कारण हम सब उन पर बलिहारी जाकर उनकी जय-जयकार करते हैं।

ग्वालबाल कह रहे हैं कि उन द्विज-स्त्रियों में से एक ऐसी स्त्री भी थी जिसे कि उसके पति ने भोजन लेकर कृष्ण के पास आने से रोक दिया और इसमें कोई संदेह नहीं कि उस ब्राह्मण का यह कार्य राक्षसीपन का ही था तथा उस ब्राह्मण ने चाडाल का रूप धारण कर हमें कुछ भी न देने दिया तब उस ब्राह्मणी ने दुःखी होकर अपने प्राण त्याग दिए लेकिन उसकी यह मृत्यु उस बेचारी के लिए मंगलमय ही हुई क्योंकि इस प्रकार वह यदि जीवित रहकर कृष्ण के पास न पहुँच सकी तो उसकी आत्मा तो उन तक पहुँच ही गई।

ग्वालबाल कहते हैं कि कृष्ण ने हिंसात्मक यज्ञ का होना और इन्द्र की पूजा को भी रोक दिया तथा इन्द्र न जा पानी बरसा कर ब्रज को डुबा देना चाहा था उसमें भी वह असफल रहा अर्थात् वह ब्रज को भयभीत न कर सका और कृष्ण ने ब्रज की रक्षा की। ग्वालबाल कह रहे है कि स्वयं इन्द्र का जाल व गर्व नष्ट हो गया तथा हम सभी अपने गिरधारी गोपाल की बलिहारी जाकर उनकी जय-जयकार पुकारते हैं।

अलंकार—अनुप्रास और वीप्सा।

उठा लिया.....गिरिधारी-गोपाल की। (पृष्ठ ७१-७२)

संदेह—प्रस्तुत पद्यांश में गोवर्धन-धारण की कथा का उल्लेख हुआ है।

व्याख्या—ग्वालबाल कह रहे हैं कि जब इन्द्र ने यह देखा कि ब्रजवासी उसकी पूजा करना छोड़ गोवर्धन पर्वत की पूजा कर रहे हैं तो उसने क्रोधित होकर मूसलाधार वर्षा से ब्रज को डुबा देना चाहा पर कृष्ण ने उस पर्वत को धारण कर समस्त ब्रजवासियों को उसकी छाया में रख उनकी रक्षा की। ग्वाल-बाल कहते हैं कि कृष्ण ने इस प्रकार इन्द्र के गौरव रूपी रस को भँवरा बनकर पान कर लिया तथा गोवर्धन पर्वत को धारण करते समय उन्हें किंचित्मात्र ही थकावट आई और उनके कमल सदृश मुख पर पसीने के बिन्दु झलकने लगे। इसका अर्थ यह है कि गोवर्धन पर्वत को धारण करने समय उन्हें कष्ट नहीं हुआ और न उन्होंने साहस ही छोड़ा अपितु उसे धारण कर उसके आश्रय में ब्रज-वासियों की रक्षा की और उस गोवर्धन पर्वत की घाटियाँ नगरों के समान हो रही थीं या फिर पातालपुरी की परियाँ थीं तथा उनके इन्हीं गुणों से हम सभी ग्वालबाल कृष्ण की जय-जयकार करते हैं।

गोवर्धन-धारण की लीला का वर्णन करते हुए ग्वालबाल कहते हैं कि गोवर्धन को धारण करने के पश्चात् हँस कर जब कृष्ण ने यह कहा है कि यह सब प्रलय राधा के नेत्रों से बहते हुए अश्रुओं के कारण ही हुई है और राधा जो नेत्रों में अश्रु भरे रहती है उसी ने यह प्रलय मचा दी है तब राधा नाराज नहीं हुई अपितु उनका—राधा का—कुसुम-शरीर पुलकित हो गया और उसने तिरछे होकर कृष्ण की ओर देखते हुए अपनी कुटिल भृकुटी टेढ़ी की। ग्वाल-बाल कहते हैं कि हम सब उन्हीं कृष्ण पर बलिहारी जाकर उनकी जय-जयकार मनाते हैं।

अन्य विशेषताएँ—काव्यगत विशिष्टताओं से पूर्ण इस पद्यांश में रति व उत्साह भाव का सुन्दर समन्वय है और भाषा-शैली भी सराहनीय है।

अलंकार—रूपक, उपमा, संदेह और अनुप्रास।

तुलनात्मक दृष्टि—इसी प्रकार बिहारी ने भी कहा है—

प्रलय करन बरसन लगे जुरि जलधर एक साथ।
गिरधारी राखे सबै सब गोपी-गोपाल॥

और भी—

डिगति पानि डिगुलात गिरि, लखि सब ब्रज बेहाल।
कंप किशोरी के दरस, खरे सकाने लाल॥

वह गरुड़ध्वज·····गिरधारी गोपाल की (पृष्ठ ७३-७४)

संकेत—इन पंक्तियों में कृष्ण की कुछ अलौकिक लीलाओं का चित्रण किया गया है।

व्याख्या—ग्वालबाल कह रहे हैं कि कंस का भेजा हुआ बकासुर राक्षस हमें निगल जाना चाहता था परन्तु गरुड़ध्वजधारी कृष्ण मत्स्य न थे जिन्हें वह आसानी से निगल जाता अतः उन्होंने उस राक्षस का सरलतापूर्वक संहार कर हम सबकी रक्षा की। इसी प्रकार अलौकिक शक्ति-सम्पन्न कृष्णा ने अजगर का रूप धारण किए हुए अघासुर राक्षस से भी ब्रज की रक्षा की और सहृदय होकर कालिय नाग को यमुना से निकाल दिया तथा भीषण दावानल का स्वयं पान कर हम सबको बचाया अतः हम सब उन्हीं गिरधारी गोपाल की बलिहारी जाकर उनकी जय-जयकार मनाते हैं।

ग्वालबाल कहते हैं कि इन्द्र ने जब ब्रज को बहा देने के लिए मूसलाधार वृष्टि की तो उस जल को तो यमुना बहा ले गयी और कृष्ण ने ब्रजमंडल की रक्षा का इन्द्र का गर्व चकनाचूर कर दिया। ग्वालबाल कह रहे हैं कि इस प्रकार कृष्ण की कृपा से प्रलय के दिन बीत गए और सुखशांति का दिन आ गया तथा चारों ओर हरियाली ही हरियाली अर्थात् प्रसन्नता ही प्रसन्नता दीख पड़ती है तथा नवीन समाज का जन्म हो रहा है। ग्वालबाल कहते हैं कि यशोदा का लाल अब पुनः चैन को वंशी बजाएगा और हम सब भी उसकी बलिहारी जाकर जय-जयकार पुकारते हैं।

अलंकार—अनुप्रास।

निर्मल नीलाकाश·····गिरिधारी-गोपाल की। (पृष्ठ ७४)

संकेत—ग्वालबाल यहाँ रासलीला का सांकेतिक चित्रण कर रहे हैं।

व्याख्या—ग्वालबाल कह रहे हैं कि निर्मल नीला आकाश चंद्रिका से पूर्ण है अर्थात् नीले आकाश में चन्द्रिका की शुभ्र स्वच्छ छटा विद्यमान है और पूर्ण

चन्द्र उदय हो रहा है तथा उसका प्रतिबिम्ब यमुना में चमक रहा है। ग्वाल-बाल कहते हैं कि प्रत्येक स्थान पर चंद्रमा की आभा विद्यमान है और सुकोमल फूलों की सुगंध चारों ओर फैल रही है तथा मुरली की मधुर ध्वनि से क्रूर काल भी बँध गया है अर्थात् जो समय कभी भी बँधकर नहीं रह पाता अपितु निरन्तर चलता ही रहता है वह भी मुरली ध्वनि से आकृष्ट हो बँध सा गया है। ग्वाल-बाल कह रहे है कि सम्पूर्ण वातावरण रासोल्लास में निमग्न है और रास के ताल-स्वर पर समस्त भूमंडल भी आनन्दोन्मत्त हो घूमने लगा है तथा हम सब उस गिरधारी गोपाल की बलिहारी जाकर जय-जयकार पुकारते हैं।

अलंकार—अनुप्रास और अनुरुक्तिप्रकाश।

नारद पृष्ठ (७५-८१)

पृष्ठभूमि—पौराणिक पात्र देवर्षि नारद को द्वापर में सर्वथा नवीन रूप में प्रस्तुत किया गया है और कवि ने उनके आत्मोद्गारों में सुधारवादी दृष्टि-कोण की प्रधानता दी है तथा द्वापर के नारद जगत्कल्याण का ही उपदेश देते हैं।

हरिःओऽम्.....संघर्ष रहे। (पृष्ठ ७५)

संकेत—इन पंक्तियों में नारद ने जीवन में क्रांति को आवश्यक माना है।

शब्दार्थ—स्वांग = बनावटी वेश, तमाशा, नकल।

व्याख्या—नारद कहते हैं कि हमेशा हरिः ओऽम् उच्चारण करना ही मेरा नियम है और मैं तो यही मानता हूँ कि इसके अतिरिक्त अन्य कहीं भी शांति नहीं है या इसे यों भी कह सकते हैं कि इस मंत्र का उच्चारण ही सच्ची शांति स्थापित कर पाता है। नारद कह रहे हैं कि जीवन में क्रांति आवश्यक है और यदि क्रांति न हो तो जन्म लेना ही व्यर्थ है तथा क्रांति के उपरान्त तो शांति आप ही आप स्थापित हो जाएगी। वह कहते हैं कि शोक व हर्ष से पूर्ण यह संसार भगवान का एक नाटक ही है और जिस प्रकार भी हो हमारा अभिनय इस नाटक में सफल होना चाहिए तथा हमें उसी के लिए संघर्ष भी करना चाहिए। नारद के कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन में हमेशा संघर्ष होते रहते हैं अतः हमें संघर्षों

से भयभीत न होना चाहिए क्योंकि इन्हीं संघर्षों के उपरान्त शांति संभव है।

अलंकार—अनुप्रास और उत्प्रेक्षा।

वह तो·····मन की। (पृष्ठ ७६)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में भगवान के सर्वव्यापकत्व को स्वीकार कर यह स्पष्ट किया गया है कि जीवन क्या है?

व्याख्या—नारद कह रहे है कि भगवान का अस्तित्व तो साधारण से धूलिकण में भी पाया जाता है अर्थात् ईश्वर हर छोटी वस्तु से लेकर बड़ी से बड़ी वस्तु तक मे विद्यमान है परन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस संसार मे सूखे पत्ते की भाँति नीरस जीवन व्यतीत करना ही सही अर्थों में जीना नही कहलाता क्योंकि जीवन में गतिशीलता आवश्यक है और केवल गतिशीलता ही नहीं बल्कि उत्थान की तरंगें भी उसमे उठनी चाहिए। नारद के कहने का अभिप्राय यह है कि सत्-चित् आनन्द से रहित व्यक्ति का जीवन उस सूखे हुए पत्ते की भाँति है जो कालरूपी वायु द्वारा इधर-उधर भटकता फिरता है और इस अस्थिर जीवन को जीवन कहना युक्तिसंगत नही है क्योंकि जीवन वह है जिसमें न केवल जीवन-शक्ति हो अपितु मन में चेतना-रूपी तरंगें भी उठती हों अर्थात् मनुष्य अपने उत्थान के लिए भी प्रयास करता हो।

अलंकार—यमक और उपमा।

अपने प्रभु·····नव-नव में। (पृष्ठ ७६)

संकेत—इन पंक्तियों में नारद अपना आत्म-परिचय दे रहे है।

व्याख्या—नारद का कहना है कि मैं अपने प्रभु के सर्वदा समीप रहने वाला उनका सच्चा भक्त हूँ और मेरी विनोद-कुशलता प्रसिद्ध ही है अर्थात् मुझे विनोद करना बहुत ही अधिक प्रिय है तथा पुत्रों की मुझे कोई चिन्ता नही है और अपने पूर्वजों का मैं स्वयं नारद हूँ। उनके कहने का अर्थ यह है कि उन्हें संतान की कोई अभिलाषा नहीं है और नारद का शाब्दिक अर्थ प्रतिनिधि मानते हुए वह स्वयं को अपने पितरों का प्रतिनिधि कहते हैं। वह कहते हैं कि मेरे पिता ब्रह्मा यद्यपि वृक्ष हैं पर मुझे तो अक्षय यौवन प्राप्त है और साथ ही शिशु सुलभ चांचल्य

के कारण मैं सर्वदा नयी-नयी क्रीड़ाएँ करता हूँ तथा हमेशा नवीन रहता हूँ। यहाँ नवीन रहने से नारद का अभिप्राय नूतन रूप धारण करने से है।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्तिप्रकाश।

वादी-संवादी·····कड़ा। (पृष्ठ ७७)

संकेत—यहाँ नारद अपना आत्म-परिचय देते हुए यह स्पष्ट कर रहे हैं कि स्थायी शांति के लिए वह विवादों को उत्पन्न कर क्रांति को जन्म देना भी उचित समझते हैं।

व्याख्या—नारद कह रहे हैं कि यद्यपि वादी व संवादी स्वरों से संगीत में समानता रहती है पर मैं अपनी वीणा द्वारा वादी-संवादी स्वरों के विपरीत प्रतिवादी स्वरों को भी बजाता है। उनके कहने का अर्थ यह है कि मैं केवल वादी या संवादी लोगों का ही पक्ष नहीं लेता अपितु विरोध करने वाले प्रतिवादी लोगों का भी समर्थन करता हूँ और इस प्रकार आवश्यकतानुसार विप्लव व विद्रोह भी करवाता हूँ। नारद का कहना है कि जब तक विवाद न हो तब तक कुछ भी आनंद नहीं आता और उसे स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि भैरवी भी उसी समय आनंद देती है जब उसमें कई स्वरों का मेल हो। वह कहते हैं, मैं भैरवी में भी मृदुलता व मधुरता का समावेश करता हूँ अर्थात् विरोध की उत्पत्ति केवल विनोदवश करता हूँ।

अलंकार—अनुप्रास।

एक पुरुष··· रह जावे। (पृष्ठ ७७)

संकेत—इन पंक्तियों में नारद ने अपना समदर्शी दृष्टिकोण व्यक्त किया है।

व्याख्या—नारद कह रहे हैं कि केवल भगवान के अतिरिक्त मैंने सभी प्राणियों को अपने स्वभाव के वशीभूत देखा है और व्यक्ति का एक बार जैसा स्वभाव बन जाता है वह फिर उसी के अनुरूप कार्य करता है तथा अपने स्वभाव को बदल नहीं पाता। उदाहरणार्थ—चोर यदि चोरी करना छोड़ भी दे तो भी उसकी चोरी की आदत नहीं जाती और यदि वह चोरी नहीं करता तो भी लोगों का माल उधर-उधर करता ही है अर्थात् उसमें अपने स्वभाव का कुछ अंश

विद्यमान रहता है। नारद के कहने का अर्थ यह है कि सांसारिक प्राणी माया से दूर हटने का प्रयत्न करते हुए भी माया के वशीभूत ही रहते हैं। वह अपने स्वभाव का परिचय देते हुए कहते हैं कि मैं तो सबको समान रूप से शुभ आशीर्वाद ही देता हूँ और यदि चोर भी मेरे पास आकर प्रणाम करेगा तो मैं उसे शुभाशीष ही दूँगा क्योंकि मुझे यह पसन्द नहीं है कि धनी व्यक्ति अपने धन के घमंड में सोता ही रहे। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि धनी व्यक्ति में गर्व न होना चाहिए और यदि वह मेरे पास आकर आशीर्वाद प्राप्त कर ले तो फिर वह चोरी के समय सोता न रहेगा अपितु सचेत हो जाएगा।

आह्लादों.....लड़ कर ही। (पृष्ठ ७८)

संकेत—नारद का कहना है कि बाधाओं से लड़ने पर ही वास्तव में सच्ची विजय प्राप्त होती है।

व्याख्या—नारद कह रहे है कि जीवन में सुख-दुःख दोनों ही आते हैं अतः प्रसन्नता के साथ-साथ यदि हमें विवाद भी झेलना पड़े तो इसके लिए हमें चिंतित न होना चाहिए पर हाँ इतना अवश्य है कि हम इस बात के लिए सावधान रहें कि इस धरती में कहीं भी अवसाद अर्थात् निराशा व निष्क्रियता की रेखा मात्र न आ सके। नारद का कहना है कि वास्तव में विपत्तियाँ ही हमारी सच्ची कसौटी हैं और कठिनाइयों के अवसर पर ही हम अपना कौशल दिखला सकते हैं तथा इस संसार में जितने भी महान् विजेता हुए हैं वह अपनी बाधाओं से लड़कर ही अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल हो सके हैं।

टिप्पणी—इस पंक्तियों में कवि ने नारद के माध्यम से यह स्पष्ट करना चाहा है कि "विपत्ति में ही पुरुषत्व की परीक्षा होती है।"

अलंकार—रूपक और अनुप्रास।

जिसमें पापी.....अनदेखा कैसे ? (पृष्ठ ७८)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में नारद अपने कार्यों का परिचय दे रहे हैं।

शब्दार्थ—परित्राण = छुटकारा, मुक्ति, रक्षा।

व्याख्या—नारद का कहना है कि मैं अपनी शक्ति व सामर्थ्य के अनुसार शीघ्र ही कुछ ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देता हूँ कि पापियों को पाप करने की

और भी अधिक इच्छा होती है तथा उनके पापों का बड़ा शीघ्र ही भर जाता है और उनका—पापियों का—नाश होता है। नारद कहते हैं कि इस प्रकार पापी की भी मुक्ति हो जाती है और पापियों से रहित हो जाने पर इस संसार का कल्याण ही होता है। नारद कहते हैं कि यद्यपि मेरे हृदय में दया भी है पर पृथ्वी को पापों के भार से रहित बनाने के लिए मैं सब कुछ देखते हुए भी अन-देखा कर देता हूँ अर्थात् मैं पापियों पर दया नहीं करता।

अलंकार—अनुप्रास।

बिगड़े·····असाध्य हुआ। (पृष्ठ ७६)

संकेत—नारद यहाँ यह स्पष्ट कह रहे हैं कि बिगड़े—पथभ्रष्ट—व्यक्तियों का सुधार करना ही उनका लक्ष्य रहा है।

शब्दार्थ – तूर्ण = तुरन्त, शीघ्र।

व्याख्या—नारद कहते हैं कि पापियों का सुधार करना ही मेरा कार्य है और मैं इस कार्य से बढ़कर उत्तम कार्य अन्य कोई नहीं मानता तथा बाल्मीकि को सत्पथ पर लाने का श्रेय भी मुझे ही प्राप्त है। नारद का कहना है कि मैं उसे ही उपदेश देता हूँ जो कि उसके उपयुक्त हो और जो विनाश-पथ पर पूर्णतः चल चुका है अर्थात् जिसका विनाश शीघ्र ही सभव है उसे उपदेश देना उचित नहीं है क्योंकि जिस रोगी का उपचार असंभव हो और जिसके ठीक होने की तनिक भी आशा न हो उसके लिए मृत्यु ही उपयुक्त होती है।

टिप्पणी—कहा जाता है कि महर्षि बाल्मीकि पहले बहुत बड़े डाकू थे और लूटमार कर ही अपने परिवार का पालन-पोषण करते थे परन्तु नारद के उपदेश द्वारा उन्हें सच्चा ज्ञान प्राप्त हुआ और उन्हीं से प्रेरणा पाकर उन्होंने रामायण की भी रचना की।

अर, आग·····को भी। (पृष्ठ ७६)

संकेत—इन पंक्तियों में क्रांति की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है।

शब्दार्थ—झाड़ = बर्तन। बाडी = फुलवारी; वाटिका।

व्याख्या—नारद का कहना है कि समाज में चिर-शांति व कल्याण की स्थापना के लिए मुझे सब कुछ करना पड़ता है अतः कभी-कभी जब व्यर्थ की

सामग्री एकत्र हो जाती है तो मुझे उसके विनाश-हेतु विद्रोह, उपद्रव और क्रांति कसने की जरूरत भी पड़ती है जिससे कि धरती में कूड़ा-कर्कट एकत्र न रहे। नारद के कहने का अर्थ यह है कि समाज में जब पापियों के अत्याचार फैलते हैं तो उनकी समाप्ति के लिए मुझे क्रांतिरूपी ज्वाला भी प्रज्वलित करनी पड़ती है। नारद कह रहे हैं कि मैं आग ही नहीं लगाता अपितु उस आग को बुझाने के लिए स्वयं पानी लेने दौड़ता हूँ जिससे कि कहीं वह कूड़ा-कर्कट जलाते-जलाते सम्पूर्ण वाटिका को ही न जला दे। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि वह इस संसार की व्यर्थ की सामग्री में आग अवश्य लगाते हैं पर उपयोगी सामग्री की रक्षा भी करते हैं तथा क्रांति को उत्पन्न कर स्वयं शांति की स्थापना का भी प्रयास करते हैं।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्तिप्रकाश।

पानी है·····मींचे। (पृष्ठ ८०)

संकेत—नारद ने यहाँ यह स्पष्ट करना चाहा है कि कारण होने पर उसके परिणामस्वरूप कार्य अवश्य होगा।

व्याख्या—नारद कह रहे हैं कि यदि आकाश में बादल घिर आए हैं तो उनसे वर्षा अवश्य होगी और इसी प्रकार आग का काम भी प्रज्वलित होना ही है तथा पवन भी अवश्य शीतलता का प्रसार करेगी और ज्योति प्रकाश भी फैलायेगी। इसका अर्थ यह है कि जिस वस्तु का जो भी धर्म है वह उसमें अवश्य रहेगा और पानी, आग, वायु व ज्योति परस्पर एक दूसरे के प्रबल विरोधी होते हुए भी संसार के लिए उपयोगी होने के कारण आवश्यक कहे जाते हैं। नारद का कहना है कि इस सीमित संसार में इन सबका पारस्परिक द्वन्द्व चलता ही रहता है और सभी अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति करना चाहते हैं पर मैं तो स्वच्छंदतापूर्वक जहाँ भी इच्छा होती है जाने के लिए स्वतंत्र हूँ तथा मैं इस संसार में आँखें बन्द कर चलना उचित नहीं समझता अपितु जहाँ भी बुराई हो उसे देख उसके सुधार का प्रयास करना चाहता हूँ।

अलंकार—अनुप्रास।

देख रहा·····अहो। (पृष्ठ ८०)

संकेत—नारद ने इन पंक्तियों में व्यावहारिक सुधारों का महत्व स्वीकार किया है।

व्याख्या—नारद कहते हैं कि मैं समय की गति को भलीभाँति समझता हूँ अतः मुझे उसमें फंसना पसन्द नहीं है और अत्याचारों से व्यथित इस संसार को देखकर मेरा अंतःकरण तो मन ही मन रोता है पर मैं बाहर से प्रसन्न रहकर अपने आपको थोड़ी बहुत सांत्वना दे देता हूं। नारद का कहना है कि वह व्यक्ति बिलकुल लज्जाहीन है जिसके हँसने में रुदन न हो क्योंकि जीवन में हास—आनन्द—ही आवश्यक है और उस आनन्द से ही परिहास-रूपी पुष्प विकसित होता है तथा बिना उपहास की धूलि के परिहास-रूपी फूल का भी कोई महत्व नहीं है अर्थात् हमें इस संसार में हास-परिहास के साथ-साथ उपहास व निन्दा सहने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

जीवन खेल·····चला। (पृष्ठ ८१)

संकेत—यहाँ नारद ने जीवन को एक प्रकार का खेल माना है।

व्याख्या—नारद कह रहे हैं कि यह मानव-जीवन एक प्रकार का खेल ही है और इसे खेल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं माना जा सकता पर हमें यहाँ यह भी न भूलना चाहिए कि खेल में भी समानता का होना आवश्यक है अर्थात् किसी भी खेल को अकेले नहीं खेला जा सकता और यदि एक ही व्यक्ति को बार-बार दाँव देना पड़े तो वह खेल अच्छा नहीं कहला सकता क्योंकि इससे तो स्वयं की ही हार होगी। नारद कहते हैं कि इस जगत् के सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ी अर्थात् ईश्वर तू सावधान हो जा क्योंकि तुझे बिना लक्ष्य तक पहुंचाये नहीं मान सकता अर्थात् वह ईश्वर को पापी कंस के विनाश हेतु प्रेरित करना चाहते हैं।

अलंकार—रूपक।

देवि ! देवकी·····फूला-फूला। (पृष्ठ ८१)

संकेत—नारद यहाँ देवकी को सम्बोधित कर कहते हैं कि उन्हें पुनः संसार का कष्ट दूर करने के लिए एक बार प्रसव पीड़ा सहनी होगी और अब वह कंस के पास जा रहे हैं।

व्याख्या—नारद देवकी को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि हे दवि ! अब तुम्हें एक बार पुनः संसार के लिए कष्ट सहना होगा और प्रसव पीड़ा का कष्ट उठाना पड़ेगा तथा तुम पुनः एक बार कंस के इस कारागार को शिशु-रुदन से भर दो। वह कहते हैं कि तुम्हारा बालक कृष्ण तो मुरली बजाने और ब्रजबालाओं के साथ विभिन्न लीलाएं करने में इस प्रकार व्यस्त है कि अपने कर्तव्य को हो भूल चुका है अर्थात् कृष्ण को यह ध्यान नही रहा कि उन्हें कंस का नाश करना है। नारद कह रहे है कि देवि देवकी ! तुम मुझे क्षमा करना क्योंकि मैं प्रसन्नतापूर्वक कंस के पास जाकर कुछ ऐसी भूमिका रचना चाहता हूँ कि वह स्वयं अपना विनाश करने के लिए कृष्ण को बुलवाये।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्तिप्रकाश।

देवकी (पृष्ठ ८२-९८)

पृष्ठभूमि—देवकी कृष्ण की माता, कंस की बहन और वसुदेव की पत्नी है। प्रस्तुत खड में कवि ने कंस के कारागृह में बंद देवकी के आत्मोद्गारों का वर्णन किया है और इन उद्गारों मे देवकी कंस की स्वेच्छानुसार का उल्लेख करते हुए सम्पूर्ण नारी जाति के कष्टों का वर्णन करती है।

आधी रात ... अन्तर्यामी। (पृष्ठ ८२)

संकेत—इन पंक्तियो में देवकी कंस से अपनी व्यथा प्रकट करती है।

व्याख्या—देवकी अपने पति वसुदेव को सम्बोधित कर कहती है कि हम दोनों इस अँधेरे कारागृह में बंदी हैं और जब कि यहाँ दिन में भी अर्द्धरात्रि की भाँति अंधकार रहता है तब रात की भयंकरता का तो कहना ही क्या है ? उसका कहना है कि समझ में नही आता कि हमारे दिन कब फिरेंगे अर्थात् कब इन दुर्दिनों की समाप्ति होगी और अच्छे दिन आयेंगे। वह कह रही है कि हे स्वामी ! तुम इस अनिश्चित् परिस्थिति मे भी निश्चिन्त होकर क्यों सो रहे हो और क्या तुम मेरे हृदय की पीड़ा को नहीं समझते जो इस प्रकार चिन्ता-रहित हो सो रहे हो ? उसका कहना है कि मेरे मन की पीड़ा तो केवल अन्तर्यामी भगवान ही जानते हैं।

अलंकार—अनुप्रास ।

तब भी ..... क्यों आती ? (पृष्ठ ८३)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में देवकी अपनी हार्दिक व्यथा का वर्णन कर रही है ।

व्याख्या—देवकी अपने पति से कहती है कि इस कारागार में तो प्रत्येक पल भी युग के समान जान पड़ता है लेकिन तो भी समय बीतता ही जा रहा है और हमें इस बदीगृह में ही जीवन बिताना पड़ रहा है । वह कह रही है कि हमारे लिए मरना भी कठिन है और चाहने से मौत भी नहीं मिलती क्योंकि यदि हमारी मृत्यु हो जाती तो इस जीवित रहने से अधिक सुख हमें मिलता । देवकी कह रही है कि हे नाथ ! यदि कंस के द्वारा मैं उसी समय मार दी जाती जब कि विवाह के बाद भाई कंस मुझे आपके साथ विदा कर रहा था और आकाशवाणी से मेरे पुत्र के द्वारा अपने संहार की बात सुन अपनी तलवार से मेरा वध करना चाहता था पर आपने—वसुदेव ने—रोक दिया था तो आपको इस प्रकार बंदीगृह में पड़े रहकर कष्ट न सहना पड़ता ।

टिप्पणी—इन पंक्तियों में देवकी आदर्श भारतीय नारी की भाँति यह विचार प्रकट कर रही है कि उसके कारण ही पति को दुःख उठाना पड़ रहा है ।

अलंकार—वीप्सा और अनुप्रास ।

दासी के ..... बन्दी । (पृष्ठ ८३)

संकेत—देवकी को अपने कारण पति को बंदीगृह में देख पीड़ा हो रही है ।

व्याख्या—देवकी अपने पति से कह रही है कि मेरे राजा ! मुझे दासी के कारण ही तुम्हें इतने कष्ट सहने पड़ रहे हैं और इस अंधकारयुक्त गुफा के समान कारागृह में रहना पड़ रहा है लेकिन इस विश्वास के बल पर कि कभी न कभी अपने दिन अवश्य फिरेंगे तुम इस कारागार में भी आनन्दित हो जबकि तुम्हें राजविद्रोह के रूप में बंदी किया गया है ।

अलंकार—उपमा ।

बंदी जो ..... वही है । (पृष्ठ ८४)

संकेत—देवकी अपने पति की दयनीय दशा का वर्णन कर रही है।

व्याख्या—देवकी अपने पति से कहती है कि इस बंदीगृह में तुम्हारी दशा अत्यंत दयनीय है और तुम जीवित रहकर भी जीवन से वंचित हो तथा तुम्हारा धन-जन कंस द्वारा अपहरण किया जा चुका है और तुम्हारे शरीर पर भी तुम्हारा अधिकार नहीं है। इसका अर्थ यह कि कस ने देवकी के पति को राज्य व स्वजनों से पृथक् कर बंदीगृह मे डाल रक्खा है। देवकी अपने पति से कह रही है कि कैदी को दशा मे भी तुम्हारे अंतरतम में अग्नि की भाँति चेतना जाग्रत हो रही है लेकिन तुम परिस्थितियो के कारण जड़ीभूत लकड़ी की भाँति कारागार में जकड़े पड़े हो।

अलंकार—उपमा और विरोधाभास।

उसका घर··· ··· 'यह कारा। (पृष्ठ ८४)

संकेत—इन पंक्तियो में देवकी ने अपने पति की दयनीय दशा का चित्रण किया है।

व्याख्या—देवकी कह रही है कि वह अपने पति के साथ अंधकारपूर्ण कारागार में बंद और इस बंदीगृह में यदि कभी वायु प्रवेश भी करती है तो वह पत्थर की दीवालों से टकराकर वापिस लौट जाती है और इस प्रकार बन्दी को स्वयं अपनी श्वास ही मिलती है अर्थात् शुद्ध हवा भी नहीं मिल पाती लेकिन इतना होते हुए भी न जाने क्यों क़ैदी का मन चारों ओर मँडराने पर भी वह उसी प्रकार करागार की ओर लौटता है जैसा कि तपस्वी का मन चाहे कहीं भी भटके पर अत में अपनी कुटी की ओर ही लौटता है।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्ति प्रकाश।

सूर्य-चन्द्र····· ·····कह पाते। (पृष्ठ ८५)

संकेत—देवकी यहाँ बदी दशा का स्वाभाविक चित्रण कर रही है।

व्याख्या—देवकी कहती है कि कारागार में बंदी को सूर्य चंद्र की झलक मात्र ही देखने को मिलती है अर्थात् उसे उस कोठरी से कही भी बाहर नहीं जाने दिया जाता और इस प्रकार मेरे पति सूर्य-चन्द्र के दर्शन भी नही कर पाते तथा शत्रु कंस ने उन्हें झूठ-मूठ का दोष लगाकर जेल में बंद कर रक्खा है।

वह कह रही है कि बंदी दशा में कंस पर भय और रोष दोनों ही एक साथ उत्पन्न हुए हैं और मन में यही भावना उत्पन्न होती है कि या तो बंदी करने वाले कंस को ही मिटा दिया जाय या फिर स्वयं प्राण त्याग दिये जायँ।

देवकी कहती है कि मेरे पति शत्रु को मार डालने के लिए स्वयं मर मिटने को प्रस्तुत हैं परन्तु वह कुछ भी करने में असमर्थ से हैं और धीरे-धीरे मृत्यु की ओर बढ़ रहे हैं तथा उनका प्रत्येक अंग मृत्यु से युद्ध कर रहा है। इसका अर्थ यह है कि बंदी दशा में वसुदेव को अत्यन्त पीड़ा है और वह मृत्यु के करीब पहुँच रहे हैं। वह कह रही है कि उनके—उसके पति के—सभी सम्बन्धी भी शत्रु कंस द्वारा अत्याचार से पीड़ित हैं और इस प्रकार वह—उसके पति—सबकी सुनते हुए स्वयं कभी कुछ नही कह पाते।

अलंकार—अनुप्रास और पुनरुक्तिप्रकाश।

आँखें और.....वह लहरी। (पृष्ठ ८६)

संकेत—इन पंक्तियो में बंदी-जीवन की असहाय अवस्था का मर्मस्पर्शी कारुणिक चित्रण किया गया है।

शब्दार्थ—तड़ित = बिजली। निगड़ = बेड़ी, जंजीर। परिखा = खाई, खंदक।

व्याख्या—अपने पति की दयनीय दशा का वर्णन करते हुए देवकी कह रही है कि बदी-जीवन में वह आँखें होते हुए भी देख नही सकते, कान रहते हुए भी सुन नहीं सकते और मुँह मे जिह्वा होते हुए भी बोल नहीं पाते बल्कि मन ही मन गुन-गुन कर सोचते रहते हैं। उसके कहने का अर्थ यह है कि बंदी स्वतंत्रतापूर्वक कुछ देख-सुन और कह नही पाता तथा वह न केवल अपनी जाति व श्रेणी से पृथक् कर दिया जाता है बल्कि हिरण की भाँति जाल में फंसा हुआ होता है जिससे कि वह तड़प भी न सके, भले ही उसके हृदय मे प्रतिकार-रूपी बिजली की ज्वाला भरी हुई हो। इसका अभिप्राय यह है कि देवकी के पति वसुदेव अपने स्वजनों से दूर क्रूर कंस के जाल में फँसे हुए हैं और वह अपनी तड़पन भी नहीं व्यक्त कर पाते।

देवकी पुनः कहती है कि बंदी की मुक्ति का मार्ग भी सहज नहीं होता और कोई भी स्थल ऐसा नहीं है जहाँ वह स्वतन्त्रतापूर्वक जा सके क्योंकि उसकी श्वास हृदय से, हृदय से और तन बेड़ियों से जकड़ा होता है तथा वह उस कमरे में बंद है जिसके सामने तलवार लिए पहरेदार घूमता रहता है। इतना ही नहीं कारागार का ऊँचा-सा परकोटा और गहरी खाई भी उसके मार्ग की बाधाएँ हैं परन्तु इन सब बंधनों के होते हुए भी यदि बंदी का जीवन तरंगायित हो अर्थात् वह बाहर जाने के लिए उद्यत हो तो जा भी सकता है। इसका अर्थ यह है कि अनेक बंधनों के होते हुए भी हमारा जीवन मुक्त हो सकता है और हमें कोई नहीं बाँध सकता।

टिप्पणी - एक टीकाकार ने इस पद्यांश की अंतिम पंक्तियों से यह अभिप्राय ग्रहण किया है कि देवकी का विचार है कि 'कुछ भी हो मेरा मौजी लाल कंस को नष्ट करने के लिए इन बंधनों से निकल ही जायगा' लेकिन यह अर्थ युक्तिसंगत नहीं है।

अलंकार—उपमा, यमक और अनुप्रास।

जब पुकार.....तेरा राज्य। (पृष्ठ ८७)

संकेत—इन पंक्तियों में राजा कंस की स्वेच्छाचारिता पर देवकी अपना क्षोभ व्यक्त कर रही है।

व्याख्या—देवकी कहती है कि इस सृष्टि में एक अदृश्य शक्ति भी विद्यमान है और उस अदृश्य शक्ति पर किसी का भी वश नहीं है तथा जब वह अदृश्य शक्ति अर्थात् भगवान चाहेंगे तो बंदी-जीवन से मुक्ति भी सहज ही हो जाएगी और तब क्रूर राजा क्षण भर भी उसे—बंदी को—रोक न सकेगा। इस प्रकार भगवान की शक्ति पर विश्वास प्रकट करते हुए देवकी उन्हीं भगवान को सम्बोधित कर कहती है कि हे प्रभु! क्या राजा इसी कंस की भाँति क्रूर-अत्याचारी ही होता है और क्या इसी प्रकार के राजा तुम्हारे—ईश्वर के—प्रतिनिधि कहे जाते हैं? उसका कहना है कि यदि राजा इसी प्रकार का होता है तो उसे धिक्कार है और यदि इस राजा व प्रजा दोनी को बनाने वाले आप ही हैं तो आपको भी धिक्कार है क्योंकि आप ही ने अपने प्रतिनिधि राजा को

स्वेच्छाचारिता करने दी तथा प्रजा को भी इतना शक्ति-सम्पन्न नहीं बनाया कि वह राजा का विरोध कर पाती।

देवकी कंस की क्रूरता व स्वेच्छाचारिता का उल्लेख करते हुए कह रही है कि हे भगवान ! तुम्हीं देखो कि तुम्हारा प्रतिनिधि राजा कितना अन्यायी, अविचारी, कठोर व पाशविकता-युक्त है और उसके अत्याचारों से पीडित हो हम सब हाहाकार ही कर पाते हैं लेकिन वह तो हमारे हाहाकार को देखकर भी प्रसन्नता का अनुभव करता है।

अन्य विशेषताएँ—ध्वन्यात्मकता, सुष्ठ शब्द योजना, पदमैत्री आदि गुणों से युक्त इन पंक्तियों में देवकी के अन्तर्द्वन्द्व व क्षोभ की मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना है और अत्याचारी राजा का वास्तविक चित्रण किया गया है।

अलंकार—अनुप्रास, वीप्सा और पुनरुक्तिप्रकाश।

बोल सके.....भौंचक हो। (पृष्ठ ८८)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में देवी भगवान से प्रार्थना कर रही है।

शब्दार्थ—नृशंस = अत्याचारी, क्रूर। दुरित = पाप।

व्याख्या—देवकी भगवान से प्रार्थना करते हुए कहती है कि यदि तुम बोल सकते हो तो मुझसे यह बतलाओ कि क्या तुमने अपना प्रतिनिधि बना कर इसी क्रूर अत्याचारी राजा को अपनी सत्ता सौंपी है और यदि तुम्हें सुनाई पड़ता हो तो तुम यह भी सुन लो कि इस अत्याचारी क्रूर कंस के पापों को दुहाई चारों ओर फिर रही है अर्थात् चारों ओर उसके पापों की चर्चा है। देवकी के कहने का अर्थ यह है कि भगवान भी शायद कंस के अत्याचारों की ओर से उदासीन है और इसीलिए वह चुपचाप बैठा हुआ उसके अत्याचारों को होने दे रहा है। वह भगवान से कहती है कि तुम्हारी इस निरीह निर्गुणता को धिक्कार है कि तुम कंस के विरुद्ध कोई सक्रिय कदम नहीं उठाते और तुम्हारी क्रोध की ज्वाला धधक नहीं उठतीं। देवकी कह रही है कि हे भगवान ! तुम साकार रूप में प्रत्यक्ष आ जाओ जिससे कि वह मतवाला कंस जो कि अभी तक शासन के नशे में डूबा होने से अंधा था तुम्हें देख भौंचक्का रह जाय।

अलंकार अनुप्रास।

अरी भूमि.....मेरे ! (पृष्ठ ८६)

संकेत—इन पंक्तियों में देवकी धरती माता से नम्र निवेदन कर अपने छः बच्चों के वध की घटना का उल्लेख कर रही है।

व्याख्या—देवकी कह रही है कि हे धरती माता ! आज तुम कहाँ चली गई हो जो मुझ दुःखिनी को अपने उदर में आश्रय देने के लिए फट नहीं जाती क्योंकि मुझे अपने दुःख में सांत्वना देने वाला कोई भी नहीं दीख पड़ता। देवकी धरती से कहती है कि तुम चुप न रहो बल्कि मुझे यह बतलाओ कि मैं क्या करूँ क्योंकि मुझे एक नहीं बल्कि छः बच्चों का वियोग सहना पड़ा है और मेरे उन बच्चों के पैदा होते ही इस क्रूर राजा कंस ने उन्हें मार डाला। यह कह रही है कि हे भगवान राम ! तुम्हारा वह आदर्श कहाँ चला गया जो तुम्हारे देखते हुए मेरे छः बच्चे इस प्रकार मार गए।

बच्चे मेरे.....अंकुरित पूरे। (पृष्ठ ८६)

संकेत—इन पंक्तियों में देवकी कंस द्वारा मारे गए अपने नवजात शिशुओं की स्मृति में अपने करुणापूर्ण उद्गार प्रकट कर रही है।

व्याख्या—देवकी भगवान से कहती है कि मैं किस प्रकार तुम्हारी जय-जयकार करूँ क्योंकि तुम्हारे देखते हुए तुम्हारे ही प्रतिनिधि राजा कंस ने मेरे छः नवजात शिशुओं को जान से मार डाला और मेरा मन तो बार-बार यही रुदन करता हुआ चिल्लाता है कि मुझे एक-दो नहीं अपितु छै-छै बच्चों की मृत्यु देखनी पड़ी है और वह भी स्वाभाविक मृत्यु नहीं हुई अपितु क्रूर कंस द्वारा उन कोमल कुसुमों के समान बच्चों को मसल दिया गया। देवकी कह रही है कि मेरे नवजात शिशु मक्खन के मृदुल गोले की भाँति मांसपिंड मात्र थे और उन्हें इस दुष्ट कंस ने निगल अर्थात् मार डाला।

देवकी पुनः कहती है कि मेरे इन छः बच्चों का तो अभी ठीक से शरीर भी नहीं बन पाया था और वह तो केवल निरीह शिशु मात्र थे तथा उनमें श्वास मात्र ही आती जाती थी। देवकी का कहना है कि मेरे बच्चों का शरीर सुन्दर था और वह फलदाता मंत्र की भाँति शोभायमान थे तथा सुन्दर रूप-रंग

के साथ-साथ उनका जीवन अत्यन्त पवित्र और शुद्ध होने के अतिरिक्त उनका हृदय कंपित था व अंग भी पूर्ण रूप से विकसित थे अर्थात् मृदुल मांसपिंड जान पड़ने वाले मेरे शिशुओं के प्रायः सभी अंग विकसित थे।

अन्य विशेषताएँ—इन पंक्तियों में कवि ने देवकी के अन्तर्द्वन्द्व का मर्म-स्पर्शी चित्रण करते हुए करुण रस की स्वाभाविक अभिव्यंजना की है।

अलंकार—उपमा, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा और मालोपमा।

दृष्टि डाल····· मेरे बच्चे। (पृष्ठ ६०)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश मे देवकी कंस द्वारा मारे गये अपने कोमल बच्चों की स्मृति में अपने उद्‌गार व्यक्त कर रही है।

व्याख्या—देवकी कह रही है कि कंस द्वारा मारे गए मेरे छहों बच्चे न तो अपने माता-पिता को ही देख सके और न अपने घातक को ही देख पाये अर्थात् उन बच्चों ने अभी ठीक से आँखें भी नहीं खोली थीं कि कंस ने उनका वध कर दिया तथा वह अपनी एक क्षीण झलक मात्र दिखाकर चले गये पर उनकी इस संक्षिप्त झाँकी में ही प्रेम और वैर की सीमा झलकी पड़ती थी अर्थात् उनकी मृत्यु से मेरा प्रेम निष्फल ही जान पड़ा क्योंकि मैं उनकी रक्षा न कर सकी और वैरी कंस का अवश्य ही मनचाहा लाभ हुआ क्योंकि उसने उनका वध कर अपनी इच्छा पूरी कर ली।

देवकी कहती है कि मैं अपने बच्चों की रक्षा न कर सकी और कंस ने उन नवजात शिशुओं का वध कर दिया पर मैं यह न जान सकी कि आखिर मेरे बच्चों का अपराध ही क्या था जो कंस ने उनका निर्दयतापूर्वक वध किया। वह कह रही है कि यदि कोई झूठ-सच कुछ भी बतला दे कि मेरे पुत्रों का यह अपराध था तो मैं मान लूं कि उनकी हत्या उचित थी परन्तु सच तो यह है कि मेरे बच्चे निर्दोष थे और उनका बस केवल इतना ही अपराध था कि वे मेरे बच्चे थे। देवकी के कथन का अभिप्राय है कि चूँकि कंस को आकाशवाणी द्वारा ज्ञात हो चुका था कि देवकी की कोख से उत्पन्न बालक द्वारा उसका संहार होगा अतः उसने उन निर्दोष बच्चों का वध किया।

टिप्पणी—इन पंक्तियों में मातृहृदय की करुण वेदना अंकित हुई है।

मेरे बच्चे·····सुख-दुःख मे। (पृष्ठ ९१)

संकेत—अपने छः नवजात शिशुओं की मृत्यु मे दुःखी देवकी अपने करुण उद्गार व्यक्त कर रही है।

व्याख्या—देवकी कह रही है कि मेरे बच्चे इस संसार में जिस प्रकार आये थे उसी प्रकार चले गये और मेरी समझ में नहीं आता कि जब उनकी मृत्यु ही इस प्रकार होनी थी तब वह इस संसार में आये ही क्यों ? वह कहती है कि मेरे बच्चों ने इस संसार का कुछ भी देखा-सुना नहीं और न वह अपने दुःख से कुछ कह ही सके तथा सांसारिक रहस्यों से सर्वथा अनभिज्ञ और तटस्थ से रह वह जैसे आये थे उसी प्रकार चले गये।

टिप्पणी—इन पंक्तियों में पुत्रों की स्मृति में विह्वल देवकी के उद्गारों की मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना हुई है।

हा भगवान····· निर्मोही। (पृष्ठ ९१)

संकेत—अपने छह नवजात शिशुओं का मृत्यु से दुखी देवकी भगवान को सम्बोधित कर अपने करुणापूर्ण उद्गार व्यक्त कर रही है।

व्याख्या—देवकी कह रही है कि हे भगवान ! अपने नवजात शिशुओ की मृत्यु से तो मेरी सम्पूर्ण प्रसव-पीड़ा ही व्यर्थ हो गई अर्थात् जिन पुत्रों के लिए मैंने प्रसव-वेदना सही वह पीड़ा ही व्यर्थ हो गई क्योंकि मेरे पुत्र तो पैदा होते ही मार डाले गये। वह कहती है कि अपने उन पुत्रों की स्मृति आते ही मैं धैर्य खो देती हूँ और मुझे अपना जीवन दूभर जान पड़ता है। चूँकि देवकी को छः नवजात शिशुओं की मृत्यु देखनी पड़ी थी अतः वह कहती है कि मेरा कलेजा छः टुकड़े होकर उड़ रहा है पर हाथ तो मेरे केवल दो ही हैं अतः मैं उन सभी को कैसे पकड़ सकती हूँ और इसलिए है ममता-मोह-दयाहीन भगवान ! अब तू ही बता कि मैं अपने दो हाथों से हृदय के किस टुकड़े को पकड़ूँ।

टिप्पणी—इन पंक्तियों में मातृहृदय की वेदना का स्वाभाविक चित्रण हुआ है।

मेरे बच्चे·····रहे है ! (पृष्ठ ९२)

संकेत—कंस द्वारा मारे गये अपने छः नवजात शिशुओं की मृत्यु से दुःखी देवकी अपने मर्मस्पर्शी उद्‌गार व्यक्त कर रही है ।

व्याख्या—देवकी का कहना है कि यदि यह कहा जाय कि मेरे निर्दोष बच्चे इस धरती के लिए भार-स्वरूप थे और दुष्ट हत्यारा कंस इस पृथ्वी का गौरव है तो फिर इस पृथ्वी की अपेक्षा नरक लाख गुना श्रेष्ठ है । वह कहती है कि मेरे अविकसित शिशुओं को कंस ने इस प्रकार नष्ट कर दिया जैसे कि कुछ लोग मीठे फलों को कच्चा ही खा जाते हैं और कौन कह सकता है कि मेरे बच्चे बड़े होने पर न जाने कितने महान् पुरुष बनते । देवकी के कहने का अभिप्राय यह है कि मेरे बच्चे फल की भाँति अत्यन्त मधुर थे और उनसे संसार की भलाई ही होती लेकिन अत्याचारी कस उन्हें कच्चा ही खा गया अर्थात् पैदा होते ही उसने उन्हें मार डाला ।

देवकी कह रही है कि मेरे बच्चे मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए बल्कि वह तो अभी तक यहीं मेरे पास ही हैं और वह भला मुझे छोड़कर जा भी कैसे सकते थे क्योंकि मैंने ही उन्हें जन्म दिया है । वस्तुतः इन पंक्तियों में देवकी की विक्षिप्त अवस्था का चित्रण हुआ है अतः वह अपने मृत शिशुओं को मरा हुआ नहीं समझती बल्कि उन्हें अपने समीप ही मानती है और यहाँ तक कहती है कि इस अधकारपूर्ण कारागार में मेरे बच्चों के नेत्र दीपक की भाँति चमकते हुए मुझे ही देख रहे हैं :

अब तो·····जगाओ ! (पृष्ठ ९३)

संकेत—पुत्रों की स्मृति में विह्वल देवकी की मनोव्यथा बढ़ती ही जाती है और वह विक्षिप्त-सी हो उठती है तथा अपनी इस दशा में इन उद्‌गारों को व्यक्त करती है ।

व्याख्या—विक्षिप्त देवकी यह समझती है कि उसके पुत्र मरे नहीं हैं अपितु जीवित ही हैं अतः वह अपने उन शिशुओं को सम्बोधित कर कहती है कि मेरे हीरे के समान मूल्यवान् बच्चों ! तुम तो अब बड़े हो गये होंगे और चूँकि तुम्हारे पिता सो रहे हैं अतः तुम धीरे-धीरे मेरे पास आओ तथा छः मुख वाले

कार्तिकेय की भाँति मुझको चारों ओर से घेर कर चूम लो और मैं स्वयं भी तुम्हारा चुम्बन लेना चाहती हूँ। देवकी अपने मृत शिशुओं को सम्बोधित कर कहती है कि हे मेरे पुत्रों ! मैं अभी तक विवश बंदिनी हूँ और उच्छृंखल कंस सुख-शैय्या पर लेटा आनन्द ले रहा है अतः तुम सब प्रेत बनकर उसे सताओ जिसमें कि वह सुखपूर्वक न सो सके।

टिप्पणी—कहा जाता है कि अकाल मृत्यु होने पर मुक्ति नहीं मिलती अपितु प्रेत योनि में भटकना पड़ता है अतः देवकी का अनुमान है कि उसके छहों नवजात शिशु भी प्रेत बने होंगे और इस प्रकार वह प्रेत रूप में कंस को सरलता-पूर्वक सता सकते है।

अरे·····मैंने। (पृष्ठ ६४)

व्याख्या—विक्षिप्त देवकी अपने मृत पुत्रों को सम्बोधित कर कहती है कि तुम कंस के पास न जाओ क्योंकि तुम अभी बहुत छोटे हो और कंस के विचार अब पहले से भी अधिक बुरे हो चुके है अर्थात् कंस अब पहले से भी अधिक अत्याचारी हो गया है। वह कह रही है कि मैं न जाने कैसी माता हूँ जो तुम्हें कंस के पास भेजकर दुबारा मरवाना चाहती हूँ और तुम्हें एक बार खोकर दुबारा फिर तुम्हें खो देने की सोचती हूँ।

यह काश·····रेखा। (पृष्ठ ६४)

संकेत—इन पंक्तियों में देवकी अपने पति से अपनी मर्मव्यथा अभिव्यक्त करती है।

व्याख्या—देवकी कह रही है कि मेरे स्वामी ! अब तुम निद्रा त्याग दो क्योंकि मैंने अभी-अभी एक अद्भुत स्वप्न में देखा है कि छः-मुखी प्रकाश की बुझी रेखा जाग्रत हो गई है और मेरे छहों मृत शिशु पुनः प्रकाश बनकर मेरे सामने जाग्रत हो रहे हैं तथा मैं अब तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि मैं इस कारागृह की सभी पार की यातनाओं, बंधनों व अंधकार को स्वीकार करूँगी और भूलकर कभी अपना दुःख व्यक्त न करूँगी।

चौंको मत·····बैठा। (पृष्ठ ६५)

संकेत—प्रस्तुत पद्यांश में देवकी अपने पति वसुदेव से आत्मोद्गार व्यक्त कर रही है।

व्याख्या—देवकी कहती है कि हे मेरे स्वामी ! तुम मेरी बातों को सुनकर चौंको नहीं और यह न समझो कि मैं पागल हो गई हूँ जो इस प्रकार की बातें कर रही हूँ क्योंकि मैं तुम्हें साफ-साफ बता देना चाहती हूँ कि मुझे सब कुछ याद है तथा मैं कुछ भी नहीं भूल पायी। वह कह रही है कि मैं न तो अपने बच्चों का जन्म ही भुला पाई हूँ और न उनकी मृत्यु ही भुला सकी पर मैं इतना तो कह ही सकती हूँ कि मर बच्चे तो मर कर परलोक चले गए लेकिन उनका हत्यारा कंस अब भी जीवित है। देवकी का कहना है कि हे प्रियतम् ! चलो मैं तुम्हें भी यह दिखा देना चाहती हूँ कि मेरे पुण्यवान् बालकों की तो मृत्यु हो गयी लेकिन उनका घातक कंस पापी अभी भी जीवित है।

अलंकार—सन्देह।

हाँ, हाँ, धर·····जब लौं। (पृष्ठ ९५)

संकेत—इन पंक्तियों में देवकी अपने पति से यह अभिलाषा प्रकट करती है कि उसकी इच्छा उस समय तक माता बनने की है कि जब तक उसका पुत्र कंस को हत्या न कर दे।

व्याख्या—देवकी अपने पति से कहती है कि हे मेरे भोगी ! तुम मुझे अपने आलिंगन-पाश में आबद्ध कर लो क्योंकि तुम योगी होते हुए भी संयोगी हो और निरंतर उद्योग में लगे रहते हो अतः मैं चाहती हूँ कि अपनी कोख से तब तक पुत्रों को जन्म देती रहूँ जब तक कि मेरी कोख से उत्पन्न कोई बालक कंस का विनाश न कर दे।

टिप्पणी—इन पंक्तियों में देवकी के करुणार्द्र वचनों में शृंगार की हल्की सी झाँकी दीख पड़ती है।

अलंकार—अनुप्रास।

अथवा नहीं·····टूटेगा। (पृष्ठ ९६)

व्याख्या—देवकी कह रही है कि मैं कंस व उसके राज्य का विनाश देखने

अन्य विशेषताएँ—देवकी के इन आत्मोद्गारों में बहु-जन-हिताय की भावना विद्यमान है और यह पद्यांश पद-मैत्री, ध्वन्यात्मकता व महाविरे-बंदिश की दृष्टि से भी उल्लेखनीय हैं।

अलङ्कार—अनुप्रास।

नाथ……चिर कारा। (पृष्ठ ९८)

संकेत—इन पंक्तियों में देवकी अपने पति वसुदेव ने कृष्ण के सम्बन्ध में सब कुछ सुनना चाहती है।

व्याख्या—देवकी अपने पति को सम्बोधित कर कहती है कि हे नाथ! अब तुम कृष्ण के सम्बन्ध में ही बातें करो और मैं तुम्हारी बातें मनोयोगपूर्वक सुनना चाहती हूँ क्योंकि यह तो निर्विवाद सत्य है कि कृष्ण ही हम लोगो को इस कारागार से मुक्ति दिलाकर हमारे भयंकर दुःखों को दूर करेगा। उसका कहना है कि मैं कंस के द्वारा इस बदीगृह से मुक्त होना अपना अपमान समझती हूँ और यदि मेर पुत्र मुझे इस कारागार से मुक्ति दिला सका तभी ठीक होगा अन्यथा में आजीवन इस कारागृह में पड़े रहना अच्छी समझूँगी।

मुद्रक—ए० के० कम्पोजिंग हाउस, प्रयाग